

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला



श्रीसागरनन्दीप्रणीतः

नाटकलक्षणरत्नकोशः

‘प्रभा’ हिन्दीव्याख्योपेतः

पुरोवाक्-प्रस्तावना-परिशिष्टादिभिश्च समलङ्कृतः

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्राध्यापक श्री बाबूलालशुक्लः शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्यः

स्नातकोत्तर संस्कृतविभागाध्यक्षः

घासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मन्दसौर (म० प्र०)



चौरवम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२८
मूल्य : २०-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)
फोन : ६३१४५

प्रधान वास्ता
चौखम्बा विद्यामवन
घोक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन : ६३८७६

THE

JAIKRISHNADAS-KRISHNADAS PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA

3



NĀṬAKALAKSHAṆA-RATNA-KOSHA

OF

SĀGARANANDIN

Critically Edited with a Prabhā Hindi Commentary.

Preface, Introduction, Appendices and Index

By

Prof. BĀBŪLĀL SHUKLA, SHĀSTRĪ

M. A., Sāhityāchārya

Head of the Post Graduate Sanskrit Department

Government Post Graduate College, Mandsaur. (M. P.)



THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1972

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office

Gopal Mandir Lane

P. O Chowkhamba, Post Box 8

Varanasi-1 (India)

1972

Phone : 63145

First Edition

1972

Price Rs 20-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Phone : 63076

आमुख

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के इतिहास में सागरनन्दी विरचित नाटकलक्षण-रत्नकोश का रूपरूप विषयक सिद्धान्तों के सक्षिप्त एवं सर्वाङ्गीण विवेचन के कारण अतिशय महत्त्व है। यह ग्रन्थ उत्तरकालीन नाट्य एवं साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थकारों का उपकारक तथा उपजीव्य रहा है। ऐसे ग्रन्थ के प्रकाशन तथा हिन्दी व्याख्यान की आवश्यकता अनेक वर्षों से अनुभव की जाती रही थी। इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत में एक संस्करण श्री ए० डिल्लन ने लन्दन से सम्पादित कर सन् १९३७ में प्रकाशित किया था। श्री डिल्लन को इस ग्रन्थ की सूचना तथा प्राप्ति फ्रान्स के सुप्रसिद्ध प्राध्यापक सिल्वी लेवी से हुई थी। सन् १९२२ में अपनी नेपालयात्रा के अवसर पर श्री लेवी को नाटकलक्षणरत्नकोश की ताडपत्र पर लिखित प्रति प्राप्त हुई जिसकी प्रतिलिपि वे अपने देश ले गये तथा सन् १९२३ के जर्नल एशियाटिक में प्रा० लेवी ने इस ग्रन्थ की प्राप्ति के विषय में एक सूचना प्रकाशित की। ताडपत्र पर लिखित ग्रन्थ चौदहवीं शती में की गयी प्रतिलिपि थी। श्री लेवी ने अपने लेख में इस ग्रन्थ के विवेचन के साथ यह भी सूचित किया कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय-विवरण 'दशरूपक' (धनञ्जय-दसमीं शती) की परम्परा में ग्रहीत नहीं है। इसके अतिरिक्त इन्होंने यह भी सूचना दी कि मिथुनाय अनिराज प्रणीत साहित्यदर्पण में 'रत्नकोश' से भी स्रोतग्रन्थ के रूप में विषय-विवरण लिये गये हैं। इन सभी चर्चाओं के परिणामस्वरूप संशोधक विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ पर आकृष्ट होने लगा। श्री लेवी ने इस ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि करवाकर उपयोगार्थ श्री ए० डिल्लन को प्रेषित की जिसके आधार पर श्री डिल्लन ने इस ग्रन्थ को सम्पादित कर लन्दन में प्रकाशित

करवाया । श्री डिल्लन के सम्पादन काल में ही इस ग्रन्थ में सम्प्राप्त मूलपाठ की अशुद्धियाँ अनुभव की गयीं किन्तु उसने इसकी पाण्डुलिपियों के अन्यत्र कहीं न प्राप्त होने आदि अनेक कारणों को बतलाकर व्यवस्थितरूप में इनके परिमार्जन का अधिक प्रयास न करते हुए यानत्रप्राप्य सामग्री के आधार पर इसे प्रस्तुत कर डाला । तभी से इस ग्रन्थ के निपट में अनेक कोणों से विचार आरम्भ हो गये थे । डिल्लन के सस्करण के उपरान्त ए० परिशुद्ध पाठवाले सस्करण की सानुवाद आवश्यकता अधिकारिण बढ़ने लगी । परिणामस्वरूप यह नाट्यलक्षणरत्नकोश का सम्पादित तथा प्रभा हिन्दी व्याख्या ए० टिप्पणी आदि के सहित यह सस्करण तैयार किया गया जिसमें श्री ए० डिल्लन के पाठों का परीक्षण कर व्यवस्थित एवं शुद्ध करते हुए उनकी व्याख्या हिन्दी भाषा में की गयी है । इसके अतिरिक्त अपेक्षित तत्वों को व्याख्यात्मक सक्षिप्त टिप्पणियों के द्वारा स्पष्ट किया गया है जिससे किसी अंश के अर्थगोचर में हिष्टता या अस्पष्टता न रहे । कुछ स्थलों पर उदाहरण पद्यों का शाब्दिक अनुवाद दिया गया है, कुछ का भाव स्वतन्त्र रूप से स्पष्ट करते हुए व्याख्यात्मक रूप रखा गया है और एक-दो पद्यों का पद्यात्मक अनुवाद भी लिखा गया है । व्याख्या को पूर्णतः सुगोचर एवं उदाहरणों के अनुवादों को भावाभिव्यञ्जक एवं सुस्पष्ट बनाने के उद्देश्य में ही ऐसा किया गया है ।

इस प्रकार प्रभाव्याख्या समन्वित 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' का यह सस्करण सुधीजन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है । इसमें एक अग्रप्राप्य ग्रन्थ की उपलब्धि तो होगी ही अनुवादाल्मक व्याख्यान तथा परिशुद्ध पाठ की सम्प्राप्ति भी सतोषकों एवं परिशीलनकर्त्ता सुधीजन को होगी । प्रस्तुत परिशुद्ध पाठों के अपने सस्करण में मुझे सफलता वहाँ तक मिली है इसका निर्णय विवेचक विद्वान् दोनों सस्करणों की तुलना में स्वयं ही कर सकेंगे । साहित्यशास्त्र के सतोषक विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे उन उन दोषों की ओर निर्देश करने की मुझ पर दृष्टावरी विमर्श भागी सस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके ।

इस ग्रन्थ के रचयिता सागरनन्दी तथा इनके ग्रन्थ के विषय में 'प्रस्तावना' में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है तथा प्रायः अग्निविविज्ञात तथ्यों को यथाप्रसंग इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में आवश्यक सामग्री के रूप में पाँच परिशिष्टों में नाट्यलक्षणरत्नकोश में उद्धृत ग्रन्थकारों की मूर्ची, नाट्यरचनाओं की अनुक्रमणिका, नाट्यरचनाओं के अङ्कों की अनुक्रमणिका, काव्यानुक्रमणिका तथा उदाहरणपद्यों की अनुक्रमणिका को जोड़ दिया गया है जिससे अभीतिजन को अवश्य लाभ होगा।

ग्रन्थ के मुद्रणशाल में मेरे स्वास्थ्य के विषयमें हो जाने के कारण अप्रत्याशित विलम्ब हुआ है। इसका दूरस्थ वाराणसी में मुद्रण भी एक और कारण था फिर भी परमेश्वर की कृपा से इसका निर्मित प्रकाशन हो गया वहीं समय बड़ी प्रसन्नता है। अपनी स्वास्थ्यजन्य विषमता से होने वाले विलम्ब तथा ग्रन्थ में आयी हुई त्रुटियों के लिये एकबार पुनः विद्वज्जन से क्षमाप्रार्थी हूँ।

मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशी, }
वि० सं० २०२८ }

सुधीजन कृपाकाक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र तथा तदुत्तरभाषी कोहल आदि अन्य आचार्यों के नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों की शृङ्खला में सागरनन्दी प्रणीत 'नाटक-लक्षणरत्नकोश' का भी क्रम आता है। नाट्यसिद्धान्तों को बिना किसी लम्बे विचार के प्रस्तुत करते हुए अनेक तुलनात्मक मतों के साथ संक्षेप में रख देना इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है, जिससे अल्पश्रम के द्वारा नाट्य शास्त्रीय तथ्यों का अवगम हो सके।

सागरनन्दी (व्यक्तित्व एवं स्थितिकाल)

ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों में दिये गये विवरण से नन्दी वंश में विद्यमान श्री सागर के द्वारा रत्नकोश नामक ग्रन्थ रचना करने का उल्लेख मिलता है। ये सागर किसी राजवंश में उत्पन्न थे। 'नन्दी' उपाधि से इनके मन्दवंशीय या जैन होने की भी आशङ्का होती है। 'नन्दिन्' शब्द के वशानुक्रमी प्रयोग के आधार पर कुछ अन्य विद्वान् इन्हें बौद्ध लेखक भी मानते हैं, इसका कारण वे सागर-मन्दी के ही उल्लेख को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए यह मानते हैं कि भिक्षु के नाम के आगे नन्दी शब्द का प्रयोग होता है। सागरनन्दी के इस उल्लेख को आधार मानने पर इनका बौद्ध लेखक होना भी सम्भव प्रतीत होता है परन्तु आरम्भ के मञ्जलाचरण पद्य में गौरीकान्त शिव की वन्दना इस मान्यता में थोड़ी बाधक है; जिसका समाधान यह कहकर दिया जाता है कि नाट्य-शास्त्र के आद्यप्रवर्तक देव भगवान् शिव हैं। अतः उनकी वन्दना सभी नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में एक कर्तव्य-भावना के रूप में रहने से जैन या बौद्ध लेखक ने भी वैसा ही अनुसरण कर दिया होगा। हमारे मत में ग्रन्थकार किसी राजवंश में उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय जाति का तथा जैन या बौद्ध में से अन्यतम था जिसने नाट्यशास्त्रीय परम्परा का ग्वायत अनुसरण करते हुए भगवान् शिव की नाट्यप्रवर्तक आदिदेव के रूप में वन्दना की है।

नाटकलक्षणरत्नकोश के अन्त साध्य तथा बहिःसाध्यों को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने से ग्रन्थकार का स्थितिकाल सरलता से जाना जा सकता है। इस क्रम में नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत ग्रन्थकारों को लिया जा सकता है। इस क्रम में सर्वप्रथम राजशेखर को हम रखते हैं जिनकी नाटिका विद्वशात्तभञ्जिका से उद्धरण लिये गये हैं, कर्पूरमञ्जरी का उल्लेख किया

गया है तथा नाट्यमीमांसा के विचारों को निर्दिष्ट किया गया है। साहित्यिक एवं ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर राजशेखर का स्थितिकाल ८८५ ई० से ८९५ ई० के मध्य नवीं शती के अन्तिम चरण में माना जाता है। अतएव स्पष्ट है कि सागरनन्दी का स्थितिकाल राजशेखर के परवर्ती है।

इसके अतिरिक्त नाटकलक्षणरत्नकोष में पद्यश्री विरचित नागरसर्वस्व से हावादि के लक्षण तथा उदाहरण भी आकलित किये गये हैं। पद्यश्री का स्थितिकाल नवीं शती का अन्तिम भाग तथा दसवीं शती का आरम्भ माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि सागरनन्दी नागरसर्वस्वकार से परवर्ती हैं।

यह इसकी पूर्वसोमा है। श्री ए० डिङ्गन आदि विद्वानों ने नाटकलक्षण-रत्नकोष में लिखित 'दूताङ्गद' शब्द से सुभट्टकविप्रणीत दूताङ्गद छाया नाटक को लेकर इसकी पूर्वसोमा १२४३ ई० के परचाव तक भारी है। इस शब्द में इतना ही कहा जा सकता है कि एक तो सुभट्ट कवि के दूताङ्गद से कोई उद्धरण न लेने के कारण यह दूताङ्गद ही सुभट्टकविप्रणीत नहीं माना जा सकता। दूसरे यदि सुभट्ट कविप्रणीत दूताङ्गद को ही प्रपकार में संकेतित किया होगा तो ग्रन्थ के रूपकादि लक्षणों के प्रसङ्ग में छाया नाटक का लक्षण अदृश्य मिलना चाहिए था। किन्तु वैसा कोई लक्षणों का उल्लेख न रहने से सागरनन्दी द्वारा उद्धृत 'दूताङ्गद' सुभट्ट कविप्रणीत न होकर किसी अन्य कवि की रचना होगी, जिसका स्वरूप अज्ञात है।

नाटकलक्षणरत्नकोष में प्रतिपादित नाट्यादि लक्षणों की समानता भोज तथा अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र टीका अभिनवभारती में छायास्वरूप में विद्यमान मानते हुए उनसे प्रभावग्रहण करने वाले सागरनन्दी इन दोनों के उत्तरभाषी थे ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। अब इसकी उत्तरसोमा में हम नाटकलक्षण-रत्नकोष से उद्धृत रचनों वाले ग्रन्थों को रखते हुए विचार करेंगे। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम अमरकोश के प्राचीन व्याख्याकार रायमुक्त आते हैं। इनका नाम बृहस्पति तथा उपनाम रायमुक्त था तथा ये बङ्गाल के निवासी थे। इनके पिता का नाम गोविन्द तथा पुत्रों का नाम विश्राम तथा राम था। रायमुक्त ने अमरकोश पर पदार्थचन्द्रिका व्याख्या लिखी जिसमें पूर्ववर्ती लगभग २७० ग्रन्थों से उद्धरण लिये गये थे। इसका रचनाकाल ई० सन् १४३१ या पन्द्रहवीं शती का जिसमें नाटकलक्षणरत्नकोष से उद्धरण लिया गया है। अतएव सागरनन्दी का स्थितिकाल ई० सन् १४३१ से पूर्वभाषी अवश्य था।

इसके अतिरिक्त अमरकोश की सुभूतिचन्द्र तथा सर्वानन्द प्रणीत व्याख्याओं में भी नाटकलक्षणरत्नकोष के उद्धरण भी विद्वानों ने खोज निकाले हैं। इनमें

सर्वानन्द की टीका का लेखनकाल शके १०८१ या ई० सन् ११५८-५९ है। अतएव सागरनन्दी का स्थितिकाल इससे भी पूर्वभावी अवश्य माना जाना चाहिए।

अमरकोष की सुप्रसिद्ध टीका सुधा मे—जिसके लेखक भानुजी दीक्षित थे—भी नाटकलक्षणरत्नकोश से उद्धरण लिये गये हैं किन्तु श्री भानुजी दीक्षित का स्थितिकाल १६३० ई० के आसपास रहने से अधिक उत्तरकालभाविता की धारण करता है। यद्यपि इस व्याख्या में नाटकलक्षणकोश के वर्तमान पाठ से थोड़ा अन्तर लिये हुए पाठ उद्धृत हैं फिर भी रायमुक्त की व्याख्या या फिर सीधे रत्नकोष की ही किसी प्रति से पाठ लेने की बात निराधार नहीं हो सकती।

भानुजी दीक्षित के पञ्चादभाषी विक्रमोर्वशीय के व्याख्याकार रङ्गनाथ दीक्षित ने सागरनन्दी तथा उनके ग्रन्थ नाटकलक्षणरत्नकोश का नामोल्लेख करते हुए अपनी व्याख्या में दस उद्धरण दिये हैं। रङ्गनाथ दीक्षित का स्थितिकाल भी सत्रहवीं शती का अन्तिम चरण तथा भानुजी दीक्षित के समीप माना जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण तथा अठारहवीं शती के आरम्भ तक 'नाटकलक्षणरत्नकोश' का एक प्रामाणिक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में आदर एवं प्रचनन विद्यमान था।

अनर्घराघव नाटक की रचयित्री उपाध्याय व्याख्या में नाटकलक्षणरत्नकोश से उद्धरण लिये गये हैं। रचयित्री 'उपाध्याय' की अनर्घराघव व्याख्या की एक हस्तलिखित प्रति का प्रतिलिपिकाल ई० स० १६१३ है (जो भट्टोजी दीक्षित के समय प्रतिलिपि की गई होगी)। अतएव रचयित्री उपाध्याय का स्थितिकाल सोलहवीं शती माना जा सकता है। इस प्रकार उत्तरकाल की अन्तिम कड़ी रङ्गनाथ प्रणीत विक्रमोर्वशीय व्याख्या ही है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सागरनन्दी को हम दसवीं शती में विद्यमान पद्यगी के उपरान्त तथा बारहवीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान अमरकोष के टीकाकार सर्वानन्द तथा सुभूतिचन्द्र से पूर्वकाल में रख सकते हैं। यदि नाटकलक्षणरत्नकोश के विषय तथा सौली आदि को ध्यान में रखकर देखें तो स्पष्ट है कि 'रत्नकोश' पर भोज तथा अभिनवगुप्तवाद की मान्यताओं की छाया देखी जा सकती है परन्तु इसका कारण तत्कालीन नाट्यशास्त्रीय विचार सरणि भी हो सकती है। जिसका प्रभाव भोज की रचना में तथा तत्पूर्वभावी धनञ्जय की रचनादि में स्पष्ट दृष्टिगत होता है। यह भी हो सकता है कि सागरनन्दी ने भोज या अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का अवलोकन ही न किया

हो । अतएव सागरनन्दी का स्थितिकाल ग्यारहवीं सती का अन्तिम चरण मानना उचित होगा (क्योंकि ५० या ७५ वर्ष इस ग्रन्थ की प्रसिद्ध होने में अवश्य लग गए होंगे जिसके बाद ही सर्वानन्द ने इसे आकरग्रन्थ मान कर इससे उद्धरण लिये थे) । कुछ विद्वान् उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में सागरनन्दी का स्थितिकाल १२५० ई० मानते हैं किन्तु एक तो सर्वानन्द के ही १२५० से पूर्वभावी होने से तथा दूसरे इसमें किसी विशेष इहसिद्धि के न रहने के कारण सागरनन्दी का स्थितिकाल ग्यारहवीं सती का उत्तरार्ध मानना अधिक साधार होगा ।

नाट्यलक्षणरत्नकोश (स्वरूप विवेचन)

यह ग्रन्थ अपने नाम तथा ग्रन्थप्रतिज्ञा के अनुरूप ही नाट्यसैदाह्य की नाट्यलक्षण के निरूपण के प्रसंग में ठीक तरह से निर्दिष्ट कर उल्लेख तुलनात्मक पद्धति से एक स्थान पर द्वातों हुए विभिन्न आचार्यों के माग्य अभिमत को बतलाने वाला नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है । ग्रन्थकार सागरनन्दी ने प्रथारम्भ तथा ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों में उपर्युक्त तथ्यों को बतलाते हुए स्वयं ही भरतमुनि के साथ नाट्यविद्या के अन्य आचार्यों के मतों को भी तुलना करते हुए प्रस्तुत करने की बात कही है । प्रथकार द्वारा भरतमुनि के मत की मुख्यरूप देते हुए प्रस्तुत करना ग्रन्थ की मौलिक रूप देने के लिये है, क्योंकि सभी माग्य-शास्त्रीय ग्रन्थ भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की उपजीव्य बनाकर ही अपना विशेष-विवेचन करते रहे हैं । इसी कारण सागरनन्दी के इस ग्रन्थ में भी नाट्यशास्त्र की कारिकाओं की या तो लक्षणनिर्द्धान प्रसंग में तथैव उद्धृत किया गया है या फिर नाट्यशास्त्र के पाठ से मिलता-जुलता लक्षण प्रस्तुत किया गया है और यही स्थिति नाट्यशास्त्रीय गद्यलक्षणों की भी है जहाँ इसी भावना का अनुसरण किया गया है ।

भरतमुनि के उत्तरकालीन आचार्यों में कोहल अग्रगण्य हैं । यद्यपि आचार्य अभिनवगुणपाद की तरह सागरनन्दी ने कोहल का नामोल्लेखपूर्वक ग्रन्थ उल्लेख नहीं किया है किन्तु विद्यमान लक्षणों के आधार एवं सिद्धान्तों को देखने पर स्पष्ट हो जाएगा कि सागरनन्दी ने कोहल द्वारा प्रतिपादित तथ्यों की विस्तार में अपने ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है । हमें आचार्य अभिनवगुणपाद द्वारा निर्दिष्ट नाट्यशास्त्रीय विवरणों में यह भी विदित है कि नाटिका, सट्टक आदि अनिरिक्त रूपक प्रभेदों के लक्षण कोहलआचार्य द्वारा ही प्रतिपादित हैं । इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने तथा उनके शिष्यद्वय रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासन-वृत्ति तथा नाट्यदर्शनगुणवृत्ति में निर्दिष्ट किया है । कुछ विद्वानों का मत है कि

नाट्यशास्त्र के मूलभाग में कोहलाचार्य की अनेक कारिकाएँ प्रविष्ट हैं तथा रूपक-प्रकरणाध्याय (ना० शा० ख० २०, चौख० सस्क०) का नाटिकानिरूपण कोहलाचार्य द्वारा निर्दिष्ट है। इस विषय का हमने अपनी नाट्यशास्त्र खण्ड ३ की भूमिका में विस्तार से विचार किया है। सागरनन्दी ने रूपको के उन सभी प्रकारों को दिया है जो दशरूपको से अतिरिक्त स्वरूप वाले थे। इनमें से रूपको के कुछ प्रभेद कोहलाचार्य द्वारा तथा अन्य विषय रूपं विक्रम, मातृपुत्र, गर्ग, अश्वकुट्ट, नखकुट्ट या बादरायण आदि प्राचीन नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के द्वारा उद्धावित थे, जिनके ग्रन्थादि के सम्प्रति विरुद्ध हो जाने से हमें इनके विषय में पृथक्-पृथक् जानकारी नहीं मिल रही है। सागरनन्दी ने इन रूपकप्रभेदों का विभेदक नामकरण न करते हुए (विस्तार से) इनका स्वरूप सोदाहरण निरूपित किया है। विभेदक नामकरण न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि एक धनञ्जय तथा उसकी परम्परा के अन्य प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकार इन्हें कदाचित् नृत्य (या नृत्त) भेद ही मानते थे। परन्तु सागरनन्दी के पञ्चादभाषी आचार्य शारदातन्त्र, अमृतानन्दयोगिन्, विश्वनाथकविराज, कामराजदीक्षित आदि ने कोहलादि आचार्यों के द्वारा निरूपित इन अतिरिक्त रूपकप्रभेदों का विस्तार से विवरण दिया है। श्री विश्वनाथ कविराज ने इन रूपकप्रभेदों का पृथक् नामकरण 'उपरूपक' करते हुए इनकी स्वतन्त्र स्थिति भी बतलाई है। सागरनन्दी ने अपने समय में प्रचलित रूपको के दस भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रभेदों का जिस मनोयोग से सोदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया वह तत्कालीन प्रचलित नाट्यशास्त्रीय विचारसरणी को दिखलाते हुए बहुमूल्य सूचना प्रदान करने के कारण ऐतिहासिक महत्व रखता है।

नाटकलक्षणरत्नकोश यद्यपि समग्र नाट्यशास्त्रीय विषयों के गम्भीर अनुशीलनकर्त्ताओं के लिये पर्याप्त सामग्री नहीं देता किन्तु इस ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता भी विषयगत पूर्णता के लिये तथा इसकी असाधारण स्थिति के कारण अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ का अनुशीलन दो विशेष गुणों या केन्द्रबिन्दुओं को आधार बनाते हुए किया जाना चाहिए। इनमें प्रथम है—अज्ञात नाट्यशास्त्रीय आचार्यों की रचनाओं से सङ्गणादि निर्दोश एवं अज्ञात नाट्यरचनाओं से उदाहरण सकलन करना। दूसरा है नाट्यशास्त्र के अनेक सैद्धान्तिक विषयों का विभिन्नता प्रदर्शन के साथ एक ही स्थान पर संक्षेप में समावेश करते हुए स्थापन। इस प्रकार जहाँ प्रसिद्ध नाट्यरचनाओं के अनेक उदाहरणों के प्रसंग में अनेक पाठान्तर इस ग्रन्थ में हमें मिलते हैं वही अनेक पश्चित तथा अज्ञात नाट्यशास्त्रीय साहित्य के तथ्यों का अवबोध होकर सस्कृत नाट्यशास्त्र के विस्तीर्ण क्षेत्र का भी इसी ग्रन्थ से पता चलता है।

नाटकलक्षणरत्नकोश में प्राप्त होनेवाली नाट्यशास्त्र के अज्ञात आचार्यों की तालिका देखने से विशाल नाट्यशास्त्रीय साङ्गम्य का पता लगता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय केवल धनञ्जय तथा धनिक द्वारा अनुसृत नाट्यपरम्परा ही प्रवाहित नहीं होती थी अन्य धाराएँ भी विद्यमान थी, जिनके अस्तित्व की सूचना हमें इसी ग्रन्थ के सहारे प्राप्त होती है। इस प्रकार अनेक आचार्यों के एक स्थान पर तुलनात्मक गहनव्य उपस्थापित कर इस ग्रन्थ में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके अनुशीलन से यह विचार अधिक बख्शासी हो जाता है कि प्राचीन नाट्यशास्त्रीय रचनाओं के व्यापक अनुशीलन से ही नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन करना चाहिए जिनका आधार लेने के कारण ही आचार्य अभिनवगुप्तवाद तथा दारुपतनय के ग्रन्थों की ऐतिहासिक एवं सुदृढ़ स्थिति हो सकी तथा जिनकी उदात्तविचारसरणि भी इसी कारण नाट्यसिद्धान्तों के व्यवस्थित उपस्थापन में अधिक समय बनी।

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकार

मातृगुप्त आचार्य—नाटकलक्षणरत्नकोश में अनेक नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के मतों के निदर्शन मिलने से अनेक प्राचीन परम्पराओं का भी आभास मिलता है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय आचार्य हैं मातृगुप्ताचार्य। कर्तृहण की राजतरंगिणी में प्राप्त विवरण के अनुसार मातृगुप्त नाट्यशास्त्र में अप्रतिम परिष्ठित, कवि तथा विद्वानों के आश्रयदाता थे। ये भर्तृहेष्ठ जैसे कवि के समकालीन एवं उसके आश्रयदाता भी थे। इनका स्थितिकाल पाँचवीं सदी है। मातृगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्रग्रन्थ लिखा था जिसके उद्धरण अनेक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा नाटकों की प्राचीन टीकाओं में मिलते हैं। नाट्यशदीप के लेखक तथा सोलहवीं सदी में विद्यमान सुन्दरमिश्र ने मातृगुप्त को नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार भी माना है। मातृगुप्त के मनो का सागरमन्दी ने छ सप्तमों पर निदर्शन किया है।

राहुल, काश्यप तथा गर्ग—सागरमन्दी ने राहुल का मत एक बार निदर्शित किया है। आचार्य अभिनवगुप्तवाद में भी राहुल का मत अभिनवभारती में दिखलाया है जिससे इनके नाट्यशास्त्रीय रचनाकार होने की प्रतीति होती है। राहुलाचार्य के अतिरिक्त सागरमन्दी ने काश्यप का भी एक बार मत उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा भी काश्यप का मत निदर्शित होने से ये भी किसी स्वतन्त्र नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता हैं। नाटकलक्षणरत्नकोश में गर्ग का केवल नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकार के रूप में उल्लेखमात्र हो

प्राप्य है उद्धरण नहीं। ये सभी प्राचीन आचार्य हैं।

अक्षकुट्ट तथा नखकुट्ट—इन दोनों आचार्यों का नाट्यशास्त्र में भरतपुत्र के रूप में उल्लेख मिलता है। सागरनन्दी ने अक्षकुट्ट का चार स्थानों पर तथा नखकुट्ट का दो स्थानों पर उल्लेख किया है। विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण में भी अक्षकुट्ट तथा नखकुट्ट का मत दिया है जिससे इन आचार्यों द्वारा नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की सूचना मिलती है। ये प्राचीन आचार्य थे।

बादरायण,—शातकर्ण तथा चारायण—नाट्यशास्त्र में बादरायण को भरतपुत्र बतलाया गया है। सागरनन्दी ने बादरायण का तीन स्थानों पर उल्लेख किया है। सागरनन्दी ने शातकर्ण का एक बार उल्लेख किया है। अनर्घरायण की इषिपति उपाध्याय प्रणीत टीका में भी शातकर्ण आचार्य का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार चारायण का एक स्थान पर 'रत्नकोष' में उल्लेख किया गया है। ये सभी नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थों के लेखक थे जिनके ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य हैं। ये सभी प्राचीन आचार्य हैं।

श्रीहर्ष, विक्रमनारायण—ये नाट्यशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थकार थे जिनका नाट्यकलसंग्रहकोश के पृष्ठ ३०७ की टिप्पणी में विवरण दिया गया है। हमने भरतमुनि के विषय में सर्वज्ञात होने से अधिक विस्तार नहीं किया। मेरे द्वारा सम्पादित एवं व्याख्यात नाट्यशास्त्र (चौखम्बा, बाराणसी) की भूमिका की इस सन्दर्भ में देखा जाय।

पद्मश्री—इनका पद्मश्री या पद्मश्रीणी नाम था। इनकी प्रसिद्ध रचना 'नागरसर्वस्व' है जो कामशास्त्र का प्रबन्धग्रन्थ है। इन्होंने कुट्टनीमत्त का उल्लेख किया है अतः उसके रचयिता दामोदरगुप्त के पश्चाद्भावी हैं। दामोदरगुप्त काश्मीराधिप जयापीड के समर्पणित थे जिनका स्थितिकाल ई० स० ७५१-७६३ तक था। राजतरंगिणी में इनके कुट्टनीमत्त का भी उल्लेख मिलता है। अतः पद्मश्री का स्थितिकाल दसवीं शती का आरम्भ माना जा सकता है। नागरसर्वस्व एक अतिसुन्दर लक्षणग्रन्थ है जिससे सागरनन्दी ने दस उद्धरण सोदाहरण लिये हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाएगा कि नाट्यकलसंग्रहकोश का क्षेत्र अनेक नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के उल्लेख करने तथा उनकी मान्यताओं की भी यथाप्रसंग प्रस्तुत करने के कारण अधिक व्यापक हो गया है।

ग्रन्थवैशिष्ट्य—

नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विषय में सागरनन्दी का दृष्टिकोण भरतमुनि के रचनों को प्रमुख मान्यता प्रदान करते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक प्राह्य सिद्धान्तों को अन्य आचार्यों से लेना रहा है। इसी कारण सागरनन्दी के समय में चर्चित शान्तरस के विषय में जहाँ धनञ्जय तथा अभिनवगुप्तपाद ने अपने मन्तव्य स्थापित किये वहीं नाटकलक्षणरत्नकोशकार ने इस विषय पर मौन साधा। इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने जिस प्रश्न को बाद में उठाते हुए यह विवेचित किया कि नाटक का नायक ऐतिहासिक नृपो को क्यों बनाना चाहिए। सागरनन्दी ने इस प्रश्न को मातृगुप्त आचार्य के मत के अनुसार ऐतिहासिक पात्र को नायक बनाने की बात कहते हुए नायक के ऐतिहासिक होने पर नाटक में कोई हानि नहीं है, स्वीकार कर मातृगुप्त का समर्थन किया। ऐसा करते हुए इन्होंने महाकवि काशिकास के मालविकाग्निमित्रके नायक अग्निमित्र, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस तथा देवी चन्द्रगुप्तम् जैसे ऐतिहासिक नायकों वाले नाटकों को समर्थन दे दिया तथा इसी कारण ऐसी रचनाओं के नाटक में परिगणित करने की बात भी मिला। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के उपयोगी सिद्धान्तों को लेने के कारण सागरनन्दी का दृष्टिकोण न केवल अधिक व्यावहारिक हो या किन्तु यह परिपक्व नाट्यविज्ञान पर आधारित होने से अधिक व्यापक भी था।

सागरनन्दी की एक और प्रवृत्ति भी है। वे जब भी नाट्यशास्त्रीय मत-मतान्तरों को तुलनात्मक निदर्शन के साथ प्रस्तुत करते हैं तो उस विषय के गम्भीर विवेचन में न जाकर केवल विभिन्न मतों का सार देते चलते हैं। यह प्रवृत्ति ग्रन्थ के उद्देश्य तथा विषय के अवबोध का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इस क्रम में जिन नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के मान्य सिद्धान्तों को संकलित किया गया है उस कार्य में तीव्र मतभेदों से बचते हुए कुछ प्राचीन मान्यताओं की रक्षा ही की है जिसका महत्व शास्त्रसरक्षण से कम नहीं आता था तबतः।

इस विषय में हम सागरनन्दी द्वारा निदर्शित रूपकों के प्रभेदों को लेते हैं जहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने रूपकों के भरतोक्त दस विभेदों की छोटाहरण व्याख्या की वहीं उन्होंने अपने समय में विद्यमान तथा कोदक, भोज आदि आचार्यों के द्वारा निदर्शित अन्य नाटिकादि प्रभेदों के (उत्तररूपकों के) लक्षणादि देना तो दूर रहा उनकी स्थिति या उदाहरणों तक को संप्रयास रोक दिया और केवल उनके अनिर्दिष्ट स्वरूप की सूचना दे कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। धनञ्जय ने भी अपने दशरूपक में रूपकों के नाटिका जैसे अन्य एक प्रभेद को भरतमुनि के आधार पर निदर्शित अवशिष्ट कर अन्य प्रभेदों की नृत्तभेद में गणना करते हुए केवल सूचना भर दी। महाराजाधिराज भोज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ

श्रृङ्गारप्रकाश (१२ अध्याय) में रूपको के इन अतिरिक्त विभेदों को लक्षणादि देकर निर्दिष्ट भर किया किन्तु सागरनन्दी ने इन समग्र प्रभेदों का लक्षणादि के अतिरिक्त उदाहरण देते हुए निरूपण किया । इसी क्रम को आगे चलकर रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पणसूत्र में, शारदातनय ने भावप्रकाश में तथा विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' में आगे बढ़ाते हुए स्थापित किया । इस प्रकार यद्यपि सागरनन्दी ने रूपक तथा उपरूपको का पृथक् वर्गीकरण नहीं किया किन्तु उपरूपको के विभेदों को नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में संलक्षण रखने की परम्परा को एक धारा का स्वरूप अवश्य प्रदान किया जो आगे चलकर गति-शील प्रवाह को धारण करने में समर्थ हुई ।

नाटकलक्षणरत्नकोश में नाटक के स्वरूप तथा इसके समय अंगों, रूपक-प्रभेदों तथा नाट्यालङ्कार एवं नाट्यांगों का सुसम्बद्ध विवेचन है । इसके अतिरिक्त रस के स्वरूप को बिना अधिक विस्तार दिये हुए इसमें रखा गया है तथा यही क्रम पूर्वोक्त के विवेचन में भी है । इसमें संगीत और नृत्य का केवल संकेतमात्र किया गया है तथा सभी विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है । साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज ने इसी परम्परा के ग्रन्थों का सामान्यतः तथा नाटकलक्षणरत्नकोश का बिना उल्लेख करते हुए विवेचन आधार लेकर नाट्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन समग्रता के साथ व्यवस्थित रूप से किया है यह प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशीलन से स्पष्ट हो जाएगा ।

हम पूर्व में भी बतला आए हैं कि नाटकलक्षणरत्नकोश का आयाम तथा विषयक्षेत्र भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की तरह व्यापक नहीं है तथा अपने विवेचन में भी यह पर्याप्त सीमित है । इसी कारण इसमें नाट्योत्पत्ति, प्रेसागृह, मृत्यु एवं अभिनय, वाचिक अभिनय तथा उसके पाठ्य आदि प्रकार, स्वरकाकुमादि विधान, लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी प्रकार, सिद्धियाँ, संगीत के स्वर, दर्प अलङ्कार, जाति आदि का स्वरूप, व्यक्तित्व विधि आदि नाट्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन नहीं है । तथापि यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्रोक्त रस, लक्षण, रूपकप्रभेद, नाट्यङ्ग, संध्यङ्ग, वृत्ति तथा प्रवृत्ति का सुस्पष्ट विवरण देता है । इसमें कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ अस्पष्ट लक्षण के कारण विषय की समझने में रुकावट आती है । ऐसे स्थानों में विष्कम्भक, सद्भावतार, पताकास्थानक पञ्चाङ्गाभिनय, नाट्यलक्षण तथा भाग के स्वरूप निरूपक विवरण को गिनाया जा सकता है ।

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यरचनाएँ

नाटकलक्षणरत्नकोश के उदाहरणों का क्षेत्र व्यापक है यह हम बतला आए हैं । इसमें कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल तथा विजयोर्वशीय, भवभूति के

उत्तररामचरित तथा माछतीमाधव, विद्यावदत्त के मुद्राराक्षस तथा देवोचन्द्र-
गुप्तम्, हर्ष के रत्नावली तथा नागानन्द, भाट्ट के स्वप्नवासवदत्त तथा
चाणक्य, मूढक के मृच्छकटिक, दिङ्नाथ की कुन्दमाता, राजशेखर की कपूर-
मञ्जरी तथा विद्याशालभञ्जिका तथा भट्टनारायण प्रणीत बेणीसंहार आते हैं।
ये सभी प्रसिद्ध तथा उपलब्ध नाट्यरचनाएँ हैं किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी नाट्य-
रचनाओं से भी नाटकलक्षणरत्नकोश में उदाहरण संकलित किये गये हैं जो
अज्ञात, अप्रसिद्ध तथा अनुपलब्ध हैं। इन रचनाओं के विषय में हम आगे यथा-
प्राप्य जानकारी के आधार पर सामान्य-परिचय क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) उत्कण्ठितमाधव—(काव्य) इस ग्रन्थ का उपरूपको के अन्तर्गत
काव्य प्रभेद में उल्लेख किया गया है। इसके स्वरूप तथा रचयिता के विषय में
अधिक ज्ञात नहीं है।

(२) उदात्तराघवम्—(नाटक) नाटकलक्षणरत्नकोश में उदात्तराघव
का उल्लेख दो बार मिलता है। दशरूपक के अवलोक के आधार पर इनके
रचयिता मायुराज उपनाम मानराज हैं। राजानक कुम्भक ने अपने सुप्रसिद्ध
ग्रन्थ वक्त्रोक्तिजीवित में न केवल इस नाटक का उल्लेख ही किया है किन्तु वहाँ
इस नाटक के नामकरण के कारण कथावस्तु में किये गये परिवर्तनों की भी चर्चा
है। मध्यकाल के नाटकों में उदात्तराघव नाटक अविश्व लोचनिय रहा
होगा। न केवल दशरूपक में, कुम्भक के वक्त्रोक्तिजीवित तथा सागरनन्दी की
प्रस्तुत रचना में ही मायुराज के उदात्तराघव का उल्लेख हुआ किन्तु भोजदेव
के विस्तीर्ण ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीवृष्ठाभरण में, हेमचन्द्राचार्य के
काम्यानुशासन की स्वोपश्रुति में, रामचन्द्रगुणचन्द्र के नाट्यदर्पणसूत्र में तथा
विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण में भी इसके उद्धरण संकलित किये
गये हैं।

राजशेखर के अनुसार मायुराज कलचुरिधरा के बहि थे। राजशेखर की
मायुराजप्रशस्ति जलहण की कृतिमुक्तावलि में इस प्रकार है—

मायुराजसमी ज्ञे नान्य कलचुरि. कवि ।

उदन्वत् समुत्तस्पु नति वा मुहिनीशय ॥

(जलहण-मुक्तिमुक्तावलि—४१)

इस प्रकार राजशेखर के इस उल्लेख में मायुराज का निश्चिन्तक ८ वीं
पातान्दी का रहा होगा ऐसी कल्पना सम्भवतः उचित मानी जायगी। मायुराज
ने तापसवत्सराज नाटक की भी रचना की थी। यह नाटक सम्प्रति उल्लभ्य
होना है।

(३) उर्वशीमर्दन—(ईहामृग)—नाटकलक्षणरत्नकोश में ईहामृग के लक्षण प्रसांग में इसका उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ भी अनुपलब्ध होने से इसके विषय में अधिक बात कहना संभव नहीं है।

(४) उपाहरण—(नाटक) नाटकलक्षणरत्नकोश में इसका उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार के विषय में न तो कुछ ज्ञात है न ग्रन्थ ही उपलब्ध है। इधर जो रुद्रचन्द्रदेव निर्मित उपाहरण या उपाशगोदया मिलता है तथा जिसे इन पंक्तियों के लेखक ने सम्पादित भी किया है वह सागर-नन्दी से परवर्ती रचना है अतएव इससे उद्धरण लेना इस ग्रन्थ में संभव नहीं लगता।

(५) कनकाद्यतीमाध्व—(चित्पक) सर्वप्रथम इसका उल्लेख नाटक लक्षणरत्नकोश के द्वारा ही प्राप्त होता है। अमृतानन्द योगिन् ने इसको सल्लापक का उदाहरण माना है पर सागरनन्दी ने इसे चित्पक का। साहित्य दर्पण तथा भावप्रकाशन ने भी इसे चित्पक का उदाहरण ही माना है। रचना सम्प्रति प्राप्त नहीं होती।

(६) कलाद्यती—सागरनन्दी ने इसके तृतीय अङ्क से एक उद्धरण दिया है। इसके स्वरूप तथा रचयिता आदिके विषय में कुछ भी अधिक ज्ञात नहीं है।

(७) कामदत्ता—(भाषिका) सागरनन्दी के अतिरिक्त अमृतानन्द योगिन् ने भी इसे भाषिका के उदाहरण में निर्दिष्ट दिया है। उदात्त नायिका वाले भाषिका को एक विशेष भेद होम्बी मान कर शारदातनय ने इसी ग्रन्थ की वर्णना की है। सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

(८) कामदत्तापूर्ति—नाटकलक्षण रत्नकोश में इसका एक उद्धरण ही संकलित है। इससे इसके स्वरूप का कोई पता नहीं लगता पर कदाचित् यह कामदत्ता का अन्तिम अंक है ऐसा प्रतीत होता है। इसके लेखक आदि का नाम अज्ञात है।

(९) कुन्दशेखरविजयः—(ईहामृग) सागरनन्दी ने इसे ईहामृग का उदाहरण बनलाया है। भावप्रकाशन तथा बहुलपत्रि ने इसका नाम 'कुन्दशेखरविजय'—लिखा है। हो सकता है सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश की भविष्य में प्राप्त किसी प्रति में 'कुन्दशेखरविजय' नाम मिल जाए। तब तक मूलपाठ के अनुसार वही नाम ठीक होगा। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

(१०) फीचकमीम—(नाटक) सागरनन्दी के उद्धरणों के आधार पर इसे नाटक माना जा सकता है परन्तु इसके रचयिता आदि का कुछ भी विवरण नहीं मिलता ।

(११) कृत्यारावणम्—(नाटक) नाटक लक्षणरत्नकोश में कृत्यारावण नाटक से उद्धरण लिये गये हैं । यह नाटक प्राचीन है तथा अपनी विशेष नाट्य-रचना के कारण प्रायः सभी मध्यकालीन विद्वानों के द्वारा समीक्षित भी रहा है । इसके उत्कल भोजदेव के शृङ्गारप्रकाश में, हेमचन्द्राध्याय प्रणीत काव्यानुशासन में, रामचन्द्रगुणचन्द्र के नाट्यदर्पण विवृति में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । आचार्य अभिनवगुप्त ने इस नाटक से चार अपनी नाट्यशास्त्र की सुप्रसिद्ध टीका अभिनवभारती में उद्धरण किये हैं । आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' में इसकी समीक्षा मिलती है । सारदातनय के 'माधवप्रकाशन' तथा विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण में भी कृत्यारावण के उद्धरण मिलते हैं । इतना सब होने पर भी इस सफल नाट्यरचना के रचयिता का नाम आज तक विदित नहीं हो पाया और न ही इस नाट्य-रचना की कोई प्रति प्राप्त हुई है ।

(१२) केलिरैवतक—(हल्लोचक) सागरनन्दी में इसका उल्लेख उपर्युक्त के एक प्रकार हल्लोचक के उदाहरणरूप में किया है । भाव प्रकाशन तथा अमृतानन्दयोगिन् के साथ तथा साहित्यदर्पण में भी इसका उल्लेख मिलता है । सम्प्रति ग्रन्थ अप्राप्य है ।

(१३) श्रीङ्गारसारतल्ल—(श्रीगदित) नाटकलक्षणरत्नकोश में इस कृति को श्रीगदित का उदाहरण बतलाया है । अलङ्कारसंग्रह में अमृतानन्द योगिन् ने तथा साहित्यदर्पण ने भी यही विवरण दिया है । बदायिन् यह पूर्वपरम्परागत विवरण है जो उदाहरणादि के लिये वैसा ही सभी ने ले लिया हो । इसके विषय में अन्य बातें ज्ञात नहीं हैं ।

(१४) ग्रामेर्या—(नाटिका) सागरनन्दी के समय यह नाटिका प्रसिद्ध रही होगी । सम्प्रति यह अनुपलब्ध है । इसका अन्य किसी नाट्यशास्त्रीय रचना में भी विवरण नहीं मिलता ।

(१५) उलितराम—नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्युत इस नाटक का वर्त्तमान अज्ञान है । इस नाटक के कई उद्धरण कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में, धनिश के दशरूपकावलोक में, भोज के शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीचष्टाभरण में, रामचन्द्रगुणचन्द्र के नाट्यदर्पणसूत्र में भी मिलते हैं, जिनसे इस नाटक की लोकप्रियता एवं विख्याता का पता लगता है । सम्प्रति मन्नारगुहीय रामवा-चार्य के संप्रद में विद्यमान 'धन्विराम' नाटक की हस्तलिखित प्रति का हम

ज्ञान है। जिसका उल्लेख आप्पेनट ने अपने कटलागस केटलॉपरम् मे क्र० स० ४११४ पर किया है। यद्यपि इसके लेखक का नाम आज तक अज्ञात ही है।

(१६) जानकीराघव—(नाटक) नाटकलक्षणरत्नकोष मे इस नाटक के २० से अधिक उद्धरण लिये गये हैं। इस नाटक के विषय मे तथा इसके रचयिताके विषय मे और अधिक कुछ भी ज्ञान नहीं है।

(१७) तापसवत्सराज—(नाटक) इसके लेखक है मायुराज जिनका 'उदात्तराघव' रचना के प्रसंग मे परिचय दिया जा चुका है। तापसवत्सराज के छ' अंक हैं जिनमे उदयन तथा वासवदत्ता के प्रणय की कथावस्तु को लेकर नाटक का निर्माण किया गया है।

(१८) दूताङ्गद—इसका नाममात्र उल्लेख होने से इसे सुभट्ट कवि की रचना नहीं मानी जा सकती। इसका रचयिता अज्ञात है।

(१९) देवदत्तकृति—(?) इसको सम्भवत रत्नकोशकृताविति के समान ही नाटक के लिये परिवर्तित कर सागरनन्दी द्वारा कारिका रूप मे दिखलाया गया है। परन्तु इस नाम के किसी नाट्यकार का कहीं भी अन्यत्र नाम नहीं मिलता। ग्रन्थकार अज्ञात है।

(२०) देवीचन्द्रगुप्तम्—(नाटकम्) देवीचन्द्रगुप्तम् के लेखक हैं मुद्रा-राक्षस नाटक के रचयिता विशाखदेव या विशाखदेव। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है तथा इसमे ध्रुवदेवी तथा चन्द्रगुप्त का आख्यान निबद्ध किया गया है जिसकी पुष्टि बाणभट्ट के हर्षचरित तथा राजशेखर की काव्यमीमांसा के विवरणों से होती है। ऐसा लगता है कि इसके रचनाकार ने दोनों चन्द्रगुप्तों को (अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य), अपने नाटकों के नायक बनाते हुए नाट्य रचनाएँ की थीं। इसके अतिरिक्त इनकी 'अभिसारिकवञ्चितक' नामक नाटक अन्य रचना का उल्लेख अभिनवभारती मे मिलता है तथा भोज के शृङ्गार-प्रकाश मे भी। इस नाटक को बत्सराज उदयन का चरित्र लेकर लिखा गया था। इसके अतिरिक्त विशाखदेव ने सम्भवत राघवाम्बुदय या राघवानन्द जैसे नाटक की भी रचना की थी, जिसका प्रसिद्ध पद्य 'रामोऽसौ जगतीह विष्णुगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि पराम्' है तथा जिसको अनेक आलङ्कारिक विद्वानों ने अनेक बार अपनी रचनाओं मे विवेचित किया है। इसकी पुष्टि 'सङ्कतिकर्णामृत' मे उद्धृत इसी पद्य से हो जाती है। सम्प्रति इनकी प्राप्य रचना केवल 'मुद्राराक्षस' है तथा शेष रचनाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। विशाखदेव का स्थितिकाल भोज तथा सोड्डुङ्ग से पूर्ववर्ती होने के आधार पर सातवीं शती का उत्तरार्ध तथा आठवीं शती का प्रथम चरण माना जाता है।

(२१) देवीमहादेव—(उल्लोप्यक) नाटकलक्षणरत्नकोष के साथ-साथ शारदातनय तथा विश्वनाथ ने भी इसे 'उल्लोप्यक' का उदाहरण लिख दिया है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह रचना भोज में लेकर विश्वनाथ कविराज के समय तक प्राप्य रही होगी।

(२२) नरकयध—(नाटक) सागरनन्दी के द्वारा उद्धृत इस नाटक का भी केवल नाममात्र शेष है। इसके रचयिता आदि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त नहीं है।

(२३) नरकोद्धरण—(छिम्) सागरनन्दी के द्वारा उद्धृत इस रूपक का केवल नाममात्र शेष है। 'छिम्' के प्रकार होने से इसका प्राचीनकाल में अस्तित्व रहा होगा ऐसी प्रतीति दृढ़ होती है।

(२४) नटविजय—नाटकलक्षणरत्नकोष पृ० ३० पर इस नाटक का उल्लेख किया गया है। यह भी न तो उपलब्ध है और न इसके रचयिता का नाम विदित हो पाया है। अलंकारसंग्रह के अनुसार यह नाटक आठ अङ्कों का था।

(२५) पत्रलेखा—(भाण) नाटकलक्षणरत्नकोष में पत्रलेखा का भाण के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके लेखकादि अज्ञात हैं।

(२६) पद्मावती परिणय—(प्रकरण) नाटकलक्षणरत्नकोष के अतिरिक्त शारदातनय ने भी प्रकरण के पाँच विभाग करते हुए इसी रचना को उदाहरण रूप में संकेतित किया है। रचना सम्प्रति अनुलब्ध है और रचयिता का नाम अज्ञात।

(२७) पुष्पद्वितक—(प्रकरण)—इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। इसके उद्धरण कुम्भ के पत्रोत्तिजीवित, धनिक के दशरूपनावली (प्रक० ३।४५) तथा अभिनवभारती (सङ्कट २ पृ० ४३२) में उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त नाट्यदर्पणसूत्र में रामचन्द्रगुणचन्द्र ने तथा विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में इसी प्रकरण का उल्लेख किया है। इस प्रकरण में समुद्रदत्त बणिक (नायक) तथा मन्दयन्त्री (नायिका) का आश्रय है तथा कल्पित कथा में देवायुक्त पञ्च का प्रतिपादन किया गया है।

(२८) घाटचरित—नाटकलक्षणरत्नकोष में इसके ३ उद्धरण संकेतित किये गये हैं। इसी के 'उत्साहातिशय वत्स' इत्यादि पद्य को साहित्यदर्पण में विश्वनाथ कविराज ने भी (६।८५) उद्धृत किया है तथा यह भी 'विधान' में उदाहरण में ही। इस नाटक के रचयिता का नाम अज्ञात है तथा पद्य अनुपलब्ध है।

(२९) विन्दुमती—(दुर्मांशिका) सागरनन्दी तथा अमृतानन्द योगी ने दुर्मांशिका का यही उदाहरण दिया है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

(३०) भगवदञ्जुक—(प्रहसन) इसके रचयिता महेन्द्रबिक्रमवर्मा माने जाते हैं। इसकी गणना प्राचीन नाट्यरचनाओं में है। इसके रचयिता का ई० स० ६१० का एक शिलालेख प्राप्त है जिसमें 'भगवदञ्जुक' का उल्लेख है प्राप्त होने के कारण इसका रचनाकाल छठी शती का अन्तिम चरण माना जाता है। इस प्रहसन में एक परिव्राट् तथा एक बैर्या की हास्योत्पादक कथावस्तु ली गयी है। भगवदञ्जुक प्राप्य रूपक है।

(३१) भीमविजय—(नाटक ?) सागरनन्दी ने साध्यादि-पञ्चक के उदाहरण इसी से दिये हैं इससे स्पष्ट है कि यह नाटक है जिसकी प्रसिद्धि उस समय रही होगी। सम्प्रति इसके लेखक तथा रचना आदि के विषय में अधिक विवरण नहीं मिलता।

(३२) मदनमञ्जुला (का)—इसका मदनमञ्जुका नाम से भी सागरनन्दी ने उल्लेख किया है। इसके स्वरूप आदि के विषय में इससे अधिक विवरण नहीं मिलता है।

(३३) मदनिका-कामुक—(रासक) सागरनन्दी ने इसे रासक के उदाहरण में उद्धृत किया है। इसके विषय में अधिक विवरण ज्ञान नहीं।

(३४) मायाकापालिक—(सञ्ज्ञाप) सागरनन्दी ने सञ्ज्ञापक के उदाहरण में इस रचना का नाम बतलाया है। कदाचित् यह पूर्ववर्ती परम्परा को तथैव प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में भी इसी रचना का उल्लेख किया है। इसके लेखक तथा रचना के विषय में अन्य कुछ भी ज्ञात नहीं है।

(३५) माया-मदालसा—(नाटक) सागरनन्दी ने इस नाटक से अनेक उद्धरण लिये हैं। नाटक के विषय में अन्य तथ्य अज्ञात है तथा नाटक भी नहीं मिलता।

(३६) मारीचयञ्चितक—(नाटक) सागरनन्दी ने निर्वहणसन्धि के उदाहरण प्रसंग में इस नाटक का उदाहरण दिया है। अमृतानन्द योगिन् तथा भावप्रकाशन के विवरण से ज्ञात होता है कि यह यञ्चाडु नाटक था। नाटक के रचयिता का नाम अज्ञात है तथा सम्प्रति ग्रन्थ भी अप्राप्य है।

(३७) मेनकानटुप—(चोटक) सागरनन्दी ने इसको चोटक का उदाहरण बतलाया है। अमृतानन्द योगिन् तथा भावप्रकाशनकार इसे नवाडु चोटक मानते हैं। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

(३८) रम्भानलकृचर—(श्लोक ?) सागरनन्दी ने इससे एक उद्धरण लिया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई श्लोक है। इसके विषय में और अधिक ज्ञात नहीं है। रचयिता की शैली प्रसादमयी लगती है।

(३९) राघवाभ्युदय—(नाटक) इस नाटक के सागरनन्दी ने पर्याप्त उद्धरण लिये हैं। पिछले परिचयक्रम से इस नाटक के लेखक विशाखदत्त विदित होते हैं। इनके सुप्रसिद्ध पद्य 'रामोऽसौ जगतीह विक्रमगुणैः' को सद्गुण-कर्णामृत में विशाखदेव के नाम से उद्धृत किया गया है। सागरनन्दी के उल्लेख से जब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पद्य राघवाभ्युदय नाटक का है तो फिर दोनों उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर इसके रचयिता विशाखदत्त ही ठहरते हैं। सागरनन्दी ने इसके एक अङ्क का नाम तथा दस उद्धरण लिये हैं जिससे इसकी लोकप्रियता स्पष्ट है। भोज ने भी गृन्थारप्रकाश में 'रामोऽसौ जगतीह' इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। कदाचित् लिपिप्रवाद ॥ वही (परि० १८ : पृ० ५३६) राघवानन्द नाम हो गया है। या फिर राघवानन्द ही इस नाटक का नाम हो किन्तु एकाधिक बार जब सागरनन्दी ने राघवाभ्युदय नाम निर्देश करते हुए इसका उल्लेख किया है तो फिर इसे राघवाभ्युदय ही मानना निर्भ्रान्त होना चाहिए।

राघवाभ्युदय नामक एक अन्य नाटक रामचन्द्र सूरि ने भी बनाया था जो नाट्यदर्पणसूत्र के लेखक हैं, परन्तु सागरनन्दी के बाद इनका स्थानिकाल होने से इसकी रचना से ही सागरनन्दी ने उद्धरण लिये यह असंभव हो जाता है। रामचन्द्र प्रणीत राघवाभ्युदय भी सम्प्रति दुर्लभ है तथा इसका भी उल्लेखमात्र नाट्यदर्पण में ही विद्यमान है।

(४०) राधा—(कीर्ती) उदाहरण के लिये इसका सागर ने उल्लेख किया है पर आज तक इस ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हुई न ही इसके रचयिता के बारे में कुछ ज्ञात हुआ।

(४१) रामचिक्रम—(नाटक) सागरनन्दी ने इसमें दो उद्धरण लिये हैं। इसके रचयिता तथा ग्रन्थ के विषय में अन्य बातें अज्ञात हैं।

(४२) रामानन्द—(नाटक) सागरनन्दी ने इस नाटक के उदाहरण दिये हैं। इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख विद्वन्मोक्ष बहिराज तथा सिंहभूपाल ने भी किया है। इसके रचयिता आदि के विषय ॥ इससे अधिक ज्ञात नहीं है।

(४३) रामाभ्युदय—(नाटक) इसके रचयिता यद्योवर्मा थे। यह नाटक श्रीराम के आस्थान की आधार लेकर छ अङ्कों में निर्मित था। गुरुतर,

भोज तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने इसके अवतरण दिये हैं। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त-
तिलक' में तथा वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' में रामाभ्युदय के उद्धरण देकर
इनके रचयिता का नाम यशोवर्मा बतलाया है।

यशोवर्मा कान्यकुब्ज प्रदेश के प्रख्यात शासक थे जिनके दरबार में भव-
भूति जैसे नाट्यकार आश्रय लिये हुए थे। इस कारण यशोवर्मा भी नाटककार
रहे होंगे इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। राजतरङ्गिणी के वर्णन से यह भी
ज्ञात होता है कि यशोवर्मा को काश्मीर के अधिपति ललितादित्य ने युद्ध में
पराजित किया था। अतएव यशोवर्मा का स्वितिकाल अष्टम शताब्दी माना
जाता है। रामाभ्युदय से सागरनन्दी ने उद्धरण लिये हैं। इसी नाटक से बाद में
रामचन्द्रगुणवन्द ने नाट्यदर्पणसूत्र में, शारदातनय ने भावप्रकाशन में तथा
विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में भी अवतरण लिये हैं।

(४४) रेखतीपरिणय—सागरनन्दी ने इसका निदर्शन एक बार प्रवेशक
के सन्दर्भ में किया है। इसके विषय में अन्य विवरण अनुपलब्ध है।

(४५) ललितनागर—(भाण) सागरनन्दी के द्वारा 'ललितनागर' का
भाण के रूप में उल्लेख किया गया है। बहुरूपमिश्र ने भी दशरूपक टीका में
इसीका उल्लेख किया है परन्तु इसके लेखक आदि का विवरण अज्ञात है।

(४६) चकुलवीथी—(वीथी) सागरनन्दी ने इसको वीथी के उदा-
हरण रूप में प्रस्तुत किया है। इसके रचयिता आदि का नाम ज्ञात नहीं है।

(४७) पाल्लिवध—(प्रेक्षणक) सागरनन्दी के अतिरिक्त भावप्रकाशन,
अलङ्कारसंग्रह तथा साहित्यदर्पण में भी इस रचना को 'प्रेक्षणक' का उदाहरण
बतलाया गया है। इस रचना के विषय में अधिक विवरण ज्ञात नहीं है।

(४८) विलासवती—(नाट्यरासक) सागरनन्दी के अतिरिक्त शारदा-
तनय, अमृतानन्द योगिन् एवं विश्वनाथ कविराज ने भी इसे ही 'नाट्यरासक'
का उदाहरण बतलाया है। यह रचना अप्राप्य होने के कारण इसके रचयिता
आदि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

(४९) चीणावती—(भाणी) इस एकाङ्क उपरूपक का सागरनन्दी ने
उदाहरण भाणी का दिया है। भावप्रकाशन में भी इसका उल्लेख भाणी के रूप में
मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

(५०) घृत्रोद्धरण—(छिम) सागरनन्दी ने तथा शारदातनय ने इस
रचना को छिम के उदाहरण रूप में निदर्शित किया है। 'छिम' के विभिन्न
प्रकारों में उद्धृत इस रचना के अप्राप्य होने के कारण अधिक विवरण ज्ञात
नहीं है।

(५१) शक्रानन्द—(समवकार) सागरनन्दी ने इस रचना को 'सम-
वकार' के उदाहरणरूप में रखा है। इसके अतिरिक्त इस रचना का अन्यत्र
कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रचयिता आदि का विवरण भी ग्रन्थ के अप्राप्त होने
से नहीं मिल सकता।

(५२) शर्मिष्ठापरिणय—(नाटक ?) सागरनन्दी ने 'प्रवर्तक' के प्रसङ्ग
में इससे उद्धरण दिया है। नाटक के रचयिता आदि का विशेष विवरण प्राप्त
नहीं होता।

(५३) शशिकामदत्ता—सागरनन्दी ने प्रवेशक के प्रसङ्ग में (ना० ल०
पृ० १२) इसके तृतीयअङ्क का उल्लेख किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता
है कि यह किसी नाटक या प्रकरण का नाम है। इसके विषय में और अधिक
विवरण ज्ञात नहीं है।

(५४) शशिविलास—(प्रहसन) इसका नाम सागरनन्दी ने शशि-
विलास दिया है परन्तु बहुरूपमिश्र ने कदाचित् इसी का शशिकला नाम दिया
है। शशिविलास के लेखक आदि के विषय में और अधिक ज्ञात नहीं है।

(५५) शृङ्गारतिलक—(प्रस्थान) सागरनन्दी ने इसका प्रस्थान के
उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। इसी प्रकार भावप्रकाशन, अलङ्कारसंग्रह
तथा साहित्यदर्पण में भी विवरण मिलता है जहाँ इसे 'प्रस्थान' ही माना है।
इसके लेखक आदि के विषय में कुछ भी अधिक ज्ञात नहीं हो पाया।

(५६) सत्यभामा—(गोष्ठी) सागरनन्दी ने ही इस रचना को गोष्ठी
के निदर्शन में उद्धृत किया है। अन्य आचार्यों ने गोष्ठी के उदाहरण में
रैवतयमदनिषा का उल्लेख किया है। सम्प्रति यह रचना भी नहीं मिलती।

नाट्यलक्षणरत्नकोष का प्रस्तुत संस्करण

नाट्यलक्षणरत्नकोष का प्रस्तुत संस्करण भी ए० विष्णु द्वारा सम्पादित संस्करण
की आधार बनाकर स्वतन्त्ररूप से पुनः सम्पादित कर सौंपा दिया गया है
जिसमें कारिकाओं की संख्या लगाकर चारावाहिक रूप में सद्यः ग्रन्थ में प्रसिद्धता
लाई गई है। उदाहरणों तथा उद्धरणों के सभी सन्दर्भ यथासंभव प्राप्य ग्रन्थों
की देखकर सावधानी से जिंघे गये हैं। नाट्यलक्षणरत्नकोष में विषयों के विभा-
गानुसारी कोई सूचक से अध्याय या परिच्छेद नहीं मिलते हैं तथा न ही इतने
छोटे ग्रन्थ में इसकी आवश्यकता ही मूलग्रन्थकार ने समझी होगी। अतएव

श्री डिक्शन की तरह प्रत्येक अनुच्छेद की पृथक् संख्या देकर ग्रन्थ को प्रस्तुत न करते हुए केवल कारिकाओं की संख्या से ही संकेतो को निर्दिष्ट किया गया है। ऐसा करने से अध्येताजन रत्नकोश में प्रमाणार्थ लिये गये उद्धरणों को कारिकासंख्या दिखाते हुए सरलता से दिखा सकेंगे तथा छोटे उद्धरणों को पृष्ठसंख्या दिखाते हुए भी प्रस्तुत कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त विषय को सुबोध बनाने के लिये संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी लगायी गयी हैं, जिनका उपयोग इस ग्रन्थ के अनुशीलनकर्त्ताओं को विषय को विस्तार से देखने, तुलना करने आदि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हो सकेगा। इस प्रकार सपरिश्रम और सभ्रमरन प्रस्तुत यह ग्रन्थ विद्वज्जनों के हाथ में दिया जा रहा है। इसका 'नीरक्षीरवि-वेक' भी उन्हीं के द्वारा सम्भव भी है परन्तु आशा और विश्वास यही है कि मेरे इस कार्य से उन्हें अवश्य सन्तोष होगा और यह ग्रन्थ उनके स्नेह को अधिकाधिक प्राप्त कर सकेगा जो मेरे परिश्रम की सफलता भी होगी।

आभार

नाटकलक्षणरत्नकोश का सम्पादन तथा व्याख्यान लेखन जबलपुर विश्व-विद्यालय के भाषा शोध संस्थान के मेरे कार्यकाल में हुआ था जिसमें उस समय के मेरे सभी मित्रगणों ने यथाशक्य सहयोग किया था। मैं उन सभी का इस सहायता के लिये हृदय से आभारी हूँ। इस सन्दर्भ में श्री डॉ० राजवली पाण्डेय जी (अब स्वर्गीय) का आत्मीयतापूर्ण सहोद अतिशय उल्लेख्य है तथा धन्येय डॉ० होरालाल जी जैन अध्ययन-संस्कृत, पालि-प्राकृत विभाग का स्नेहपूर्ण परामर्श। मैं इन दोनों विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। नाटक-लक्षणरत्नकोश के मुद्रण काल में सुहृत्वर डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी—(प्राध्यापक-लालबहादुर संस्कृत-विद्यापीठ, देहली) का भी सदा सहयोग रहा जिसके लिये उन्हें धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

अन्त में चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी के प्रधान व्यवस्थापक गोलोकवासी बाबू कृष्णदास जी गुप्त का भी आभार मानता हूँ जिनने प्रसन्नतापूर्वक इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकारा था।

मुझे इस बात को कहते हुए अतिशय विषाद हो रहा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही चौखम्बा-प्रकाशन संस्थान के आधार-स्तम्भ सगे बन्धुद्वय श्री जयकृष्णदासजी गुप्त तथा श्रीकृष्णदासजी गुप्त का कुछ ही दिनों के अन्तर में अकस्मय में गोलोकवास हो गया। यह घटना मुझे आज तक चाल्य सी चुभती रहती है तथा व्यथित भी कर रही है। पर सन्तोष है कि उन्हीं दोनों

बभ्रुदय के स्मारक स्वरूप 'अपहृण्यदास-वृण्यदास प्राञ्चविद्या ग्रन्थमाला' के तृतीय पुष्परूप में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है ।

वर्तमान सुयोग्य व्यवस्थापक बभ्रुदय श्री भाई मोहनदासजी गुप्त एवं श्री बिट्टलदासजी गुप्त का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने मेरी रुग्णावस्था के कारण प्रेमपूर्वक मुद्रणकाल में मेरी ओर से होनेवाले विलम्ब को प्रेमपूर्वक सहते हुए कार्य को आगे बढ़ाया । श्री रमण्डल रामचन्द्र जी झा व्याकरणाचार्य का मुद्रण के सुव्यवस्थित सम्पादन में परम सहयोग रहा तथा इसी कारण यह ग्रन्थ इसने व्यवस्थित रूप में प्रकाशित हो सका । मैं अन्त में पुनः उन सभी सहयोगियों तथा मित्रों का भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरी कृतियों के अबतक एक अनुशीलन में रुचि दिखाई ।

मन्डसौर, }
ई० १९७२ }

सुधीबन कृपाकीर्ती
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	सन्धिविरूपण	४५
काव्यप्रशंसा तथा ग्रन्थ प्रतिज्ञा	२	मुखसन्धि	५४
नाटकलक्षण	३	मुखसन्धि के अंग	५६
कथावस्तु का स्वरूप तथा उसके विभेद	७	उपशेष	५६
अवस्था	८	परिकर	५७
आरम्भ	८	परिन्धास	५८
प्रदर्शन	९	विलोभन	५९
प्राप्तिसम्भव	९	युक्ति	५९
नियतासि	१०	प्राप्ति	६०
फलयोग	११	समाधान	६१
मातृगुप्त के अनुसार पाँच अवस्थाएँ	१२	विधान	६१
भाषा	१३	परिभाषना	६२
भारतवर्ष में वातादि के नियम	१५	उद्देश	६३
अर्थप्रकृति	१४	करण	६३
बीज	१५	भेद	६३
विन्दु	१७	प्रतिमुखसन्धि	६४
पताका	२०	प्रतिमुखसन्धि के अंग	६५
प्रकरी	२१	विलास	६५
कार्य	२२	परिसर्प	६६
इतिवृत्त एवं उन्मके विभेद	२३	विधुत	६७
आधिकारिक कथावस्तु	२३	तापन	६७
प्रासद्विक	२३	नर्म	६८
अङ्क	२४	नर्मप्रति	६८
मायक	२७	प्रगमन	६८
अङ्क के नियम	२९	विरोध	६९
प्रवेशक	३२	पर्युपासन	६९
विष्कम्भक	३७	पुष्प	७०
अज्ञावतार	४१	वज्र	७०
अज्ञमुख	४२	उपन्यास	७१
चूलिका	४३	वर्णसंहार	७१
		गर्भसन्धि	७१
		गर्भसन्धि के अंग	७३

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अमृताहरण	७३	आनन्द	८८
मार्ग	७४	समय	८८
रूप	७४	अनुयोग	८९
उदाहरण	७४	उपगृहण	८९
क्रम	७५	भाषण	८९
समूह	७५	पूर्ववाक्य	८९
अनुमान	७५	काव्यमंहार	९०
प्रार्थना	७५	प्रशस्ति	
उत्तिष्ठ	७६	सन्ध्यन्तर (अन्तरसन्धियाँ)	६२
तोटक	७६	साम	९३
अधिवल	७६	भेद	९३
उद्देश	७७	दान	९४
विद्रव	७७	दण्ड	९४
निर्मासन्धि	७८	वध	९४
निर्मासन्धि के अग	८०	प्रत्युत्पन्नमतित्व	९५
अपवाद	८०	गोत्रसवलित	९५
सम्प्रेष्ट	८१	साहस	९६
द्रव तथा विद्रव	८१	भय	९६
शक्ति	८२	धी	९६
श्ववसाय	८२	माया	९६
प्रसंग	८३	श्लेष	९७
पुति	८३	कृत्	९७
खेद	८३	संवरण	९७
प्रतिषेध	८४	भ्रान्ति	९७
विरोधन	८४	हेत्ववधारण	९७
आदान	८४	दूत	९९
सादन	८५	उपधि	९९
प्ररोचना	८५	रक्षण	९९
निर्वहणमन्धि	८५	चित्र	९९
निर्वहणमन्धि के अग	८६	मद	१००
अर्थ	८६	पताशस्थानक	१००
प्रधान	८६	अथस पनाशस्थानक	१०१
निर्णय	८७	द्वितीय	१०२
परिभाषण	८७	तृतीय	१०३
पुति	८७	चतुर्थ	१०४
प्रसाद	८८	पुतिर्घो एवं उनके विभेद	१०५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भारती वृत्ति	१०६	स्थैर्य	१४१
भारती वृत्ति के चार प्रकार	१०८	वाग्मीय	१४१
प्ररोचना	१०८	ललित	१४१
भान्दी	१०९	औदार्य	१४२
पूर्वरङ्ग	११०	तेज	१४२
सूत्रधार	११०	अभिनय के विभेद	१४३
जर्जरस्तुति	११३	वाक्य-(अभिनय)	१४३
विश्वभूतना	११४	सूचा-(अभिनय)	१४४
प्रस्तावना (तथा उसके अंग)	११९	अङ्कुर-(अभिनय)	१४४
उद्घाट्यक	१२०	शास्त्रा-(अभिनय)	१४४
अवलम्बित	१२१	निवृत्यङ्कुर (अभिनय)	१४५
कपोदूषात	१२१	लक्षण (निरूपण)	१४५
प्रयोगातिशय	१२२	भूषण	१४७-१४८
प्रवर्तक	१२३	गुण निरूपण	१४८
सात्वती वृत्ति	१२५	श्लेष	१४८
सात्वती के प्रकार	१२६	प्रसाद	१४८
उत्थापक	१२९	समता	१४८
परिवर्तक	१२९	माधुर्य	१४८
संज्ञाप	१३०	सुकुमारता	१४८
सांघात्य	१३०	अर्थव्यक्ति	१४८
कैशिकी वृत्ति	१३१	उदात्तत्व	१४८
कैशिकी के प्रकार	१३१	ओज	१४८
नर्म	१३१	कान्ति	१४८
नर्मस्फोट	१३३	समाधि	१४८
नर्मशर्भ	१३४	अचरसङ्घात	१४९
नर्मस्फुल्ल	१३४	शोभा	१५०
आरभटी वृत्ति	१३५	उदाहरण	१५१
आरभटी के प्रकार	१३५	हेतु	१५१
सङ्क्षिप्तक	१३६	मंशय	१५१
अवपात	१३७	दृष्टान्त	१५२
घटतुर्यापन	१३७	प्राप्ति	१५३
सम्फेद	१३८	अभिप्राय	१५३
नायक (के सहज) गुण	१३६	निदर्शन	१५३
शोभा	१३९	निरुक्त	१५४
विलास	१४०	सिद्धि	१५५
माधुर्य	१४०	विरोध	१५५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
गुणातिपात	१५५	विसर्प	१७५
अतिदाय	१५६	उल्लेख	१७५
तुल्यतक	१५७	उत्तेजन	१७६
पदोच्चय	१५८	निवेदन	१७६
दिष्ट	१५९	परीवाद	१७६
उपदिष्ट	१५९	उपपत्ति	१७६
विचार	१६०	परिहार	१७७
विपर्यय	१६०	उद्यम	१७७
अज्ञ	१६१	आशय	१७७
अनुनय	१६१	युक्ति	१७८
माला	१६२	अनुवृत्ति	१७८
दाक्षिण्य	१६२	माहाय्य	१७८
गह्वण	१६३	अद्यमा	१७८
अर्थापत्ति	१६३	प्रदुर्प	१७८
प्रसिद्धि	१६५	पद्यात्ताप	१७९
पृच्छा	१६५	आर्हासन	१७९
स्वरूप्य	१६७	अहङ्कार	१८९
मनोरथ	१६७	अभ्यवसाय	१७९
छेद	१६८	उत्कीर्तन	१८९
सर्वेष	१६८	यव	१८०
गुणकीर्तन	१६९	गुणानुवाद	१८०
अनुक्तसिद्धि	१६९	रस निरूपण	१८२
प्रियोक्ति	१७०	शृङ्गार	१८३
नाट्यालङ्कार	१७१	हास्य	१८४
आशी	१७२	हास के प्रभेद	
आक्रम्य	१७२	(स्मित, हसित, विहसित, उप-	
अभिमान	१७३	हसित, अतिहसित तथा	
कपट	१७३	अपहसित)	१८५-१८९
याश्ना	१७३	करुण	१८९
प्रवर्तन	१७३	रौद्र	१८९
रश्दा	१७३	घोर	१८७
लोभ	१७३	मयानक	१८८
अर्थ विशेषण	१७४	वीर्यस	१८९
प्रोत्साहन	१७४	अद्भुत	१९०
नीति	१७४	मात्र, विभाव एवं अनुभाव-	
आशयान	१७५	निरूपण	१९१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्थायीभाव	१९२	स्तम्भ	२०४
संचारीभाव निरूपण	१६३	स्वेद	२०४
निर्वेद	१९३	रोमाञ्च	२०५
श्लानि	१९३	स्वरभेद	२०५
शङ्का	१९४	वेपथु	२०५
असूया	१९५	वैवर्ण्य	२०५
मद	१९५	अथु	२०६
श्रम	१९५	प्रलय	२०६
आलस्य	१९६	रूपकोके प्रयोगके उपयुक्तसमय	२०७
वैम्य	१९६	भाषाविधान	२०८
चिन्ता	१९६	भाटकीय पात्रों के स्वरूप	
मोह	१९७	तथा कार्य-निरूपण	२०९
स्मृति	१९७	पात्रों की सम्बोधन विधि	२१२
मति	१९७	पात्रों का नामविधान	२१३
ग्रीहा	१९७	पात्रों के सम्बोधन आदि के	
अपलता	१९८	(अनु रूप) शब्द	२१५
हर्ष	१९८	अभिनयादि के सूचक शब्द	
आवेग	१९८	एवं उनकी प्रयोग विधि	२१८
जडता	१९९	नायिकाओं के सहज गुण	२२०
एति	१९९	शोभा	२२०
गर्व	१९९	कांक्षि	२२१
विषाद	१९९	दीप्ति	२२१
औश्चुक्य	१९९	माधुर्य	२२२
निद्रा	२००	धैर्य	२२३
अपस्मार	२००	प्रासाद	२२३
प्रबोध	२००	औदार्य	२२३
अमर्ष	२०१	यौधनावस्थाएँ	२२४
अवहित्य	२०१	प्रथमावस्था	२२५
उग्रता	२०१	द्वितीयावस्था	२२५
ग्याधि	२०१	तृतीयावस्था	२२६
अन्माद	२०२	चतुर्थावस्था	२२७
मरण	२०२	मान तथा उसके विभेद	२२८
व्रास	२०२	भुग्ध	२२८
वितर्क	२०२	मनाहभुग्ध	२२९
शौच	२०३	समृद्ध	२२९
सात्विकभाव	२०३	जतिसमृद्ध	२३०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अवस्थाएँ	२३१	मौग्य	२५७
अभिलाष	२३२	मय	२५८
चिन्ता	२३३	सपन	२५९
अनुस्मरण	२३४	रूपों के (अन्य) भेदोपभेद	
गुणकथा	२३४	निरूपण	
उद्देश	२३५	भाटिका	२६०
विप्रलाप	२३५	छोटक	२६२
आतङ्क	२३६	प्रकरण	२६३
उन्माद	२३६	व्यायोग	२६५
जड़ता	२३७	अङ्क	२६६
मरण	२३८	ठिम	२६६
नायिकाओं के प्रकार	२३९	समवकार	२६७
वासकसंज्ञा	२४०	त्रिविध, त्रिकपट तथा	
विरहोत्कण्ठिता	२४१	त्रिशृङ्गारनिरूपण	२६७
एण्डिता	२४१	ईदामृग	२६८
विप्रलब्धा	२४१	भाण	२७७
कलहान्तरिता	२४२	भाण के अंग	२७९
प्रोपितमर्तका	२४२	गेषपद	२७९
स्वाधीनमर्तका	२४३	स्थितपाठ्य	२८२
अभिसारिका	२४४	आमीनपाठ्य	२८२
कुलजा तथा बेरवा	२४४	वैमृदक	२८२
इनकी चेष्टाएँ	२४५	पुष्पगण्डिका	२८३
समया नायिका	२४६	प्रणदेवक	२८३
चेष्टालङ्कार	२४७	सैन्धव	२८४
लीला	२४८	उत्तप्रयुक्तक	२८४
विलास	२४८	उत्तरोत्तरक	२८५
विच्छिन्ति	२४९	द्विमुक्तक	२८६
विग्रम	२५०	प्रहसन	२८६
किलकिञ्चिद	२५१	बीधी	२८७
मोहापित	२५२	बीधी के अंग	२८७
पुष्टमित	२५२	उद्घाण्यक	२८८
विच्छोक	२५३	अवलगित	२८८
छलित	२५४	नालिका	२८९
निवृत्त	२५५	अवस्थान्दित	२८९
दाय	२५५	असंप्रकाश	२९०
देष्टा	२५६	वाग्देवी	२९१
विशेष	२५७		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सृष्ट	२८१	शून्यत्व	२९६
अधिबल	२८२	प्रलोभ	२९६
छल	२८२	वैशारद्य	२९६
त्रिगत	२८३	सम्प्रेट	२९७
भ्याहार	२८३	आश्वासन	२९७
गण्ड तथा उसके भेद	२८४	बोधन	२९७
अद्वित	२८५	प्रहर्ष	२९८
प्रपञ्च	२८६	प्रद्यस्ति	२९८
गोप्त्री	२८७	प्रस्थान	२९८
सल्लाप	२८७	काव्य	२९९
शिल्पक	२८७	हल्लीसक	२९९
शिल्पक के अंग	२८७	श्रीगदित	२९९
उरुण्ठा	२८८	भाणिका	३००
अवहित्य	२८८	भाणिका के अंग	३००
प्रयत्न	२८९	विम्यास	३००
प्रयत्न	२८९	उपम्यास	३००
आशंसा	२९०	विरोध	३०१
तर्क	२९१	अनुवृत्ति	३०१
संताप	२९१	साध्वस	३०१
ताप	२९२	समर्पण	३०२
उद्वेग	२९२	सहार	३०२
भौक्ष्य	२९३	भाणी	३०२
आलस्य	२९३	दुर्मलिका	३०२
अप्रतिपत्ति	२९३	प्रेक्षणक	३०३
विलाप	२९४	सदृक	३०४
बाग्य	२९४	रासक	३०४
अनुगमन	२९४	नाट्यरासक	३०५
विस्मय	२९५	उल्लाप्यक	३०५
सादृश	२९५	ग्रन्थोपसहार	३०५
उच्छ्वास	२९५	परिशिष्ट	३०५
चमकार	२९५		

ग्रन्थ-सङ्केत

अभिनवभारती	:	अ० भा०
अलङ्कारमंग्रह		अ० सं०
भावप्रकाशन	:	भा० प्र०
दशरूपक	•	द० रू०
कान्यालङ्कारसूत्र	•	का० सू०
कुन्दमाला	•	कु० भा०
मृच्छकटिक	:	मृ० क०
नाट्यदर्पण	:	ना० द०
नाट्यशास्त्र	•	ना० शा०
नाट्यकलङ्काररत्नकोश	:	ना० क० र० को०
रत्नावली	•	रत्ना०
शेखीसंहार	:	शे० स०
अभिज्ञानशाकुन्तल	:	शाकु०
शृंगारप्रकाश	:	शृ० प्र०
साहित्यदर्पण	•	सा० द०



श्रीसागरनन्दिप्रणीतः

नाटकलक्षणरत्नकोशः

सदृष्पण-‘प्रभा’-हिन्दोब्याल्होपेतः

महलाचरणम्—

अगणितगुणौघमिन्धुं नाटकविद्या प्रशशिता येन ।

तमजमनादिमनन्तं गौरीकान्तं नमस्यामः ॥ १ ॥

व्याख्यातुर्महलाचरणम्

सिन्दूरपूरारुणकुम्भदम्भाद् भानु मदान्मूर्ध्नि कलिन्दकन्याम् ।

वधाति यश्चन्द्रधर विजेतु गजानन त हृदि भावयाम ॥ १ ॥

यन्दे निदान जगता हिमाद्रेस्तपसा पशम् ।

संजीवितञ्च शिष्योस्त महो ध्यान्तशान्तये ॥ २ ॥

महलाचरण—अपरिमित गुणों के सागर, अनादि, अनन्त और अनन्ता उन पार्वतीवल्लभ भगवान् शिव को मैं नमस्कार करता हूँ जिनने नाटकविद्या को [ससार में] प्रकट किया ।

१ गौरीकान्तम् = पार्वतीवल्लभ भगवान् शिव । ग्रन्थारम्भ में पार्वती का साथ भगवान् शिव की कन्दना के द्वारा उनका नाटकविद्या के मूलभूत देवता तथा नृत्य के उत्पादक ब्रह्मा देना सूचित किया है, क्योंकि नृत्य के ताण्डव और शास्त्र के विभेदों का क्रमशः शिव और पार्वती के द्वारा स्तुत किया गया था । (उद्ध०—कालिदास—‘रत्नेषु दुर्लभा नृत्यविकीरे रसाद्वे विभक्त द्विधा’ । मालवि० भट्ट ११४) । नाट्यशास्त्र के प्रथम उपदष्टा तथा नृत्यों के प्रवर्तक भगवान् शिव ही थे । प्राचीनकाल में सदाशिवभरत प्रथम प्राचीन नान्द शास्त्र बृहद्द्रष्टा उपलब्ध था जिसके उद्धरण नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्तकृत शारदा (१०१-१ पृष्ठ ९) तथा भावप्रकाशन में प्राप्त हात है (भा० प्र० पृ० १५२) । शिवजी के द्वारा निर्मित इस प्राचीन ग्रन्थ का सदाशिवभरत प्रणीत नाट्यशास्त्र भी माना जाता था ।

काव्यप्रशमा—

कवीनां गुणवत्त्वाच्चं जल्पपर्यन्तवर्तिनीम् ।

कीर्तिं स्वर्गफलप्राप्तिहेतुभूतां प्रमूयते ॥ २ ॥

काव्यप्रशंसा—भक्तप्रियों की गुणशालिनी रचना कल्पान्त तक प्रियमान रहती है तथा ऐसी रचनाएँ स्वर्ग की प्राप्ति में निमित्त बनने वाली कीर्ति की भी वर्जना करती हैं।

तद्गुणनिर्णये शास्त्र प्रमाणमनौ नाटकलक्षण दशरूपमृषिप्रणी-
समन्यमुनिनाम्नैः सञ्चित सोदाहरणञ्च वक्ष्याम ।

कवियों की रचना की गुणशालिता का निर्णय करने में शास्त्र ही मानदण्ड होता है, इसलिए नाटक तथा अन्य (इमों) रूपरा के लक्षणों को मृषि भरतमुनि तथा अन्य आचार्यों के द्वारा अभिहित लक्षणों के साथ उदाहरण देते हुए (प्रस्तुत ग्रन्थ में) बतलाया जा रहा है।

काव्यप्रभेदा —

तस्मान्न द्विधा विदधति सुविधं त्रयमभिनेयञ्च । श्रवणं—मुक्त-
कुल्ल कोश-सर्गजटादिवद्धम् । अभिनेय नाटक, प्रकरण, प्रहसनम्,
अङ्क, व्यायोग, भाण समरकार, वीर्य, टिम ईदामृगश्चेति दशतानि
रूपराणि । अन्यान्यपि नाटकालङ्काराश्च वक्ष्यन्ते ।

काव्य के प्रकार—विद्वज्जन काव्य का दो प्रकारों में विभाजन करते हैं—(एक) दृश्य तथा (दूसरा) श्रव्य। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत मुक्तक, कुल्ल, कोश तथा सर्गजटा काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि)

१ यहाँ 'मुनि' शब्द में केवल नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि का ही अभिहित नहीं किया गया किन्तु भरत के पूर्वजों प्राचीन तथा उत्तरकालीन आचार्यों के लिये भी 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। मुनि का अर्थ हमने 'नाट्यशास्त्र पर रचना करने वाले आचार्य' किया है। प्राचिन ग्रन्थ की यही विदग्धता भी है कि इसमें अनेक शास्त्रीय पद्धतियों पर विभिन्न आचार्यों के मुक्तकाव्यक पद्धति में मन्त्रित्व दिया गया है। नाट्यशास्त्र की कुछ ऐतिहासिक रचनाओं तथा मानवृत्त, दर्प, त्रियम् आदि के मन्त्रों के द्वारा ग्रन्थ में विदग्ध उल्लेख प्राप्य हैं।

रचनाएँ आती हैं। दृश्य (अभिनेय) काव्य के अन्तर्गत रूपकों के दस विभेद आते हैं। जैसे—नाटक, प्रकरण, प्रहसन, अङ्क, व्यायोग, भाण, समयकार, वीथी, डिम तथा ईदामृग

नाटकस्वरूपम्—

तत्र रूपकेषुत्कृष्टत्वाद्बहुगुणाकीर्णत्वाच्च सर्ववृत्तिनिष्पन्नस्य नाटक-
स्यैव स्वरूपनिरूपणमभिधीयते । यथाह भगवान् पितामहः—

नाट्य (नाटक) स्वरूप—सर्वप्रथम हम यहाँ नाटक का लक्षण बतला रहे हैं क्योंकि यह सभी रूपकों में सर्वोत्कृष्ट होता है सभी गुणों से समन्वित और सभी वृत्तियों से निमित्त किया जाता है। जैसा कि भगवान् पितामह (ब्रह्मा) ने कहा है—

धर्मादिसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदकृत् ।

अनुसेनध्वमृषयस्तत्स्योत्थानन्तु नाटकम् ॥ ३ ॥

ऋग्व्यः पाठ्यमभूद्गीतं सामभ्यः समपद्यत ।

यजुर्व्योऽभिनया जाता रसाश्चाथर्वणः स्मृताः ॥ ४ ॥

हे ऋषिगण ! धर्मादि पुरुषार्थ (चतुष्टय) के साधनभूत और सभी (लौकिक) दुःखों के अपहर्ता ‘नाट्य’ का आप सेवन कीजिये। इस नाट्य का मुख्य या उत्कृष्ट रूप ‘नाटक’ माना गया है।

इस (नाट्य) का निर्माण ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत,

१. वृत्तियों के लक्षण (इसी ग्रन्थ में) आगे बतलाए गए हैं।

२. सदाशिव के समान पितामह (ब्रह्मा) भी नाट्यशास्त्र के आदिम आचार्यों में थे पितामह से भी भरतमुनि ने नाट्यवेद का ज्ञान प्राप्त कर नाट्यशास्त्र की रचना की थी। नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में यह कथा विस्तार से दी हुई है। ‘धर्मादिसाधनम्’ इत्यादि कारिका भावप्रकाशन में भी धोदे पाठान्तर के साथ पितामह ब्रह्मा के नाम से उद्धृत मिलती है (द्रष्टव्य भा० प्र० पृ० २३८ G O S Baroda) पितामह ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ प्राचीन था तथा इसे ‘ब्रह्मभरत’ प्रणीत नाट्यशास्त्र भी कहते थे। अभिवनगुप्तपादाचार्य ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में ब्रह्मभरत का उल्लेख किया है परन्तु सगति ब्रह्मभरत का कोई पृथक् ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। (हम विषय में नाट्यशास्त्र के १११ तथा ११७९ पर अभिनवभारती द्रष्टव्य है।)

यजुर्वेद से आद्विज अभिनयो को तथा अथर्ववेद से रसों को लेकर किया गया है।

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।

न तत्कर्म न योगो वा नाटके यन्न दृश्यते ॥ ५ ॥

ऐसी कोई विद्या विज्ञान (शिल्प) ज्ञान, कला एवं मिश्रयोग या कर्म नहीं है जिसे नाट्य में देखा न जा सकता हो ।

महारसं महाभोग्यमुदारवचनान्वितम् ।

महापुरुषमञ्चरं मालङ्कारन्तु नाटकम् ॥ ६ ॥

नाटक में उत्तम या पूर्ण रस (महारस) रहता है, इसमें मनोरञ्जन की अपरिमित क्षमता होती है, इसकी भाषा गभीर होती है, (इसमें) उन्नत पात्रों के कार्य (चरित्र) रहते हैं और (पात्र या नाट्य के) अलंकार का समुचित सन्निवेश रहता है ।

अन्येऽपि —

अपि शक्येत विद्वद्धिर्मुक्तिरभ्यासशालान् ।

न तु नाट्यमिदं सर्वलोफानुरञ्जनी ॥ ७ ॥

अन्य आचार्यों का कथन है कि विद्वज्जन या ज्ञानी पुरुष अपने अभ्यास तथा ज्ञान के बल पर चाह मुक्ति की उपलब्धि सरलता से कर लें परन्तु समस्त भूमण्डल की अनुरञ्जनी नाट्यविद्या की (उपलब्धि या) पूर्णता की प्राप्ति कठिन है ।

तन् किमिदं नाटकं नाम ?

उच्यते—देवादीनां पूर्ववृत्तानुवृत्तिम् । यदाह भरताचार्यः ।

प्रश्न—अन्दाजों फिर इस नाटक का स्वरूप बतलाइ ?

उत्तर—ऐसा ही आदि के द्वारा विदित कार्यों या अतीत की दृश्या का अनुकरण मात्र प्रदर्शन 'नाटक' कहलाता है। जैसा कि यहाँ विवेच्यमूर्ति ने कहा है—

क मुञ्जनामक ५

रञ्जनाती तथा मञ्जुशा० ११७ भा० प्रका० (G O S) पृ० २२२

विशेष उल्लेख प्राप्त है । तथा ११७ पर अभिनवमार्तरी भी दृश्य ।

देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम् ।

पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ॥ ८ ॥

देवताओं, मानवों, राजाओं तथा लोकोत्तर पुरुषों के अतीत में किए हुए सत्कार्यों का अनुकरणात्मक प्रदर्शन ‘नाटक’ कहलाता है ।

प्रख्यातवस्तु विषयं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

राजर्षिवंशचरितं तथा दिव्याश्रयोत्थितम् ॥ ९ ॥

नानाविभूतिसंयुतमृद्विविलासादिभिर्गुणैर्युक्तम् ।

अङ्क-प्रवेशकाल्यं भवति हि तच्चाटकं नाम ॥ १० ॥

(ना० शा० १८।१०-१६)

जिसकी कथावस्तु प्रख्यात हो, नायक प्रसिद्ध और उदात्त (धीरोदात्त) हो, राजाओं की जीवनी हो, दिव्य पात्रों या घटनाओं के सहारे जिसमें नायक का उत्थान घटलाया जाता हो, जिसमें विभूति, समृद्धि, विलास आदि गुणों का समावेश हो तथा जो अङ्क और प्रवेशक से युक्त हो तो उसे ‘नाटक’ समझना चाहिए ।

तथा पुनरप्याह—

नृपतीनां यच्चरितं नाना-रसभावचेष्टितैर्बहुधा ।

सुखदुःखोत्पत्तिकृतं विज्ञेयं नाटकं नाम ॥ ११ ॥

इति ।

(ना० शा० १८।१२)

आचार्य भरतमुनि ने (इसके अतिरिक्त) और भी कहा है—जिसमें सुख-दुःख तथा अनेक रस-भावों से अभिव्यक्त होने वाला राजाओं का चरित्र प्रदर्शित किया जाता हो तो उसे ‘नाटक’ समझना चाहिए ।

तत्र प्रख्यातवस्तुविषयमिति राजर्षिवंशजातानां राज्ञां प्रसिद्ध-

१. कथावस्तु के तीन प्रकारों में प्रख्यात कथावस्तु का आधार पुराण या इतिहास होता है । प्रख्यात कथावस्तु के अन्तर्गत किसी राजा को ही नाटक का नायक बनाने का अभिप्राय है धार्मिक तथा नीति आदि से परिचालित जीवन के व्यवस्थित पक्ष का प्रदर्शन करना । इसके पीछे नाटक द्वारा नैतिकता के प्रतिपादन का उद्देश्य परिलक्षित होता है जो नाटक की चरमपरिणति तथा पूर्ण विकास की दशा के पश्चात् अपेक्षित हो गया था ।

माख्यानं वस्तु यन् स्वतः लोमानामनुरञ्जनकर्म । यथा-रामस्य पितुराज्ञा-
नुष्ठानादिदुष्करक्रियाऽयत्रसाय प्रियापहारमन्युप्रतिहरणोचितरावण-
वधविक्रमानुष्ठानधर्म, तथा जीमूतवाहनदीनां शरीरदानादिदुष्करक्रि-
याऽऽचरणम्, एवम्भूतमाख्यानं वस्तु विषयो यस्य ।

राजर्षिवंशचरितमिति-सौमसूर्यवंशजातानां चरितम् । दिव्याथयो-
स्थितमिति-दिव्याना महेश्वरजीमूतवाहनादीनां चरितम् । सुखदुःखोत्पत्ति-
कृतम्-तदेतद्रामयुधिष्ठिरवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तमेव ।

प्रख्यात (कथा) वस्तु का आशय है कि इसमें किसी प्रसिद्ध
राजवंश में जन्म लेने वाले राजा की कथा रचना चाहिए, क्योंकि
नाटक का मुख्य कार्य होता है प्रजाजन का अतिशय मनोरंजन करना ।

जैसे : धीराम का अपने पूज्य पिता की आज्ञा पालन करने के लिए
कठिन व्रत या कष्टपूर्ण जीवन को स्वीकार करना और अपनी भार्या के
अपहरण करने पर क्रोध से अपने शत्रु रावण के पक्ष के लिए पराक्रम-
पूर्वक ऐसा कार्य करना जो कि धर्म या कर्तव्यपालन है । इसी प्रकार
जीमूतवाहन आदि उदात्त नायकों का अपने शरीर तक को परोपकारार्थ
अर्पण कर देना आदि लोकोत्तर कार्यों का आचरण करना । अतएव इसी
प्रकार के प्रेरक या लोकोत्तर कार्यों से पूर्ण आख्यान जिनकी कथावस्तु
बनें वे ही 'नाटक' हो सकते हैं । नाटक में राजाओं की जीवनी रचने
का आशय है कि नाटक की कथावस्तु चन्द्र या सूर्यवंश में उत्पन्न होने
वाले प्रसिद्ध राजाओं की जीवनी हो । दिव्य पात्रों के सहारे उत्थान का
आशय है कि (नाटक में) भगवान् शिव या जीमूतवाहन जैसे
नायकों का चरित्र रचना चाहिए ।

१. 'वस्तु' का दूसरा अर्थ है इतिवृत्त है । अतः में 'इतिवृत्तं तु नाट्यस्य
शरीरम्' (अध्याय २११) में कथावस्तु की इतिवृत्त भी कहा है । यही नाट-
कीयकथा भी कहलाता है । आजकल इन दोनों शब्दों को मिलाकर कथावस्तु
(Plot) शब्द गढ़ लिया गया है जो बहुत प्रचलित है ।

२. जीमूतवाहन-नागानन्द नाटक के नायक (रिचाथर चन्द्रर्मी) का नाम ।

३. 'त्रिपुरादह' नामक हिम में शिवजी नायक थे । हयग्राजस्य
नाट्यशास्त्र में (४११०) मिलता है तथा हयग्राज त्रिपुरादह के प्रदर्शन का
उल्लेख भी किया गया है जो संभवतः प्राचीन तथा प्रथम नाट्यरचना थी ।

सुख और दुःख से मिश्रित या उत्पन्न होने वाले चरित्रों का श्रीराम तथा युधिष्ठिर के जीवन में घटित कार्य या घटनाओं से स्वतः स्फूर्ति-करण हो जाता है।

वस्तुस्वरूपं तदुभेदाच्च—

तस्यैवविषयस्य नाटकस्येतिवृत्तं भवति उपात्तं प्रतिसंस्कृतञ्च ।
उपात्तं पुराणसिद्धं रामादिवृत्तान्तं । प्रतिसंस्कृतं यद् उपात्तं केवलं
कविना ‘किञ्चिदुत्पाद्यं वस्त्विति’ मुनिवचनात् प्रपञ्चितम् । यथा—
नागानन्दे गौरीगृहाद्यङ्गत्रयं वर्तमानमपि नृपतेर्महाभूतस्य कविबुद्धि-
प्रकर्षादासादितधीजविन्द्रादिकं यदि भवति भवत्येव (तन्)
नाटकविषयम् ।

कथावस्तु तथा उसके विभेद—(इस प्रकार के) ‘नाटक’ की कथावस्तु
या तो उपात्त^१ होता है या प्रतिमस्कृत^२ । उपात्त कथावस्तु वह है जो
पुराणों में प्रसिद्ध (घटनाएँ) हों; जैसे श्रीराम आदि के चरित्र ।
प्रतिमस्कृत कथावस्तु वह है जिसे परम्परा में केवल कविजन गृहीत
करते रहे हों । मुनि^३ ने कहा है कि प्रतिसंस्कृत-कथा में उत्पाद्य या
कल्पनाप्रसूत कथाओं को रखा जा सकता है । हमने मुनि का यही मत
यहाँ दर्शाया है । जैसे नागानन्द नाटक में गौरीगृह से आरम्भ होने
वाले तीनों अङ्क । यदि किसी वर्तमान महासत्त्व नृपति की जीवनी में
भी कविमौलाल से श्रीज, विन्दु आदि नाट्याङ्गों को पूर्ण व्यवस्थित रूप
में निरूपित करने हुए रखा जाए तो ये भी किसी नाटक की कथावस्तु
बन सकते हैं ।

१. प्रकथान इतिवृत्तं या वस्तु के उपात्त तथा प्रतिसंस्कृत उपभेद ही
मानना चाहिए । इस प्रकार महाकाव्य, पुराण (तथा इतिहास) से ली गयी
कथा का नाटकीय प्रस्तुतीकरण ‘उपात्त’ तथा मूल कथा में कथित घटनाओं
का संयोजन या परिवर्तित रूप में मूलकथा का प्रस्तुतीकरण ‘प्रतिसंस्कृत’
समझना चाहिए ।

२. यह मत ‘मातृगुप्त’ का है । आरदाशनय के इस मत को अपने ग्रन्थ
में भी निर्दिष्ट किया है । (दृष्टव्य—भावप्र० पृ० २३४) ।

अथावस्था —

तस्येतिवृत्तस्य पञ्चावस्था भवन्ति ।

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारकस्यैव यः ।

तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥ १२ ॥

यथारम्भः प्रयत्नश्च प्राप्तिमम्भश्च एव वा ।

नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ १३ ॥ इति

(ना० शा० २१।७-८)

अवस्थाएँ—इस कथानस्तु या इतिवृत्त की (अगभूत) पाँच 'अवस्थाएँ' होती हैं ।

फलप्राप्ति के लिए उसके कर्त्ता या नायक का जो कार्य होता है उसकी क्रमशः पाँच अवस्थाएँ प्रयोक्ताजन जानें । ये हैं (१) आरम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्तिमम्भ, (४) नियतफलप्राप्ति तथा (५) फलयोग ।

आरम्भ —

तत्र बीजस्यौत्पुब्यमात्रबन्ध आरम्भः । यथा कौशलाङ्के—

गुरोराज्ञा यत्र प्रभवति नितान्त न निवृत्ति

मुदे जातिप्रोतिर्भवति न पुनः कार्यपरता ।

न नन्दन्त्युद्धृता प्रियमुपगता यत्र मुद्ददो

गुणा हीष्टा यत्र प्रवृत्तिचपला नार्थविषयाः ॥

तद्विधातुमयमारम्भः ।

आरम्भ—इनमें 'आरम्भ' अवस्था उसे कहते हैं जिसमें प्रेक्ष्य पूर्ति के लिए इच्छा या कीतूदल का बीजरूप में प्रदर्शन होता हो । जैसे कौशलाङ्क में—

जहाँ पिता [जी का आदेश पालन ही मुख्यतः किया जाता है, पराभव नहीं, जहाँ अपने परिवार के प्रति प्रीति ही आनन्द माना जाता है, अपने कार्यों में तत्पर रहना नहीं, प्रियवस्तु को पाकर जहाँ मित्रगण ही प्रमत्त होते हैं, उद्दण्ड स्प्रेन्द्राचारी तन नहीं और जहाँ स्वभावतः

अस्थिर या परिवर्तनशील गुण ही अभीष्ट होते हैं सांसारिकपदार्थों की ओर मुड़ना नहीं ।

इन्हीं सब कार्यों को करने के लिये ‘आरम्भ’ नामक (यह) अवस्था रखी गयी है ।

प्रयत्न —

प्रयत्न इति । फलयोगमपश्यत एव तत्र व्यापार प्रयत्नः । यथा कुलपत्पङ्के—‘जात मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धृतमिति’ ।

प्रयत्न—फलप्राप्ति की परवाह किये बिना उसके लिए किया जाने वाला (सतत) कार्य ‘प्रयत्न’ कहलाता है । जैसे कुलपत्यक^१ में—‘मेरे लिये चन्दन का लेपन’ रख मलने जैसा कष्टदायी हो गया है, इत्यादि वचन ।

प्राप्तिसम्भव

प्राप्तिसम्भव इति । भावमात्रेण फलस्य या प्राप्तिः सा प्राप्ति-सम्भवः । यथा सुग्रीवाङ्के—

त्वङ्मत्पिङ्गप्रभाभि प्लुतकनकगिरिभ्रान्तिमुत्पादयन्तो
वक्त्रैर्लक्षारसामै सपदि विदधतानेकमूर्यामिव धाम् ।
येल्लङ्घ्यगूलहेलाचलितकृतगिरिव्यस्तयन्या भरित्री
कुर्वाणाः सम्पतन्तु क्षय इव मरुतो वानरा राक्षसेषु ॥

प्राप्तिसम्भव—जब किसी फल की केवल विचार मात्र में उपलब्धि हो तो उसे ‘प्राप्तिसम्भव’ समझना चाहिए । उदाहरणार्थ सुग्रीवाङ्क^२ में—
“अपने शरीरों की पीली चमक से डडते हुए सोमे के पर्वतों का भ्रम पैदा करने वाले, लाख के समान अपने लाल मुखों से उदय होने वाले अनेक सूर्यों से युक्त आकाश को घना देने वाले और पूँछ की पटवारों से पृथ्वी के अनेक पर्वतों की जड़ों को ढीला कर देने वाले (ये) चानर राक्षसों का नाश करने के लिए आर्याचक्र के समान टूट पड़ेंगे ।”

१. मायुराज या मानुराज विरचित ‘उदात्तराघव’ नाटक के द्वितीयअङ्क का नाम ।

२. सुग्रीवाङ्क = उदात्तराघव के चतुर्थाङ्क का नाम ।

यहाँ मोता की स्थिति मात्र के अग्रगत हो जाने पर राक्षसों के नारा का विचार करने से (इसे) 'प्राप्तिमम्भत्र' समझना चाहिए ।

नियनाप्ति —

नियनाप्ति निश्चिना फलप्राप्तिरुपस्थितेति यावत् ।
यथा वेणीमहारे—

पूर्णता सल्लिप्तेन रत्न-कलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्जिते च कनरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
गमे शातकुटार-भामुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुत शशय ॥
(वे० सं० ६।१२)

नियतफलप्राप्ति—जहाँ निश्चिन्त [नियत] रूप में फल की प्राप्ति हो जाए उसे 'नियतफलप्राप्ति' समझना चाहिए । जैसे वेणीमहार में—
“अपने राज्याभिषेक के लिए रत्न के कलशों में जल भर दिया जाए । कई दिनों से सूखे हुए अपने केशों को बाध कर श्रीपक्षी उत्सव मनाए । क्षत्रियरूपी वृक्ष को उखाड़ने और तीक्ष्णधार वाले परशु का धारण करने से चमचमाने जायों वाले भगवान् परशुराम और क्रोध के कारण मदमत्त हो जाने वाले भीमसेन के युद्ध में उतरजाने पर फिर (इनकी) सफलता में भला किसे मन्देह हो सकता है !”

अथवा अरानेरपचयपरम्परा नियता च फलप्राप्तिरिति अस्मद्वृद्धः ।

यथा जानकीराधो पृष्ठाङ्गे लक्ष्मण —

दूरश्रोत्रननुम्भकर्णविटपी छिन्नम्बुया शशजित्
स्थानु क्षमाङ्गमितो निकुञ्जगहन. कुम्भ म चोन्मीलित. ।
पौलस्त्यं कञ्जरद्रुमस्थितमनीमानामदुर्गं अस्ति ते
धम्मन्थ व्यमनाट्यौ किमवुनाप्यायौ यदुत्तम्यति ॥

अस्मद्वृद्ध आचार्य का कहना है कि जब शत्रु की निरन्तर पराजय होती जाए तो उसे 'नियतफलप्राप्ति' समझना चाहिए । जैसे जानकी राधा के छंदे अष्ट में :—

लक्ष्मण—आपने दूर तक फैले हुए उस उन्नत कुम्भकर्ण रूपी वृक्ष को काट दिया, इन्द्रजीत रूपी ठूठ का पृथ्वी पर लुढ़का दिया और उस (कुम्भ ?) की घनी फैली हुई झाड़ियों को उखाड़ डाला है। अब अकेला सेनाहीन रावण रूपी पुराना वृक्ष सरलता से उखाड़ा जा सकता है जो बिना किलावन्दी के अपने स्थान पर जम कर डटा हुआ है। हे आर्य ! इस प्रकार दुर्भाग्य रूपी सम्पूर्ण वन उखाड़ा जा चुका है, अब आप क्यों अपने मन को अधीर कर रहे हैं ?

फलयोग —

अभिप्रेतमनुरूपं क्रियाफलं यत्र निष्फलं स फलयोगः । यथा जानकीराघवे प्रथमाङ्के—

सीता—(समयम्) अइ रामभइ, परितायेहि । हरदि मं रक्खसाहमो (अयि रामभद्र परित्रायस्व । हरति मां राक्षसाधम.)

प्रियंवदा—हला मा भायादि । जइ असौ तुम हरिस्सेदि ता वाणरचअपरिवुत्तो समुद्रकन्तारं विलधिअ रामभद्रो एदं रक्खसाहमं वावाइस्सदि तुमं अ पच्चाहरइस्सदिच्छि तङ्गेमि । (हला मा मैपी । यद्यसौ त्वा हरिष्यति तदा वानरचपपरिवृतस्समुद्रकान्तारं विलङ्घ्य रामभद्रः पुनं राक्षसाधमं व्यापादयिष्यति त्वाञ्च प्रत्याहरिष्यतीति तर्कयामि ।)

फलयोग—जब किसी के अनुकूल कार्य या परिणाम व्यर्थ हो जाए तो उसे ‘फलयोग’ समझना चाहिए। जैसे जानकीराघव के प्रथमाङ्क में—

सीता—(डरते हुए) हाय ! राम, मेरी रक्षा कीजिये। यह नीच राक्षस मुझे हर ले जा रहा है।

प्रियंवदा—सरि, क्यों डरती हो, यदि वह तुम्हें हर लेगा तो रामभद्र यानरों की सेना लेकर, वन और समुद्र को लाघ वर उस नीच राक्षस को मार डालेंगे और तुम्हें वापस लौटा लाएंगे। मैं तो यही सोच रही हूँ।

इति मुखसन्धाबुदीर्णं यद्वावणव्यापादनं सीताप्रत्याहरणञ्च तन्निवर्हणसन्धौ ‘लङ्काधीशप्रभृति रिषो घातितास्ते च साध्वी लब्धा सीते’-

त्यादिना द्वयमपि साधितम् । इति पूर्वोक्तस्याविरोधेन रावणस्य यो वध
सीतायाश्च प्रत्याहरणं स फलयोगः प्रतिपत्तव्य इति ।

इस प्रकार मुग्नमन्त्रि में वनलाप हुए—रावण का वध और सीता
का लौटा लाना—इन दोनों कार्यों की निर्वहणमन्त्रि में 'लङ्का के
म्यामी रावण आदि शत्रुओं को मार डाला गया है और पतिव्रता सीता
को प्राप्त कर लिया गया है' (इत्यादि) वचनों के द्वारा मिथि की
गयी । इसे ही पिद्मली वार कहे गए कथन के अनुकूल कार्य सम्पादन
करने के कारण (अर्थात् रावण का वध और सीता का लौटाना इन
दोनों कार्यों को) 'फलयोग' समझना चाहिए ।

एताश्च पञ्चावस्था मन्त्रेष्वनो मातृगुप्तेन कथ्यन्ते—

आरम्भो रावणवधे सरप्रभृतिर्वधमम् ।

प्रयत्नः शूर्पणखा कृतः सीतापहारतः ॥ १४ ॥

मुग्रीरम्य च मन्त्रेण मञ्जातः प्राप्तिमम्भरः ।

नियता फल—सम्प्राप्तिः बुम्भरुणादिमङ्गये ॥ १५ ॥

यो देव राक्षसपतेः कार्या दुष्टमतेर्धः ।

फलयोगः स गमस्य धर्मकार्यार्थमिदमे ॥ १६ ॥

एतत्तु राघवाभ्युदये मुख्यमेव ।

मातृगुप्ताचार्य ने इन्हीं पाँचों अवस्थाओं को मन्त्रों में इस प्रकार
बताया है —

रावण वध के लिये पूर्व में सरदूपण आदि राक्षसों का वध करना
'आरम्भ' शूर्पणखा के द्वारा किया हुआ सीता हरण तट्ट का कार्य
'प्रयत्न', श्रीराम की सुधीर के साथ मैत्री करना 'प्राप्तिमम्भर', बुम्भरुण
आदि राक्षसों का नाश हो जाना 'नियतफलप्राप्ति' तथा अन्त में
श्रीराम द्वारा दुष्टात्मा रावण के लिये जाने वाले वध को ही श्रीराम को
धर्म, अर्थ तथा काम का साधक होने के कारण 'फलयोग' समझना
चाहिए ।

ये सभी अवस्थाएँ राघवाभ्युदये स्पष्टतः उपलब्ध हैं ।

तत्राटकं मिश्रं कर्तव्यम् । उत्तमाधममध्यमपात्राणां मायाभिर्मिश्रं
कर्तव्यम् । मायाश्च—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।

वाहीकी दाक्षिणात्या च सप्तैताः परिकीर्तिताः ॥ १७ ॥

नाटक की रचना भिन्नभाषाओं में की जाती है अर्थात् इसमें उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों की भाषाओं का मिश्रण रहता है। ये भाषाएँ सात (मानी जाती) हैं। यथा—मागधी, अगन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाहीकी और दाक्षिणात्या ।

तद्विभागोऽन्यत्र दर्शयितव्यः । इह तु ग्रन्थविस्तरमभ्यान्त दशितः ।

मृदुशब्दाभिधानञ्च कर्तव्यमिति—मृदु सुकुमार शब्दोऽत्र विधातव्यः । अभिधानमपि प्रसिद्धं सुबोधत्वान्मृदु कर्तव्यम्, न तु मा स्पृशेति वक्तव्ये लक्षणाधीनतया मा स्माक्षीरिति वक्तव्यम्, चन्द्रमुखीति वक्तव्ये धवलमुखीति न वक्तव्यमित्यर्थः ।

इन भाषाओं का विभाग अन्य ग्रन्थों में दिखलाया गया है, हम उसे यहाँ विस्तार भय के कारण यहाँ नहीं दिखलाना चाहते हैं ।

नाटक में कोमल शब्दों (यथा अभिव्यञ्जनाओं) का प्रयोग रहना चाहिए अर्थात् सुकुमार शब्दरचना नाटक में रखी जाए । ये शब्द ऐसे हों कि उनका अर्थ प्रसिद्ध, सहज और शीघ्र अवगत हो जाए और उसमें कोमलभाव भी हों । जैसे ‘मा स्पृश’ के स्थान पर व्याकरण आदि शास्त्रों के आग्रह पर ‘मा स्माक्षी’ का प्रयोग नहीं करना चाहिए या ‘चन्द्रमुखी’ के स्थान पर धवलमुखी पद का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए ।

नाटकादीन्येतानि भारतवर्षमधिकृत्य कर्तव्यानि । तत्रैव सुखदुःख-योस्मिन्भवः । अन्यत्र सुखमेव न दुःखमस्ति । अत एवाचार्यः—

इस नाटक आदि (रूपक के प्रकारों में) भारतवर्ष में घटित घटनाओं की ही रचना चाहिए क्योंकि मानव जीवन में सुख-दुःख की (व्यवस्थित) प्राप्ति यही होती है । अन्यत्र (या दूसरे वर्षों में) केवल सुख ही रहता है दुःख नहीं । दूसरे वर्षों में जो परत (उपरान) आदि हैं उनमें केवल विहारजन्य आनन्द ही उपलब्ध होता है और इसीलिए वहाँ दुःख का मिश्रण नहीं हो पाता । इसी को आचार्य (भरतमुनि) ने बतलाया है । यथा :—

तद्भारतेऽत्र वर्षे कर्तव्यं काव्यग्रन्थेषु ।

तस्माद्भारतमिष्टं वर्षेष्वेतेषु विदितेषु ॥ १८ ॥

उपवनगमनक्रीडाविहारनारीरितप्रमोदाः स्युः ।

तेषु हि वर्षेषु सदा न तत्र दुःखं न चा शोकः ॥ १९ ॥

ये तेषामपि वासाः पुराणवादिषु पर्यताः कथिताः ।

मम्मोगस्तेषु भवेत्कर्मारम्भस्तथा ह्यस्मिन्निति ॥ २० ॥

शेष सुबोध एव ।

(ना० द्या० १८।९७-१००)

नाटक आदि में रहने वाली सारी घटनाएँ भारतवर्ष में घटित होने वाली रहनी चाहिए । इसीलिये इन सारे ज्ञात या प्रसिद्ध स्थानों में नाटकीय घटनाओं का लक्ष्यभूत प्रदेश भारतवर्ष ही माना जाता है । क्योंकि दूसरे वर्षों या लोकों में मदा उपवनविहार, आमोद-प्रमोद, क्रीडा, विलास, स्त्री-क्रीडाएँ आदि होते रहते हैं इसीलिए वहाँ कभी शोक या दुःख नहीं रहते । पुराणों में जिन दिव्य लोक या पर्यतो का वर्णन दिया गया है वहाँ (दिव्य या अन्य प्रकारों वाले) पात्रों का विहार, आमोद प्रमोद हो सकता है किन्तु वार्यों का क्षेत्र भूमण्डल या भारतभूमि ही रहना उचित होता है ।

शेष बातें स्पष्ट हैं ।

अर्थ—महृतय —

अस्य च नाटकस्य पञ्चार्थप्रकृतयो भवन्ति । नाटकीयवस्तुन पुर्योक्तस्य पञ्च महृतय स्वभावा भवन्ति । नैतान्परित्यज्य नाटकार्याः सम्भवन्ति । तद्यथाचार्य —

अर्थप्रकृति—नाटकीय कथावस्तु में पाँच 'अर्थप्रकृति' होती हैं । अर्थान् पहिले जिस कथावस्तु को मतलाया जायुका है उसकी च

१ यहाँ सामान्यतः पृथ्वी के तथा विशेषतः भारतीय वायुमण्डल के अनुकूल मानवों के जीवन पर आधारित रूपकों का ही निर्माण करने पर ध्यान देने का आशय है—पात्रों के जीवन तथा कथों से मानवी भावना की समानता रहना, क्योंकि सदृज भावों के अनुकूल पात्रों के जीवन या कार्य न रहें तो सम्-प्रतीति में बाधा उपरिपन्न होगी । इसी कारण सभी रूपकों का कार्यक्षेत्र भूमण्डल पर सामान्यतः तथा भारतवर्ष पर विशेषतः घटित घटनाएँ ही रखा जाता रहा है, क्योंकि रस संचार के अतिरिक्त नाट्यप्रदर्शन का दूसरा कोई कार्य मुख्य नहीं होता है (यदि रसादमे कश्चिदप्य स्वापारम्भः ॥ भर० नाट्य०) ।

पाँचों अर्थप्रकृतियों स्वभाव मानी जाती है और इन्हें छोड़ कर नाटकीय कथावस्तु का कोई स्वरूप या उद्देश्य नहीं होता। जैसा कि आचार्य (भरत) ने भी कहा है —

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ २१ ॥

(ना० शा० २१।२०)

कथावस्तु की स्वभावस्वरूपा इन पाँच अर्थ प्रकृतियों को अवश्य जानना चाहिए और इनका नाटकीय सन्निधान में यथोचित संयोजन (भी) करना चाहिए। ये अस्त्याएँ हैं : (१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी तथा (५) कार्य।

तत्रबीजम्—

बीजं नाटकार्थस्य फलभूतस्य कारणम् । तद् यथा—

किञ्चित्मात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।

यावत्फलप्राप्तयानश्च तद्बीजमिति कीर्तितम् ॥ २२ ॥

किञ्चित्स्तोत्रं प्रसंगच्छायापक्षेपप्रभृतिभिरङ्गैस्समुद्दिष्टं कथितम् ।

बहुधा विसर्पति फलप्राप्तयानं यावत्तद्बीजमित्यर्थः ।

बीज—नाटक के प्रमुख फल या लक्ष्य का मूलभूत कारण ‘बीज’ कहलाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है—‘रूपरु के आरम्भ में जो अल्प मात्रा में संकेतित या सूच्य होकर अपना विस्तार आगे लक्ष्यसिद्धि या फलप्राप्ति तक करवा चले और फल के पूर्णतः उपलब्ध होने के बाद समाप्त हो जाए तो फलप्राप्ति तक निरन्तर विद्यमान रहने वाले अर्थ प्रकृति के उस अङ्ग को ‘बीज’ कहते हैं।’

लक्षण में ‘थोड़ी मात्रा में संकेतित करने’ का आशय है कि यह श्रेय, हानि या उपक्षेप (सूच्यत्व) में से किसी एक अङ्ग के द्वारा कहा जाता

१. बीज के गृह्यारम्भ में भी इसी मात्र को स्पष्ट करते हुए पताका है। जैसे बीज का आरोपण क्रमशः जड़ लगाने, पत्ते निकलने, डाल बढ़ने से लक्ष्य वृक्ष का स्वरूप धारण करते हुए पत्तन पुष्पादि में विस्तार करते हुए फल देना है उसी प्रकार नाटकीय बीज को भी समझना चाहिए। (दृष्ट० गृ० प्र० अध्याय १६, बीजलक्षण)

है। 'अपना विस्तार करे' से आशय है कि अर्थप्राप्ति के (फलोपलब्धि के) बाद ही यह अपने व्यापार का सकोच या सहार करता है और फल-प्राप्ति तक बराबर विद्यमान रहता है।

अन्यस्त्वाह—

इष्टार्थसाधनं बीजमुत्पत्पातमुद्धतम् ।

अन्विष्टं फलितं पञ्च सन्दिष्टान् दर्शयेत् क्रमात् ॥ २३ ॥

दूसरे आचार्यों का कहना है कि—

'इष्ट' या उद्दिष्ट प्रयोजन का साधन 'बीज' कहा जाता है, और यह क्रमशः बोल जाने, अङ्कुरित होने, उठने, फैलने और फलने की पाँचों अवस्थाओं को अपने विकास के द्वारा विखलाता है।

तत्र प्रवृत्तेषु द्वयर्थवचनम् । छाया कथासाम्यम् । उपश्लेष अर्थोप-
स्थानम् । एभिर्द्वैस्तद्बीजमुच्यते ।

यहाँ श्लेष का अर्थ है (पात्र के) कथन में दो अर्थों का एक साथ रहना। छाया का अर्थ है कथाया कथन में समानता रहना। किसी अर्थ को उठाना या सचेतित करना 'उपश्लेष' होता है। इन अङ्गों के द्वारा या विद्यमान रहने के कारण यह 'बीज' कहा जाता है।

तत्र श्लेषः यथा वेण्याम्—

सत्पक्षा मधुरगिरि प्रमाधिताशा मद्रोद्धतारम्भा ।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥ (वै० १।६)

जैसे श्लेष का उदाहरण वेणीसंहार में :—

अर्थ—अच्छे पक्ष (परत मन्त्रायक) बाने, मधुरभाषी, दिशार्थों का प्रमाणित (भूषित, अधीन) करने बाने ये धार्तराष्ट्र (हम, धृतराष्ट्र के पुत्र कीरवर्ण) आज कालवश (शरदःशुक्ल के या श्रुत्य के समय के उपस्थित हो जाने के कारण) पृथ्वी पर आ रहे हैं (उतर रहे हैं, गिर रहे हैं)।

छाया यथा जानकीराधने—

नीता दुर्गमगाथरारिषिन्त्य दैत्येन हत्वा च तं

य पृथ्वा भुजगेन्द्रभोगमुत्तमं प्रयानयत् प्रेयसीम् ।

मीठा क्रीडतु स क्रेटमरिषु पुण्यातु युष्माञ्जगत ।

स्वास्थ्यम्यस्त्ययनैकहेतुरमरै सानन्दमभ्यर्चित ॥

छाया का उदाहरण जैसे जानकीराघव ने —

संसार के सुख और कल्याण के एकाग्र कारण वे भगवान् शिष्य आपरा पावन करें जिनने दैत्यों द्वारा अगाध समुद्र-तल में पहुँचायी गयी पृथ्वी के नपों के निवास-स्थान (पाताल) से प्रेयसी के समान लौटा ली और (उस) असुर का संहार कर दिया, जिनने लीला के लिए ही बाराह शरीर धारण किया, क्रेटभ दैत्य का संहार किया तथा जो देवताओं द्वारा आनन्दपूर्णक अर्चित हुए ।

उपश्लेषः यथा कुन्दमालायाम्—

सूत्र—क एष आर्याह्वानेन साहायकं मे सम्पादयति (निरूप्य)
कष्टमतिक्रम्य वर्तते ।

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिर स्थितेति

रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।

निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुनीं

सीता वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् । (कु० मा० १।८)

उपश्लेष का उदाहरण जैसे कुन्दमाला में :—

सूत्रधार—अरे यह कौन है जो आर्या को बुलाने में मेरा हाथ बटा रहा है । (ध्यान से देख कर) हाय ! हाय ! बड़ा कठणाजतक दाय है—

लंका के स्वामी रावण के राजभवन में यह कई दिन रही इस जनापवाद के भय से घबड़ाए हुए श्रीराम के द्वारा गर्भ के भार से भारी हो रही इस सीता देवी को अपने प्रदेश से बाहर यन में पहुँचाने के लिए लक्ष्मण जल्दी-जल्दी ले जा रहा है ।

विन्दुः—

विन्दुरिव विन्दुः । विच्छिन्नायामपि धारायां यथा जलविन्दुः

१. यह जानकीराघव का नाम्दीप्य (सा) प्रतीत होता है ।

२. ना० ल०

पटलपर्यन्तेष्वन्तरान्तरा लब्धनिजनिपात पयसा पतनमभिन्मजयति
तथायमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

बिन्दु—'बिन्दु' जलबिन्दु के समान होता है । जैसे जल-धारा के टूट जाने पर भी जलबिन्दु धूँओं के बीच-बीच में गिराते हुए अपनी स्थिति बनाए रखता है और जलधारा के गिरने की सूचना देता रहता है ठीक उसी तरह बीच-बीच में विच्छिन्न होने पर भी अविच्छिन्न सा रहकर यह बिन्दु भी प्रयोजन की सूचना देता है ।

यथा—

प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम् ।

यावत् समाप्तिं कार्यस्य स बिन्दुरिति कथ्यते ॥ २४ ॥

इस प्रकार बिन्दु यह है जो प्रयोजनों के बिखर जाने पर भी उनकी अविच्छिन्नता का कारण बन कर कार्य या फल की पूर्णता पर्यन्त बना रहता हो । (अर्थात् आनुपद्धिक कार्यों के मध्य या उन कार्यों के द्वारा प्रधान प्रयोजन के थोड़ा विच्छिन्न हो जाने पर भी जो कथावस्तु की अविच्छिन्नता को बनाए रखने में कारणीभूत हो उसे 'बिन्दु' समझना चाहिए ।)

यथा वेण्यां भीम —

लाक्षा-गृहानल-विपान्न-सभा प्रवेशैः

माणेषु विचिनिचयेषु च न प्रहस्य ।

आकृष्य पाण्डवधूपरिधानकेशान्

स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा ॥ (वे० १।८)

जैसे वेणीसंहार में —

भीमसेन—लाक्षागृह में आग लगा कर, रिपपूर्ण भोजन घरवा घर और सभा में हमारा अपमान कर, हमारे प्राणों और सम्पत्ति पर प्रहार कर तथा पाण्डवों की धर्मपत्नी के पेश और वस्त्रों को खींच कर भी धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते जी म्वम्य बने रहेंगे ?

इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में दुर्योधन द्वारा किये हुए अनेक अपमानों की परम्परा बतलाते हुए वीर्य-श्रयरूपी प्रयोजन की अविच्छिन्नता प्रकट की गयी है ।

अन्ये तु । यदि नाटकार्यस्य प्रकृतिभूतमवमानोत्साहाभ्यां प्रत्यङ्कं परिकीर्त्यते स बिन्दुः । यथा राघवाम्युदये कैकय्याः प्रत्यङ्कमुत्कीर्तनम् । वेण्याञ्च कीर्त्यते द्रौपदीकेशाकर्षणम् । उत्साहे च जीभूतवाहनस्य सर्वाङ्गे कीर्तनमिति । स च कार्यस्य समाप्तिं यावत् प्रवर्तयितव्यः । यथा जानकीसंहाराङ्गे राम —

ताताज्ञाया स्थितमविकृत कैकयीप्रार्थितानां
लब्धस्तेषामवधिरटवीवाससंबत्सराणाम् ।
लङ्काधीशप्रभृतिरिषवो धातितास्ते च सीता
साध्वी लब्धा किमधिकमत प्रार्थयेत्वां सुरेन्द्र ।

दूसरे आचार्यों का मत है कि—जो नाटक के प्रयोजन या मूलभूत कार्य को अपमान या उत्साह के द्वारा प्रत्येक अङ्क में निरन्तर बतलाता जाए उसे ‘बिन्दु’ समझना चाहिए । जैसे राघवाम्युदय के प्रत्येक अंक में कैकयी की चर्चा रसना । वेणीसंहार के प्रत्येक अंक में द्रौपदी के केशों को खींचने की बात दोहराना । नागानन्द के प्रत्येक अंक में जीभूतवाहन के उत्साह का कथन करना । यह कार्य की पूर्णता या उद्देश्यसिद्धि तक बराबर रखा जाता है । जैसे जानकीसंहार नामक अङ्क में ।

राम—मैंने अपने पूज्य पिता की आज्ञा का निस्संकोच पालन कर माता कैकयी के द्वारा चाहा गया चौदह वर्षों का वनवास पूर्ण किया, लङ्का के स्वामी रावण जैसे शत्रु का हनन कर सती साध्वी सीता को फिर प्राप्त करलिया । हे देवाधिपते इन्द्र, अब मैं आपसे और किन वस्तुओं की प्रार्थना करूँ जो इनसे अधिक हों !

अथैष बिन्दोरपरः पक्षः । यथा रावणस्य वधे मारीचखरादिसैन्य-कुम्भकर्णन्द्रजितामनवरतवधदर्शनम् । कौरवाणाञ्च द्रोणादिवधदर्शनञ्चेति ।

बिन्दु का एक दूसरा कार्य भी है । वह है रावण के वधरूपी मुख्य प्रयोजन के बीच में मारीच, ससैन्य खरदूषण, कुम्भकर्ण तथा इन्द्रजित आदि राक्षसों के वधों का निरन्तर आनुपगिक रूप में बतलाते जाना या वेणीसंहार में दुर्योधन के वधरूपी मुख्यप्रयोजन के बीच में कौरव एवं द्रोणाचार्य आदि का संहार दिखलाना ।

पताका—

ध्वजोपरि निहितपताकेन पताका । यथेयमेकदेशे स्थायिनी
सफलमपि सैन्य द्योतयति यथा चैयमपि नाटकैरुद्देशवर्तिनी नाटक
सफलमेव प्रमाद्यति । तद्यथा—

पताका—किसी (उण्डे या) चाम पर चढ़ाये गए ध्वज के
समान होती है और जैसे किसी एक स्थान पर विद्यमान होकर भी
ध्वज सारे सैन्य की उपस्थिति सूचित करता है वैसे ही नाटक के एक
भाग में स्थित रह कर भी (यह) पताका सारे नाटक को प्रकाशित
करती है । जैसा कि कहा भी गया है—

यद्वृत्तं हि परार्थं स्यात्प्रधानस्योपकारकम् ।

प्रधानवच्च कल्पेत पताका साभिधीयते ॥ २५ ॥

(भा० शा० २१।२४)

जो घटना किसी अन्य उद्देश्य में रखी जाने पर भी मुख्य कार्य में
सहायता देती हो या मुख्य कार्य के सम्पादनार्थ प्रमुखरूप में
संयोजित की जाए तो उसे 'पताका' समझना चाहिए ।

यस्या वृत्तं वर्तनं परार्थं परप्रयोजनार्थं प्रधानस्योपकारक मनेन् ।
स्वयमपि पौरुषातिशयार्थं प्रधानवत् कल्पेच्च सा पताका । यथा
वेण्ण्यं—कर्णस्य चरितं दुर्योधनमुपकृतं प्रवृत्तं स्वपौरुषार्थमपि । सा गर्भ-
ऽवमर्शं च निवर्तते इति नात्यन्तिमेतदवगन्तव्यम् ।

अर्थात् जिसकी स्थापना दूसरों के किसी कार्य के सम्पादनार्थ
रखी जाए और फिर भी प्रधान कार्य की सहायक हो जाए, जो मुख्य
कार्य सम्पादक होने के कारण प्रधान कार्य के समान ही रखी
जाती हो तथा जिसका उद्देश्य पुरुषार्थ की अतिशयता को प्रदर्शित
करना हो तो किसी घटना को 'पताका' समझना चाहिए । उदाहरणार्थ
वेणीमहार नाटक में रखा गया कर्ण का चरित्र जो दुर्योधन के
उपकारार्थ रखा गया था पर यह अपने स्वयं के पुरुषार्थ या मर्त्य के
कारण प्रधानकार्य जैसा मन्त्रशाली भी हो गया है ।

'पताका' की स्थिति गर्भ या अवमर्शमन्त्रि के बाद नहीं रहनी यह
पथन पद्धति नियम के रूप में नहीं ले लेना चाहिए ।

अन्ये पताकेत्युपनायकचरितमेव स्थूलार्थमुपवर्णयन्ति । तेनान्तर-
व्याख्यापि सिद्धयति । उपनायकेन नायकमुपकर्तुं प्राधान्यमवलम्ब्य
यत् क्रियते सा पताका । यथा—मकरन्दस्य माधवमुपचिकीर्षोर्मालती-
रूपत्वादिकम् इति ।

कुछ आचार्य पताका को उपनायक का चरित्र बतलाने हैं । यह
घात मोटे तोर पर ही लेना चाहिए । इससे यह भी अन्तर्निहित अर्थ
सूचित हो जाता है कि उपनायक के द्वारा प्रधान नायक के उपकारार्थ
प्रधान लक्ष्य की पूर्ति-हेतु जो उद्योग किया जाए उसे भी ‘पताका’
समझना चाहिए । उदाहरणार्थ मालतीमाधव में मकरन्द का माधव की
सहायता के निम्न स्वयं मालती का वेवधारण करना पताका है ।

प्रकरी

पुष्पमकरषन्निहिता या शोभा जनयति सा प्रकरी ।

तद्वथा—

प्रकरी—पुष्पों के ढेर के समान किसी एक विशेष स्थान पर एकत्र
करने जैसी जिसकी अतिशय शोभा हो जाती हो उसे ‘प्रकरी’ कहते
हैं । जेना कि आचार्य ने कहा भी है :—

फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थं केवलं बुधैः ।

अनुबन्धविहीनां तां प्रकरीमिति निर्दिशेत् ॥ २६ ॥

जिसका फल किसी अन्य (मुख्य) पात्र के लिए रहता हो परन्तु
फिर भी जो कथावस्तु से अविच्छिन्नता न रहे तो उसे ‘प्रकरी’
समझना चाहिए ।

यस्याः प्रयोजनं परार्थं परस्य हेतोः प्रकल्प्यते जायते । अनुबन्धो
नैरन्तर्येण प्रवर्तनम्, तेन विहीनां त्यक्तम् उत्पन्नप्रणष्टमित्यर्थः । यथा
यथा कुलपत्यहै ।

अर्थान् जिसका प्रयोजन ग फल दूसरे पात्र के लिए रखा जाता
हो । अनुबन्ध का अर्थ है कथावस्तु के साथ निरन्तर अन्वित रहना ।
यह अनुबन्ध से हीन होता है अर्थान् इसमें नैरन्तर्य या अविच्छिन्नता

नहीं रहती तथा यह उत्पन्न होती है और समाप्त भी हो जाती है। जैसे 'बुलपायक' में—

जटायु—आ क्षुद्र राक्षसापद, क मे सुतमधूमपह्वय गच्छसी'
त्यादिरावणजटायुपूर्वतान्तेष्वभिव्यक्तमेव ।

'जटायु—अरे नीच राक्षस ! तू मेरी पुत्रपू को हर कर कहाँ ले जा रहा है ?' इत्यादि जटायु और रावण के मन्त्रों में 'शकरी' स्पष्टतः दिखाई देती है।

कार्यम्

यदर्थे काव्यस्यारम्भः सिद्धे यस्मिन् समापनम् ।

आनुपङ्गिकमम्पन्नं तत्कार्यमिति कथ्यते ॥ २७ ॥

कार्य—जिसके लिए काव्य का प्रारम्भ किया जाए तथा जिसके पूर्ण होने पर काव्य की समाप्ति हो तो आनुपङ्गिक कार्यों के द्वारा सम्पन्न होने वाले उक्त अङ्ग को 'कार्य' समझना चाहिए।

यदाह भरतः—

यदाधिकारिकं कार्यं पूर्वमेव प्रकीर्तितम् ।

तदर्थो यः समारम्भस्तत् कार्यमिति कीर्तितम् ॥ २८ ॥

(ना० आ० २१।२६)

जैमा कि आचार्य भरतमुनि ने कहा है :—

मैंने पहिले जो आधिकारिक (मुख्य) कार्य बतलाया उस (कार्य) की पूर्ति के लिए जिसे आरम्भ किया जाता हो वह 'कार्य' कहलाता है।

पूर्वमेव प्रकीर्तितमिति द्विविधं कार्यम् आधिकारिकमानुपङ्गिनमिति च । यथा—

पहिले बतलाने का आशय है कार्य के आधिकारिक और आनुपङ्गिनस्वरूप में दो भेद रहना। जैसे—

१. बुलपायक का पही उद्घरण भावप्रकाशन में भी प्राप्त होता है।
(प्रकाश भा० प्र० ५० २०२ G O. S)

इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् ।

पञ्चभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः परिकीर्त्यते ॥ २९ ॥

इतिवृत्तं द्विधा चैतद्वुधस्तु परिकल्पयेत् ।

आधिकारिकमेकं स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ३० ॥

(ना० शा० २१।१,२)

इतिवृत्त या कथास्तु नाटक का शरीर कहा जाता है। इस इतिवृत्त के पाँच सन्धियों के द्वारा विभाग किये जाते हैं। इसके दो प्रकार हैं—एक आधिकारिक और दूसरा प्रासङ्गिक ।

इतिवृत्तमाख्यान नाटकस्य शरीरं यत्, बुधस्तद्विधा कारयेत् ।

इतिवृत्त का अर्थ है नाटक की कथा जो नाटक का शरीर माना जाता है। बुध जन उसके दो भेद कर लें ।

एकमधिवृत्तं विन्धाद् द्वितीयमानुषङ्गिकम् ।

यत् कार्यं हि फलप्राप्तेः समर्थं परिकल्प्यते ॥ ३१ ॥

तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत् प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ३२ ॥

(ना० शा० २१।२-३)

इस इतिवृत्त के दो भेद होते हैं इनमें से एक को आधिकारिक और दूसरे को प्रासङ्गिक या आनुषङ्गिक कहा जाता है। फलप्राप्ति के लिए मुख्यरूप में जो कार्य उपयुक्त हो या सामर्थ्य रखता हो उसे ‘आधिकारिक’ और इसमें अविरक्त शेष कार्यो को प्रासङ्गिक समझना चाहिए ।

फलप्राप्तिप्रधानभूतमाधिकारिकं तस्मादन्यत् प्रासङ्गिकमिति ।

रावणस्य वधे कार्यं यथाभूदानुषङ्गिकम् ।

सुग्रीवमात्मसात् कर्तुं नद्यो रामेण वालिनः ॥ ३२ ॥

फलप्राप्ति के लिये मुख्यरूप से अनुष्ठित कार्य आधिकारिक तथा शेष कार्य प्रासङ्गिक कहलाता है। जैसे श्रीराम द्वारा किया गया रावण का वध ‘आधिकारिक’ और इसी कार्य के लिए सुग्रीव को अपना सहायक बनाने के लिए किया गया बाली का वध ‘प्रासङ्गिक’ कहलाता है ।

अन्यस्याह—कथायामेव कथान्तरमुपकारकदानुषङ्गिकमिति ।

दूसरे आचार्यों का मत है कि एक कथा में दूसरी कथा का इस प्रकार सन्निवेश किया जाए कि वह मुख्यकार्य में सहायक हो जाए तो उसे 'प्रासङ्गिक' कथास्तु समझना चाहिए । यथा —

कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।

तस्योपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुपगमिकम् ॥ ३४ ॥

(ना० आ० २१।४-५)

फलतया या मुख्यकार्य से जिसका सीधा सम्बन्ध आता हो उसे 'आधिकारिक' तथा मुख्यकार्य में उपकारक या सहायता देने वाला इतिवृत्त गौण होने के कारण 'प्रासङ्गिक' या 'आनुपगमिक' समझना चाहिए ।

तदर्थो य समारम्भ इति आधिकारिकस्यैव निष्पत्तये यत्समारम्भ उद्यमो विधीयते । प्रधानकार्योपक्षेप इत्यर्थः । यथा वेण्याम्—

'प्रवेशनाल किल तत्र भवत' इत्यादि ।

सहायक कार्य का आशय है वे कार्य जो आधिकारिक इतिवृत्त को सुष्ट करने के लिए उद्यम स्वरूप किये जाएँ और इस प्रकार मुख्य उद्देश्य के उपकारक बनते हों । जैसे वेणीसंहार में—

'यह श्रीकृष्ण जी के प्रवेश का समय है' इत्यादि ।

एषा बीजादीना चापि कस्यचिन् प्राधान्यमन्येषा गुणभावा ।
तथा चोक्तम्—

इन बीजादि में कभी किसी एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता हो जाती है । जैसा कि कहा भी है कि—

एषां तु यस्य येनार्यो यतश्च गुण इष्यते ।

तत्प्रधानन्तु स्तैर्व्यं गुणभूतान्यतः परम् ॥ ३५ ॥

(ना० आ० २१।२७)

इनमें जिससे मुख्य उद्देश्य की सिद्धि का साधा सम्बन्ध रहता हो उसे प्रधान तथा (इसके अनिरिक्त) गौण को गौण समझना चाहिए ।

अद्वः

तद्याहभवेगमाद्यमिति । अह व्याख्यानग्रन्थस्य परिच्छेदयिता ।

स च सन्ध्यङ्गवशादस्यैव नाटकस्यावस्थां प्रसमीक्ष्य विन्द्वादीनां विस्तराद्वा कर्तव्य । पञ्चादिदशतन्त्र्यापर्यन्तं स रङ्गजातस्य चानुबन्धाद् भवति ।

अङ्क—यह (इतिवृत्त) अङ्क और प्रवेशक से युक्त रहता है । 'अङ्क' का कार्य है इतिवृत्त के विभाग करने हुए उसी सीमा या परिमाण बतलाना । सन्ध्यङ्गों को नाटक की अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए तथा विन्तु आदि के विस्तार को धिक्कार कर यह अङ्कविभाजन करना चाहिए । नाटक में अङ्कों की संख्या पाँच से लेकर ठम तक होती है और 'अङ्क' को रङ्गमञ्च की आवश्यकता के कारण रखा जाता है ।

'नानाविधानयुक्तो भावश्च रमैश्च गूढो भवेत्' ॥ ३६ ॥

(ना० शा० २०।१४)

'यह अंक अनेक प्रयोग तथा उद्देश्यों से युक्त तथा रस एवं भावों' से व्याप्त रहता है ।'

नानाविधानानि बहवः प्रयोगास्तैर्युक्तः । भावैरिति स्थायिभिर्भासादिभिर्निर्देयादिष्वभिचारिभि सात्त्विकैरपि रोमाञ्चादिभिर्भावै रसैश्च शृङ्गारादिभिर्गूढं व्यगूढो भवेत् ।

अनेक उद्देश्यों का आशय है कि इसमें बहुत से कार्य होते हैं । भाव का अर्थ है (रति आदि) स्थायीभाव, भ्राम, निर्वेद आदि संचारी भाव तथा रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों से युक्त तथा रस शब्द से आशय है शृङ्गार आदि रमों से गूढ़ अर्थात् युक्त या व्याप्त रहना चाहिए ।

ययार्थस्य यमाप्तिर्यत्र च रीजस्य भवति संहारः ।

किञ्चिदवलम्बित्वाः सोऽङ्क इति तदागन्तव्यः ॥ ३७ ॥

(ना० शा० २०।१६)

१. 'अङ्क को भाव तथा रसों से गूढ़ मानना'-महोदध का मत है । लभितव्युत्तराद् ने इसको अ० भा० में उद्धृत किया है । क्या-भावश्च रमैश्च गूढं च यमाप्तिर्यत्रोऽङ्कशब्देनोच्यते इति महोदधिराह । गूढ इति पाठं व्याचक्षिरे (नाट्यशास्त्र १८। १३ Vol II. पृ. ४१५)

जहाँ किमी एक कार्य या उद्देश्य के पूर्ण हो जाने के कारण समाप्ति हो जाती हो, जहाँ 'बीज' का अर्थान् प्रधान कार्य का अंशतः निष्कर्ष निकलता हो एव जो बिन्दु से थोड़ा (अपना) सम्बन्ध रखता हो उसे 'अङ्क' कहते हैं ।

यत्रार्थस्यानुपङ्गिकस्य समाप्ति । बीजस्य प्रधानार्थस्यांशतः
• संहारणम् । स्तोक्श्च बिन्दो प्रचारः । सोऽङ्कादवगन्तव्यः ।

एक कार्य से का आशय है कि आनुषंगिक या गौण कार्यों की पूर्ण हो जाने पर समाप्ति हो जाना । मुख्य कार्य या उद्देश्य की आंशिक पूर्ति के कारण बीज का जहाँ संकोच या संहार हो जाता हो तथा 'बिन्दु' के कार्य का थोड़ा विस्तार होता हो । यह सभी 'अङ्क' से बदलाया जाता है [अर्थात् 'अङ्क' के यही कार्य होते हैं] ।

ये नायकाः निगदितास्तेषां प्रत्येकचरितसम्भोगः ।

नानावस्थोपेतः कार्यस्त्वङ्कोऽभिरूप्य ॥ ३८ ॥

(ना० शा० २०।१७)

पहिले जिन नायक आदि पात्रों को बदलाया गया था उन सभी की विभिन्न अवस्था तथा कार्यों को जिसमें अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जाए उसे 'अङ्क' ममकना चाहिए परन्तु अङ्क में रखे जाने वाले कार्य फैलाए हुए या मिलिभूत नहीं होने चाहिए ।

नाटके नायकाश्चत्वारः पञ्च वा स्युस्तेषां चरितसम्भोगः । नाना-
दशयुक्तोऽङ्कः कार्यः । अबिरूप्य स चरितसम्भोगः आगम्यानस्तुना
दूरवर्ती न फलत्रयः य आधिकारिककार्यस्य सन्निधीयते इत्यर्थः ।
न केवलं नायकानाम् नायकदेवीपरिजनपुरोहितायात्यमार्थसाहाना
नैत्रमान्तरविहितश्चरितसम्भोगोऽप्यङ्कः स वेदितव्यः ।

नाटक में चार या पाँच पात्र मुख्य [नायका] होते हैं तथा अङ्क में इन्हीं का कार्य प्रदर्शित किया जाता है । अङ्क में पात्रों की विविध दशाओं की मर्यादना रहनी चाहिए । पात्रों के कार्यों का सम्या विस्तार या फैलाव नहीं रहना चाहिए तथा य मुख्यरथा (आधिकारिक कथावस्तु) से दूर हट कर नहीं रहे (किन्तु मुख्यरथा के उद्देश्य में जुड़ा रहना चाहिए) । केवल मुख्य पात्रों का ही चरित्र हममें नही रहता किन्तु [हममें] नायक, महादेवी तथा उनकी परिचारिकाओं,

पुरोहित, अमात्य, सारथ्याह (सेनापति) आदि पात्रों के विनिधरसों से पूर्ण चरित्र भी रखे [चित्रित किये] जाते हैं। इन सभी लक्षणों से युक्त भी ‘अङ्क’ का स्वरूप मसम्भना चाहिए।

नायकः

नायका इति। बीजविन्दुद्वयसंवलितस्य नाटकस्य नाट्यमन्तं नयतीति नायकः। स एव धर्मकामार्थफलमागृह्णति। स च परार्थं सम्पादनाद् धर्मम्, इष्टाङ्गनालाभात् कामम्, अपूर्ववस्त्वधिगमादर्थं मधिगच्छति। सर्वथा येन सर्वं समाप्यते स खलु नायकः चतुःप्रकृतिकः धीरोद्धतः, धीरललितः, धीरोदात्तः धीरप्रशान्तश्च। तत्र धीरोद्धता देवता, धीरललितो नृपतिः, धीरोदात्तस्सेनापतिरमात्यश्च, धीरप्रशान्तः श्रोत्रियः सारथ्याहश्च। एभ्यो भिन्ना सङ्कीर्णका पादचारेषु योद्धव्यास्तत्र ते इति। नायिकाश्च दिव्या राजपत्न्यः कुलजा वेश्याप्रभृतयः।

नायक—‘नायक’ वह होता है जो बीज विन्दु आवि से युक्त नाटक को पूर्णता की ओर ले जाकर नेष्ट करे। क्योंकि यही नाटक के उद्देश्य या फल को समाप्ति पर्यन्त ले जाता है तथा धर्म, अर्थ या काम की उपलब्धियों का अविकारी या भोक्ता होता है। इसे ही दूसरों के उपकारार्थ उद्योग करने पर धर्मप्राप्ति, इष्ट प्रियतमा की उपलब्धि होने के कारण कामप्राप्ति तथा अपूर्व (बहुमूल्य) वस्तुओं के लाभ होने के कारण अर्थप्राप्ति होती है। कदने का आशय यही है कि जो नाटक से मूल उद्देश्यों से अतिशय सामीप्य रखने हुए सारे कार्यों को सिद्ध करता या पूर्ण करता हो उसे ‘नायक’ समझना चाहिए। यह नायक प्रकृतिभेद के कारण चार प्रकार का होता है। यथा—(१) धीरोद्धतः, (२) धीरललितः, (३) धीरोदात्तः तथा (४) धीरप्रशान्तः। इनमें देवता ‘धीरोद्धतः’, राजा ‘धीरललितः’, सेनापति और अमात्य ‘धीरोदात्तः’ तथा श्रोत्रिय, (ब्राह्मण) और श्रेष्ठि (सेठ) ‘धीरप्रशान्त’ होते हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र सङ्कीर्ण [मिश्र, अतिरिक्त या पूरक पात्र जिन्हें सम्प्रति Extra कहते हैं] कहलाते हैं। ये पात्र नायक-नायिका आदि के साथ रहने वाले कार्य या व्यंग्यार के अनुसार निभागपूर्वक जाने जाते हैं। दिव्यस्त्री, महारानी, कुलीन कन्याएँ तथा गणिका आदि भी नायिकाएँ होती हैं।

किं काव्यम् ? नाट्यमनुकरणम् । यथा चोक्तम्—

प्रश्न—नाट्य किसे कहते हैं ? उत्तर—(अवस्थाओं के) अनुकरण को । जैसा कि बतलाया भी है —

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःख-समुद्भवा ।

तस्यास्त्यभिनयः प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते । ३९ ॥

‘मानवों की सुख दुःख आत्मक दशाओं का अनुकरणात्मक प्रस्तुतीकरण या अभिनय ‘नाट्य’ कहलाता है ।’

अभिनयः

कोऽभिनयः । अभिमुख नयत्यर्थानिति अभिनयः ।

प्रश्न—अभिनय किस कहते हैं ? उत्तर—चौ घटनाओं या कार्यों को नेत्रों से सम्मुखता कर प्रत्यक्षरूप प्रस्तुत कर देना हो ।

‘सन्निहितनायकोऽङ्गश्च कार्यः’ (ना. शा. २०।३१) । ये नायकाः पूर्वं कथितास्ते तत्र सन्निहिता कर्तव्याः । नायको नायिका च नायको । एक प्रधानो नायक अपरश्च तस्योपनायकः । हन्तव्यश्च (प्रति-) नायक एव । षष्ठामेकतमस्य सन्निधिनाङ्ग कर्तव्यः । यथा प्रतिज्ञाभीमे भीमः । सुन्दरमानुमत्योर्दुर्योधनः । अधत्यामाङ्गे स एव । धृतराष्ट्रे स एव । सहारे तु युधिष्ठिरः । प्रधाननायकस्तन्निधिरपि दृश्यते क्वचित् । यथा मायामदालसे पद्मस्वप्नङ्केषु कुलयाश्च नागानन्दे च पद्मस्वप्नङ्केषु जीमूतनाहन इति ।

‘अङ्ग’ से नायक का रहना आवश्यक होता है’ (ना० शा० २०।३१) । अर्थात् निम्न नायकों की पक्षि बतलाया गया है उन्हें अङ्ग में रखा

१ नायक का यहाँ अर्थ है वह पात्र या अभिनेता जो नाटकीय कथा में थोड़ी महत्वपूर्ण स्थिति लिए हो । इस पात्रों में मुख्य, सहायक तथा विरोधी पात्रों को रखा जा सकता है । ये सभी नाटकीय प्रयोजन का निर्माण करने के कारण नायक हैं । इनमें मुख्य नायक का वध हो नहीं जाना, प्रति-नायक या विरोधी का वध हो जाना है परन्तु इस भी स्थिति नाटकीय नियमों के अनुसार तथा नाटकीय सुविधा व सुविधाओं के अनुरूप भारतीय भावनाओं के परिष्कार में बाधक मानते हुए भारतीय नाटकों में प्रयोजन प्रस्तुत करना निषिद्ध माना गया था ।

जाए। नायक शब्द ने नायिका (आदि) पात्र भी समाविष्ट है। (नाटक आदि में) एक मुख्य नायक होता है तथा दूसरा उसी का सहायक या उपनायक होता है। (नायक का विरोधी होने के कारण) मारा जाने वाला पात्र भी (प्रतिनायक होने के कारण) नायक की श्रेणी में ही आता है। इनमें से किसी एक की उपस्थिति अङ्क में रहनी चाहिए। जैसे प्रतिज्ञा भीम नामक अङ्क में भीमसेन की, सुन्दरक-भानुमती अङ्क में दुर्योधन की, अश्वत्थामाङ्क में भी उसी (दुर्योधन) की, धृतराष्ट्राङ्क में भी दुर्योधन की तथा (महार) अन्तिम अङ्क में युधिष्ठिर की उपस्थिति रखी गयी है। वही रानी (सभी अङ्कों में) प्रधान नायक की उपस्थिति (भी) रखी जाती है [या मिलती है]। उदाहरणार्थ ‘भावामदालस’ नाटक के पाँचों अङ्कों में कुलयाश्व (नायक) की तथा नागानन्द के सभी अङ्कों (पाँचों अङ्कों) में जीमूतपाइन की उपस्थिति रखी गयी है।

क्रोधप्रसादशोकाः शापोत्सर्गादिविद्रवोद्वाहाः ।

अद्भुतसंश्रयदर्शनमङ्गे प्रत्यक्षजानि स्युः ॥ ४० ॥

(ना० शा० २०।२०)

अङ्क में रखे जाने वाले कार्यों में क्रोध, प्रसाद, शोक, शापप्रदान (शापोत्सर्ग), भगदड़ या क्रान्ति (विद्रव) विनाह तथा कोई आश्चर्योत्पादक कार्य या घटना होती है (ये प्रत्यक्षतः प्रस्तुत करने के कार्य नहीं होते हैं)।

अङ्के तस्मिन्नेतानि प्रत्यक्षजानि स्युः । क्रोध कोप, प्रसाद, प्रसक्ति, शोक, आनन्दः, शायोसर्ग शापप्रदानं, विद्रव शङ्काभयत्रासकृतो द्रव, उद्वाहः विनाहः, अद्भुतसंश्रयदर्शनम् अद्भुतकारिणा दर्शनम् ।

अङ्क में जिन कार्यों या घटनाओं को रखा जाता है उनमें ये हैं— कोप अर्थात् क्रोध, प्रसाद का अर्थ है समीप जाना या प्रसन्न करने की चेष्टाएँ करना, शोक का अर्थ है करुणरुदन, शापोत्सर्ग का अर्थ है शाप देना, विद्रव का अर्थ है शङ्का, भय या त्रास के कारण भागने लगना, उद्वाह का अर्थ है विनाह, अद्भुत संश्रय का अर्थ है ऐसे कार्य या घटनाएँ जिनसे आश्चर्य उत्पन्न हो या आश्चर्यकारी कार्य करने वाले किसी प्रभावशाली पुरुष आदि का दिखाई पड़ना होता हो।

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनश्चैव ।

न प्रत्यक्षाणि सन्ति प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ ४१ ॥

(ना. शा. २०।२१)

अङ्क में प्रत्यक्षत मञ्च पर युद्ध, राज्य का पतन, मरण, नगर का घेरा आदि नहीं बतलाना चाहिए। यदि इन्हें बतलाना ही इष्ट हो तो 'प्रवेशक' के द्वारा इन कार्यों की सूचना मञ्च पर दे देना चाहिए।

युद्धादिक नाट्ये प्रत्यक्ष कर्तव्यम् (किन्तु) प्रवेशकैरेव कर्तव्यम् । यथा—कुम्भाङ्के तिलोत्तमासानुमतीभ्यां कुम्भकर्णस्य युद्धमावेदितम् लङ्घोपरोधनञ्च प्राट्टङ्के कङ्कालकेन बालिमरणञ्च । नलविजये चतुरिका-मालनीभ्यां नलस्य राज्यभ्रंशः । नाट्येऽभ्युदयिनि शत्रोरपि वधः कर्तव्यम् (किन्तु तस्य) अपसारणं सन्धिर्महणं वा । एतच्च नाट्ये नात्यन्तिकम् । यतो रावणदुर्योधनकसादीनां वध एव । स तु न साक्षात् कर्तव्य इत्यर्थः । प्रकरणे पुनः कवे स्वातन्त्र्यात् सन्ध्यादिस्सट्टद्विषयः । यथा चारुदत्तस्य राष्ट्रियेण सह सन्धिरेव दर्शितः ।

अङ्क में युद्ध आदि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन मञ्च पर नहीं रखना चाहिये पर यदि नाटकीयतया में ऐसी घटनाएँ रखनी इष्ट ही हो तो 'प्रवेशक' के द्वारा इनकी सूचना देना चाहिए। जैसे —'कुम्भाङ्क' में तिलोत्तमा और सानुमती के द्वारा लङ्का के घेरे जाने और कुम्भकर्ण के युद्ध करने की सूचना दी गयी। 'प्राट्टङ्क' में कङ्कालक के द्वारा बालिमरण की सूचना तथा 'नलविजय' में चतुरिका और मालनिका के द्वारा राजा नल की राज्य से न्युत होने की सूचना देना।

'अभ्युदय' के भागी नायक या (नायक विरोधी) प्रतिनायक की भी मञ्च पर प्रत्यक्ष मृत्यु नहीं दिखलाना चाहिए। किन्तु इसका भाग जाना, मन्थि करलेना या पकड़ा जाना प्रस्तुत करना चाहिए। परन्तु यह नियम नाटक पर तत्परतापूर्वक लागू नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें प्रतिनायकभूत रावण, कस या दुर्योधन आदि का वध ही इष्ट रहता है। प्रकरण में कवि की इच्छा के अनुसार नायक की प्रतिनायक के साथ मन्थि आदि रसी जा सकती है। जैसे मृच्छकटिक में (नायक) चारुदत्त की (प्रतिनायक) राष्ट्रिय शम्भर के साथ मन्थि की ही बतलाया गया है।

एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्के सप्रयोगमधिकृत्य ॥ ४२ ॥

नाटक के एक अङ्क में घटित होने वाली घटनाएँ एक दिन' में होने वाली (ही) बतलाना चाहिए ।

आख्यानं यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्याङ्के कर्त्तव्यम् ।
अन्यस्तु-‘वासराद्ध-कृतो ह्यङ्क’ इति । अपरत्र-एकरात्रिकृतमेकवासर-
कृतमङ्के वक्तव्यमिति ।

यत्र तु कार्यवशात् कालमूयस्त्वं तदस्मिन्नङ्के प्रवेशकेन वक्तव्यम् ।
न तु वर्षादतिक्रान्तम् । यदुच्यते-‘वर्षादूर्ध्वन्तु न तु कदाचित्’
(ना० शा० २०।२९) इति । तदेतद्वहुकालप्रणयं नाङ्के विधेयमित्यर्थः ।

अर्थात् नाटकीय कथावस्तु में जिन घटनाओं को एक अङ्क में रखा जाए वे सभी एक दिन में घटित होने वाली रहना चाहिए । कुछ विद्वानों का मत है कि एक अङ्क में रखे जाने वाले कार्य या घटनाएँ आधे दिन में पूर्ण हो जाने वाले रहने चाहिए । दूसरे विद्वानों का मत है कि एक अङ्क में रहने वाले कार्य या घटनाएँ तथा एक दिन एक रात्रि में पूर्ण हो जाने वाले रहने चाहिए । आशय इतना ही है कि एक अङ्क में दीर्घकाल तक चलने वाली घटनाएँ नहीं रखी जाएँ क्योंकि आचार्य ने भी कहा है कि “एक वर्ष से अधिक समय में होने वाली घटनाएँ एक अङ्क में न रखी जाएँ” (ना० शा०) । यदि आवश्यकतानुसार या प्रयोजनमय अधिक समय तक चलने वाली घटनाएँ बतलाना ही पड़े तो उनकी ‘प्रवेशक’ के द्वारा सूचना देना चाहिए । सक्षेप में इतना ही कहा जासकता है कि एक अङ्क में अधिक समय तक चलने वाले कार्यों का समावेश नहीं करना चाहिये ।

अस्मिन्स्वङ्के—

नाहेतुकः प्रवेशोऽङ्के कस्यापि जायते त्वपि ।

निष्क्रान्तिरपि ततः स्याद् व्यालम्ब्यार्थं प्रसङ्गस्य ॥ ४३ ॥

अङ्क में बिना किसी प्रयोजन या कार्य के किसी पात्र का मञ्च पर प्रवेश नहीं होना चाहिए तथा किसी उद्देश्य या घटना से सम्बद्ध

१. एक अङ्क में ऐसी घटना भी आ सकती है जो एक दिन के किसी भाग में घटित हुई हो । (द्रष्टव्य मा० प्र० पृ० २३० G D. S.)

होने पर ही बिना किसी कारण या कार्य के पूर्ण होने पर पात्रों का मञ्च से निष्क्रमण नहीं बतलाना चाहिए।

[अर्थात् सभी पात्रों का मञ्च पर सादेश प्रवेश या निर्गम रहना चाहिये ।]

सम्प्रति अङ्कविधया प्रवेशमादय उच्यन्ते—

‘अङ्क’ के लक्षण में प्रवेशक आदि का प्रसंग आया था अतएव अब हम प्रवेशक आदि का लक्षण बतलाते हैं।

तत्र प्रवेशकः ।

प्रवेशयति पात्राणि रङ्गमिति प्रवेशक । यदाह मुनि—

अङ्कान्तरानुमारी सङ्क्षेपं समधिकृत्य निष्ठिः ।

प्रकरणनाटकप्रिये प्रवेशक संनिधातव्यः ॥ ४४ ॥

(ना० शा० २०।३२)

स च—

परिजनकथानुबद्धः प्रवेशको नाम विज्ञेयः ॥ ४५ ॥

(ना० शा० २०।३१)

‘प्रवेशक’ शब्द की व्युत्पत्ति है जो पात्रों को मञ्च पर प्रवेश करवाता है। जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने कहा है—दूमेरे अङ्क में घटने वाली घटना के संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करने वाला ‘प्रवेशक’ होता है। विद्वज्जन इसकी प्रकरण या नाटक में योजना करें। ‘प्रवेशक’ परिचारक (या सेनक) श्रेणि के पात्रों [नीचपात्रों] के वार्तालाप द्वारा घटनाओं की सूचना देता है।

परिजना दासीदासकञ्चुसीप्रभृतय । कथानुबद्धा परस्परं नायकस्य कथानुबन्धप्रवृत्ता । अथवा कथानुबद्धा ये नीचमयमास्ते प्रवेशका कर्त्तव्या । रामस्य वनमधिवसतः क तथाविध परिजनः सुग्रीवमग्न्यात्तु हनुमदादयः । यदाह मातृगुप्त—

परिचारक या परिजन का अर्थ है दासी दास तथा कञ्चुसी आदि पात्र। वार्तालाप का आशय है नायक या उससे सम्बद्ध घटनाओं का परस्पर कथन। अथवा नीच यः मध्यमश्रेणि के पात्रों द्वारा निम्नी

घटना या कार्य का उल्लेख करना जो कथावस्तु से सम्बद्ध हो ‘प्रवेशक’ कहलाता है। प्रश्न.—श्रीराम को वनवास के समय ऐसे सेवकों की उपलब्धि कैसे संभव हुई ? उत्तर—सुग्रीव की मैत्री के कारण उसके विश्वस्त व्यक्ति हनुमान आदि को श्रीराम को उपलब्धि हो सकती है।

“विटतापसविप्राचैर्मुनिकञ्चुकिमिस्तथा” इति प्रवेशक वर्णयति ।

अन्यस्तु—‘प्रक्रमाधीन प्रवेशको नाम’ इति ।

तत्र सर्वेषामुदाहरणम्—रेवतीपरिणये तृतीयेऽङ्के तापस । अभिज्ञाने तृतीयेऽङ्के विप्र । शशिकामदत्ते तृतीये विट । दास्या-
दयस्तु प्रसिद्धा पृथ । प्रक्रमाधीनस्तु अथत्थामाङ्के युद्धप्रस्तावमधिकृत्य
वसागन्धारुधिरप्रियौ राक्षसौ । तयोस्तापमपि वचनम्—‘कदाह दुषदशुद-
लोक्षेण (अन्धेवि) बाबादेदि त्ति (कदाचित् द्रुपदसुतरोपेणानामपि
व्यापादयिष्यसि) । अतएव मायामदालसे तृतीयेऽङ्के गृध्रमिधुनम् ।
कुम्भाङ्के तिलोत्तमा सानुमती विद्याधरीद्वयम् ।

मातृगुप्ताचार्य ने ‘प्रवेशक’ का लक्षण करते हुए बतलाया कि ‘‘विट’’
तपस्वी, ब्राह्मण, मुनि तथा कञ्चुकी (आदि) से युक्त भी ‘‘प्रवेशक’’
होता है । दूसरे आचार्यों का मत है कि आगे घटनेवाली घटनाओं में
सहायता का कार्य ‘‘प्रवेशक’’ से हो जाता है । मातृगुप्त आदि आचार्यों
के द्वारा प्रवेशक में घटलाए गए पात्रों के उदाहरणामे—रेवतीपरिणय
के तीसरे अङ्क में तापस पात्र है, अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीयअङ्क में
ब्राह्मण पात्र है, शशिकामदत्त के तृतीयअङ्क में विट पात्र है । ‘‘प्रवेशक’’
में दासी आदि पात्रों की प्रायः सभी रूपकों में बहुलता से उपलब्धि
होती है ।

आगे घटनेवाली घटनाओं की भी प्रवेशक के द्वारा सूचना देते हैं —
उदाहरणार्थ—अथत्थामाङ्क में युद्ध के विवरण को लेकर वसागन्धा और
रुधिरप्रिय राक्षस के सवाद तथा परस्पर स्नेह और औदार्यभरे कथन
रखे जा सकते हैं । जैसे —“यह अथ यामा वहीं द्रुपदपुत्र के प्रति
क्रोध धारण करने से हमें ही न मार डाले” इत्यादि । इसी प्रकार माया-

१ अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अङ्क में ब्राह्मण पात्र है अवरण विन्तु
वहाँ विष्णुभक्त है प्रवेशक नहीं ।

मदालय के तीसरे अङ्क में गृहदम्पति हैं । कुम्भाङ्क में तिलोत्तमा और सानुमती नामक दो विद्याधरियाँ हैं ।

स च सक्षेपमधिकृत्येति—आख्यानक न सर्वमङ्के प्रणेतव्यम् । न सङ्क्षेपाङ्के दिवसकृते दिवसार्द्धकृते मासकृतं वर्षकृत वा सफलमुपदर्शयितुमत सङ्क्षेपार्थं प्रवेशक कर्तव्य । सङ्क्षेप समास । प्रकीर्णसङ्ग्रहणं समासमाचक्षते । अन प्रवेशकेन कथासङ्ग्रहणं कार्यम् । अनन्तरस्य पात्रस्य प्रवेशोऽभिधेय । यदाह—'अ (ना) सूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नैव विद्यते' इति ।

'किन्हीं कार्य या घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करने के लिये 'प्रवेशक' रखा जाए' का आशय है कि एक अङ्क में 'प्रवेशक' रख कर सारी कथा या कथावस्तु का एक बड़ा भाग पूरा नहीं कर लेना चाहिए । किसी प्रवेशक या त्रिकम्भक (सन्निपाद्य) में एक दिवस, आधे दिन, एक मास या एक वर्ष की सारी घटनाएँ न रखी जाय, किन्तु कार्यों का संक्षेप में निदर्शन मात्र किया जाए । इसीलिये 'प्रवेशक' रखा जाता है । संक्षेप का अर्थ है कथा का संक्षेप या उसके फैलाव को कम करना । यहाँ कथा के विस्तरे हुए कार्यों या घटनाओं को संक्षेप कर एक साथ संक्षेपित करने रखा जाता है । यही इसकी सामामिका है । इसलिये प्रवेशक के द्वारा कथावस्तु का संक्षेप में स्थापन किया जाता है । इनके द्वारा आगे प्रवेश करने वाले पात्रों की सूचना भी दी जाती है । जैसा बतलाया भी है कि 'बिना सूचना के मध्य पर किसी पात्र का प्रवेश नहीं होता है' ।

स चाहान्तरमन्येषु कर्तव्य । तत्राहस्यादौ न तु मध्यान्तयोरित्यर्थ । इदं प्रवेशलक्षणमन्यत्राप्याचार्य आह—

'प्रवेशक' को दो अङ्कों के सन्धिस्थल पर रखना चाहिए । अर्थात् इसे अङ्क के प्रारम्भ में रखा जाता है, किसी अङ्क के बीच में या अन्त में नहीं रखा जाता । प्रवेशक का लक्षण आचार्य (भरत मुनि) ने इस प्रकार बतलाया है :—

नोत्तममध्यमपूरुषैराचरितो नाप्युदात्तचक्रकृतः ।

प्राकृतमापाचारः प्रयोगमानाद्य कर्तव्यः ॥ ४६ ॥

कालोत्थानगतिरसव्यत्यासारम्भकार्यविषयाणाम् ।

अर्थाभिधानभूतः प्रवेशकः स्यादनेकार्थः ॥ ४७ ॥

(ना० शा० २०१८४, ८५)

प्रवेशक में किसी उत्तम या मध्यम पात्र को नहीं रखा जाता है, इसमें शालीन भाषा या उदात्त वचनों का प्रयोग नहीं होता है और (प्रकृति या परिस्थितिवश) पात्रों का प्राकृतभाषा में वार्तालाप रखा जाता है । इस प्रकार प्रवेशक के द्वारा समय की सूचना, समय का चीतना, यात्रा, भाषना या रस का परिवर्तन, किसी कार्य का आरम्भ, किसी विषय, तत्त्व या उद्देश्य का संकेत आदि अनेक कार्य सम्पन्न किये जा सकने हैं ।

उत्तमपात्रं न प्रवेशके, नीच एव कर्तव्यम् । यथा शक्यत्वे घानर-
द्वयम् । तदेव नोदात्तवचनम् । तदेव प्राकृतभाषाचारम् । फलमप्याह—
कालोत्थानस्य कालसंख्यानाथं गतेर्दूरदेशगमनस्य रसव्युदासारम्भस्य
रमानामन्यथाकरणस्य प्रयोगाभिधानमूल इत्यनेनप्रयोजनं प्रवेशकं स्यात् ।
यदा च तापसादयः प्रवेशके सन्ति तत्र संस्कृतपाठः एव विधेयः ।

‘प्रवेशक’ में उत्तम पात्र नहीं रखा जाता उसमें केवल नीच पात्र ही रखना चाहिए । जैसे —‘शक्यत्वे’ में दो घानर पात्र । इसमें ‘उदात्तवच-
नावली’ भी नहीं रखी जाती है और भाषा भी यहाँ प्राकृत रखी जाती है । अथ इसका प्रयोजन भी बतलाते हैं कि इसके द्वारा समय का

१. प्रसङ्गवत् अथम पात्रों का सम्भाषण भी संस्कृत या उदात्त भाषा में रखा जा सकता है जब ये किसी घटना या किसी के अभिहित शब्द या कथन का उल्लेख करें । ऐसी दशा में पारस्परिक सम्भाषण में संस्कृत भाषा की भी योजना की जा सकती है । आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि परिष्कृत विचारों या विषयों के अवसर पर अथम पात्रों की भी परिष्कृत भाषा रहनी चाहिए । परिष्कृत का आशय है न केवल संस्कृत भाषा किन्तु प्राकृतभाषा से भी यह कार्य किया जा सकता है । सागरनन्दो का आशय दूसरा प्रतीत होता है—
इन्के मतानुसार किसी घटना को सघेप से कहने पर भाषा निश्चित हो परि-
ष्कृत हो जायगी पर यदि नीच पात्र अपने अनुभव या जीवन में घटित घटनाओं का निदर्शन करें तो फिर भाषा को परिष्कृत तथा सम्भाषण-पद्धति को उदात्त बनाना अपेक्षित नहीं है ।

निर्देश [समय की अवधि, समय का बीतना आदि] सुदूर प्रदेश की यात्रा, रसों का परिवर्तन या विपरीत अवस्था की सूचना आदि अनेक कार्य साधे जाते हैं, पर यदि तापम पात्र 'प्रवेशक' में रखना ही पड़े तो उसकी भाषा संस्कृत ही रखना चाहिए ।

बहुधाश्रयमप्यर्थं प्रवेशकं सङ्क्षिपेत् सन्धौ ।

बहुचूर्णपदोपेतो जनयति खेदं प्रयोगस्य ॥ ४८ ॥

(ना० शा० २०।८७)

यदि (दो अङ्कों के) सन्धिस्थल पर 'प्रवेशक' रखा जाए तो यह अनेक कार्यों तथा घटनाओं को संक्षिप्त करते हुए प्रस्तुत कर सनता है । पर यदि इसमें चूर्णक गद्य के अनुसार लम्बी पद्याली रखी जाए तो यही नाट्यप्रदर्शन को उबा देने वाला या नीरस भी बना डालता है ।

पूर्वाद्धस्य प्रयोजनं यथितमेव । बहुचूर्णपदोपेत इति । गद्य स्याच्चूर्णमुत्कलिना वृत्तगन्धि चेति । चूर्णं स्तोत्रसमाम खण्ड्य मृत्त-पदम् । यद्वदनकमिति वदन्ति । उत्कलिना बहुसमासात्मिका । वृत्तगन्धि वृत्तस्य यत्र गन्धो रक्ष्यते तद् वृत्तगन्धि । चूर्णमितिपुलक्षणमेतत् । बहुपाठको न प्रवेशक । यदुक्त—बहुचूर्णपदोपेत प्रवेशको न कार्य । किं स्यात् ! जनयति खेदं प्रयोगस्य । द्रष्टुं शक्यं खेदमावहतीत्यर्थः । अतो गद्यपद्याभ्यां तस्य पाठो विधेयः । ते च गद्यपद्ये—गद्यमपाद-पदसन्तानो गद्यमिति । पद्य चतुष्पदीवृत्तमिति । छन्दोविच्छिन्नपादचतु-ष्टयस्य गुप्तेनेति । आचार्या बहु श्लाघ्यते इति ।

फारिका के पूर्वभाग की व्याख्या पहिले दिये गये प्रकरण से स्पष्ट हो जाती है । यहाँ अब चूर्णक गद्य में पद्याली रखने का अर्थ बतलाते हैं । गद्य के तीन प्रकार होते हैं । यथा—(१) चूर्णक, (२) उत्कलिना (—प्रायः) तथा (३) वृत्तगन्धि । चूर्णक उस गद्य को कहते हैं जिसमें स्वल्प समासयुक्त पद्याली या समासरहित पद्याली रहनी हो । इसका एक दूसरा नाम 'वदनक' भी है । दीर्घ समासों से पूर्ण गद्य रचना का

नाम ‘उत्कलिप्त’ (प्रायः) गद्य है। ‘वृत्तगन्धि’ गद्य वह होता है जिसमें पद्य जैसा आभास होता हो या जिसके किसी एक भाग को पद्य जैसा पढ़ा जा सके। लक्षण में ‘चूर्णक’ शब्द को गद्य सामान्य के अर्थ में रखा गया है। आशय है कि प्रवेशक में सन्नादों की दीर्घसमासयुक्त रचना में समासयुक्त लम्बे वाक्य नहीं रखना चाहिए। (प्रश्न) इससे क्या होगा ? (उत्तर) ऐसा होने पर नाट्यप्रयोग बिगड़ जाता है क्योंकि लम्बे वाक्यों के रहने पर दर्शक ऊबने लगते हैं। इसलिये गद्य-पद्य दोनों को मिला कर ‘प्रवेशक’ में पात्रों के संवाद रहने चाहिए। गद्य-पद्यों का स्वरूप है कि जिसमें किसी छन्द के लक्षणानुसार पाद न हो ऐसी शब्दावली या पदमूह ‘गद्य’ कहलाता है। पद्यमूह हैं उन छन्दों या वृत्तों को जिनके चार पादों के निश्चितस्वरूप में शब्दावली रखी गयी हो। गद्य तथा पद्य का आचार्यों ने अनेक प्रकार से [तथा विस्तार से] ग्रन्थों में निरूपण किया है।

यत्रार्थस्य समाप्तिर्न भवत्यङ्गे प्रयोगबाहुल्यात् ।

बहुवृत्तान्ताल्लपकर्थः प्रवेशकैः साभिधातव्या ॥ ४९ ॥

(ना० शा० २०।८८)

जहाँ किसी कार्य या उद्देश्य की समाप्ति न होती हो या जहाँ विस्तीर्ण होने से कथा या कार्य का अन्त न होता हो तो इसी कथा या कार्य के एक लम्बे प्रदेश या भाग को ‘प्रवेशक’ के द्वारा संक्षिप्त रूप में थोड़े शब्दों के द्वारा बतलाया जा सकता है।

पूर्वस्मिन्नङ्गे प्रयोगानां बाहुल्याद् अर्थस्य कार्यस्य समाप्तिर्न भूता सा परस्मिन्नङ्गे कर्तव्या । बहुतरेऽपि वृत्तान्तेऽल्पकथै स्वल्पवचनैः समापनीया इत्यर्थः ।

अर्थात् किसी पिछले अङ्क में कथा के विस्तीर्ण होने या नाट्याभिनयो के आधिक्य के कारण यदि वे समाप्त न होती हों तो उन्हें अगले अङ्क में ‘प्रवेशक’ के द्वारा रखा जाए। (इस प्रकार) घटनाओं या कार्य के अधिक या लम्बे रहने पर उन्हें थोड़े से या संक्षिप्त संवादादि के द्वारा समग्र रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

विष्कम्भकः

प्रवेशकस्तावदुक्तः । विष्कम्भक आह चारायणः—‘प्रकरण-

नाटकयोर्विष्कम्भक' इति । प्रवेशकस्थानीय एवासौ । परमियोस्तु विशेष

विष्कम्भक—प्रवेशक का लक्षण हमने बतला दिया, अब विष्कम्भक का लक्षण बतलाते हैं । 'चारायण' आचार्य ने विष्कम्भक का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि "प्रकरण और नाटक में विष्कम्भक रहता है ।" यह प्रवेशक के स्थान पर या उसी के विकल्प में रखा जाता है । परन्तु इसमें निम्न विशेषता रहती है —

बुतोऽपि स्वेच्छया प्राप्तः सम्बद्धो नोभयोरपि ।

विष्कम्भकः स निज्ञेयः कथार्थस्यापि सूचकः ॥ ५० ॥

यह किसी (फल के) उद्देश्य से अपने ही स्वरूपानुसार रखा जाता है । इसमें नायक या प्रतिनायक के प्रवेश का सम्बन्ध नहीं रहता तथा यह यथावस्तु के फल या उद्देश्य का सूचित देता है । ई-नीलिंग इसे 'विष्कम्भक' कहते हैं ।

बुतोऽपि हेतोः स्वयमेवागतः । सम्बद्धो नोभयोरपि नायकतद्विष-
क्षयोरपि न प्रतिपद्य । हर्षाद्विष्कम्भकेन विष्कम्भक उच्यते । यथा
नागवर्माङ्गे यज्ञमोम —

'कुलपतिरेव न केवलमहमपि हर्षाज्जडीभूत' इत्यादि ।

अपने ही स्वरूपानुसार का आशय है कि यह किसी कारण या उद्देश्य की दृष्टिगत रखते हुए स्वयं के लक्षणानुसार उपस्थित किया जाता है निहेतुय इसकी स्थापना नहीं होती । इसमें प्रवेश या समापण आदि के द्वारा नायक या प्रतिनायक में से किसी भी पात्र की उपस्थिति नहीं रखी जाती है । 'विष्कम्भक' की साधकता की निम्न मानो जाती है क्योंकि यह हर्ष की सीमगति का भी इमोशन है । [विष्कम्भ का अर्थ है यभा । यभा किसी भयन निवारण होता है । मनुष्यों की स्वेच्छापूर्ण गति नहीं रहती इसी तरह या प्रसाद में रहे तो प्रेक्षाओं का प्रसार रोकने के कारण इसे विस्तृतपात्र्य पलायन प्रेक्षाओं का प्रसार रोकने के कारण इसे 'विष्कम्भक' समझा जाता है ।] उदाहरणार्थ—'नागवर्माङ्ग' में—

१. इस उदाहरण में हर्षिणी उपाप्याय में श्री भारत के नाम से उद्धृत किया है । (६० अमर्ष ५० ५० Ns Ed तथा भाव० प्र० पृ० २१५।)

यज्ञसोम—केवल कुलपति ही नहीं किन्तु मैं भी हर्ष के कारण जड़ हो गया हूँ इत्यादि ।

स च द्वित्रिषो ज्ञेय । सस्कृतभाषी शुद्धः मालतीमाधवे सौदामनीवत् । तथाविध एव नीचेनानुगत सङ्कीर्ण । यथा रामानन्दे क्षणककृपापालिकवत् ।

इस रिक्कम्भक के दो प्रकार होते हैं । जिसमें केवल सस्कृत भाषा में मजाद रहें उसे ‘शुद्ध रिक्कम्भक’ समझना चाहिए जैसे मालतीमाधव में सौदामनी के समान । इसी रिक्कम्भक में जब नीचे पात्रों के कारण भाषाभेद हो जाए या दो भाषाओं का सम्मिश्रण हो जाए तो सङ्कीर्ण या मिश्ररिक्कम्भक समझना चाहिए । जैसे रामानन्द में क्षणक और कृपापालिक पात्रों के मिलने से बनने वाला रिक्कम्भक मिश्ररिक्कम्भक ।

न महाजनपरिवारं कर्तव्यं नाटकं प्रकरणं वा ।

ये तत्र कार्यपुरुषाश्चत्वारः पञ्च वा ते स्युः ॥ ५१ ॥

(ना० शा० २०।८९)

नाटक या प्रकरण में अनेक पात्रों को या नायक आदि के सम्बन्धी अनेक पात्रों को नहीं रखना चाहिए । इनमें जो महत्वपूर्ण या कार्यकर्त्ताओं में मुख्य पुरुष हों उनमें से चार या पाँच व्यक्तियों को ही चुन कर रख लिया जाए ।

नायकस्य तद्विपक्षस्य च ये ये महाजना प्रधानभूता न ते सर्वे नाटकप्रकरणयो परिचारकत्वेन व्यापारयितव्या । तेषां मध्ये कार्यावलि म्रिनश्चत्वार पञ्च वा कर्तव्या । अपरे बहिरेव कार्यतः कीर्तनीयाः । अङ्केऽप्येक एव निर्वाहयिता कर्तव्यः । तत्रैकस्य शोधशोकादयः प्रत्यक्षभुजो दर्शयितव्या । यथाश्रुत्यागाङ्गे स एवैको निर्वाहयिता । तस्यैवैकस्य शोधशोकाविति ।

अर्थात् नायक या प्रतिनायक के जितने प्रधान सहायक या सम्बन्धी पुरुष हों उन सभी को नाटक या प्रकरण में नहीं रखना चाहिए । इनमें से केवल चार या पाँच उन्हीं पात्रों को (आवश्यकता-नुसार) ले लेना चाहिए जिनसे कार्य के लिए अपेक्षा रहे । शेष (दूसरे) पात्रों के कार्यों का केवल अलग से उल्लेख भर कर देना पर्याप्त

है। (एक) अङ्क में केवल उसी व्यक्ति का निवेश किया जाए जो किसी नाटकीय उद्देश्य या कार्य का निर्वाह करता हो। एक अङ्क में मुख्यतः एक व्यक्ति के ही शोक, क्रोध आदि भावों का निर्वाह रहना चाहिए। उदाहरणार्थ—‘अश्वत्थामाङ्क’ में केवल अश्वत्थामा नामक पात्र ही मुख्यतः कार्य का निर्वाहकपात्र है, अतएव इस अङ्क में केवल इसी पात्र के शोक, क्रोध आदि भावों को प्रमुखता से दर्शाया गया।

प्रधानवस्तुनिर्देशाद्भवति हि नाटकादीना नामेति। प्रधानस्य निर्देशाद्भवति निर्देशाद् वा नाटकादीना नाम कर्तव्यम्। यथा ‘जानकी-राघवम्’ नाम नाटकम्। रामानन्दम्। वस्तुनिर्देशात्—(यथा) कुन्दमाला नाम नाटकम्। (प्रधानस्य निर्देशात्) प्रकरणमपि मालती-माधवं नाम। वस्तुनिर्देशात् मृच्छकटिकम् नाम प्रकरणम्। अङ्कोऽपि सुग्रीवाङ्क, शक्तिर्नामाङ्क इति।

नाटक का नाम कथावस्तु के किसी प्रमुख पात्र या घटना आदि के आधार पर रखा जाता है। अर्थात् नाटक आदि रूपकों का नामकरण नाटकीय कथावस्तु में रहने वाले किसी प्रधान पात्र या घटना आदि विषयों के आधार पर करना चाहिए। उदाहरणार्थ (प्रधान पात्र के नाम पर रखे गए नामों में) जानकीराघव तथा रामानन्द नामक नाटक। कथावस्तु के आधार पर अथवा विषय के आधार पर रखे गए नाम वाले नाटक का उदाहरण है ‘कुन्दमाला’ नाटक। इसी प्रकार प्रधान पात्र के आधार पर रखे गए नाम वाले प्रकरण या उदाहरण है “मालतीमाधव” तथा विषय या घटना के आधार पर रखे गए नाम वाले प्रकरण का उदाहरण है ‘मृच्छकटिक’। इसी प्रक्रिया से न केवल रूपकों के किन्तु तदन्तर्गता अङ्कों के भी नाम रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ सुग्रीवाङ्क या शक्यङ्क इत्यादि।

‘देवतादर्शनान्तं भवति हि नाटकं नाम’।

नाटक की समाप्ति किसी देवता (या मनुष्य) के दर्शन के साथ करना चाहिए।

नाटकमिदं देवतानां दर्शनान्तं कर्तव्यम्। नायकस्याभ्युदयनिमित्तम्। यथा—धेनीसंहारे वासुदेव। नागानन्दस्यान्ते गौरी। देवर्षयोऽपि कचिन्। तेऽपि देवतातुल्या एव।

नाटक की समाप्ति देवता के दर्शन के साथ करने का उद्देश्य है नायक का अभ्युदय बतलाना । क्योंकि बिना देवता या दिव्य सहायता के नायक का अभ्युदय संभव नहीं है । उदाहरणार्थ वेणीसंहार नाटक में भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन होना । नागानन्द नाटक में भगवती गौरी का दर्शन होना । कहीं-कहीं देवर्षियों का दर्शन भी पाया जाता है तो इन्हे भी देवता के तुल्य समझना चाहिए ।

अथार्थोपक्षेपकाः—

अङ्गावतारोऽङ्कमुखं विष्कम्भकप्रवेशकौ ।

चूलिकेति च पञ्चास्मिन्नर्थोपक्षेपकाः स्मृताः ॥ ५२ ॥

(ना० शा० २१।१०४)

अर्थोपक्षेपक—नाटक आदि रूपकों में पाँच अर्थोपक्षेपक होते हैं । यथा—(१) अङ्गावतार (२) अङ्कमुख (३) विष्कम्भक (४) प्रवेशक तथा (५) चूलिका ।

तत्र विष्कम्भकप्रवेशकावुक्तावेव । एतस्मिन्नाटके अर्थोपक्षेपकाः अर्धमतिपादकास्तु इमे पञ्च बोद्धव्याः ।

इनमें से विष्कम्भक और प्रवेशक के लक्षण बतलाए जा चुके हैं । ये पाँचों अर्थोपक्षेपक नाटक के किसी कार्य या बहेश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं [या रूपकान्तर्गत किसी विषय या घटना की सूचना देते हैं] ।

अङ्गावतारः—

अङ्गावतारः अङ्गस्यावतारणम् । यथा—

समाप्यमान एकस्मिन्नङ्के ह्यन्यस्य सूचनम् ।

समाप्तो हि नाट्योक्तैः सोऽङ्गावतार इष्यते ॥ ५३ ॥

(ना० शा० २१।११०)

अङ्गावतार—अङ्गावतार अर्थात् अङ्क को आगे बढ़ाना । जैसा कि (आचार्य भरतमुनि ने) लक्षण किया है ।—

यदि किसी एक अङ्क की समाप्ति के अवसर पर ही मञ्च पर आने

१. द्वादशसाहस्री संहिता से उद्धृत इसी कारिका का बहुरूप मिश्र ने भी दशरूपक की टीका में उद्धृत किया है । द्वादशसाहस्री नाट्यशास्त्र का विस्तृत संस्करण था । (दृष्टव्य JOR Vol VIII पृ० ३२९—३२०)

वाले (अगले) अङ्क की सन्क्षेप से सूचना दी जाए तो उसे नाट्यशास्त्र-विद्वान् 'अङ्कावतार' कहते हैं ।

यथा गौरीगृहे जीमूतमाहन —

तापाच्छक्षिणघृष्टचन्दरसौ बाहू कपोलौ वहन्

ससक्तैर्नेत्रकर्णतालपवनैः सवीज्यमानानन ।

सम्प्रत्येप विशेषसिक्तहृदयो हस्तोज्झितैः शीकरैः

गाढायल्लङ्कटु स्सद्दामिव दशा धत्ते गजाना पति ॥

(नागा० १।२०)

जैसे (नागानन्द के) गौरीगृह नामक अङ्क में—

जीमूतमाहन—अत्यन्त गर्मी के कारण यह रस्तिराज उसी क्षण में गण्डस्थल की रगड़ से घूटे हुए चन्दन के रस के लग जाने से पीले हो जाने वाले कपोलों को धारण करता हुआ, अच्छी तरह से सिक्त अपने कानों को चारों ओर घुमाते हुए उसकी हवा से परा भल्लते हुए, अपनी सूङ्ग (नाव) से फँके हुए जलबिन्दुओं से यत्र स्थल को सींचता हुआ अनिवार्य उत्पन्ना से उत्पन्न शिखी की अग्रा दशा जैसी असहनीय अवस्था को प्राप्त कर रहा है ।

अनेनार्थेनायमात्मनो मलयवत्युत्कण्ठयामागामिनीमनस्था कथयन्ना-
त्मनश्चरितसम्भोगमङ्गे सूचयति ।

इस प्रकार (गायन) स्वयं ही इस कथन के द्वारा अपनी दशा बतलाकर अपने साथ होने वाली मलयवती के मिलन की घटना को अपनी ही उत्कण्ठा के द्वारा बतला देता है जो अगले अङ्कों में पटित होती है ।

अङ्कमुत्सृज्य

सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं कुर्विरिति ॥ ५४ ॥

येनैकत्र सकलानामङ्कानां सूत्रणं त्रियते तदङ्कमुखम् । यथा मायतीमाधने प्रसरणे धामन्दक्यलोचितयो प्रथमाङ्कत सौदामिनीनार्ता प्रस्तावत कपात्कुण्डलाघोरघण्टादिकथाभिः सख्यमेव कथितमङ्क-जातमिति ।

अङ्कमुख—नाटक में होनेवाले सभी कार्यों का एक ही स्थान पर सूत्र रूप में कथन कर देना 'अङ्कमुख' समझना चाहिए ।

अर्थात् जिनके द्वारा (नाटक आदि के) सभी अङ्कों की घटनाओं को एक साथ मिलाकर (एकमूर्त से) बनलाया जाए उसे ‘अङ्कमुद्रा’ कहने हैं। जैसे —मालतीमाधव (प्रकरण) के प्रथम अङ्क में ही कामन्दकी और अम्बलोकिता के द्वारा परम्पर सम्भाषण में मौदामनी के प्रसङ्ग में कपालकुण्डला और अक्षोरघण्ट आदि के द्वारा किए जाने वाले सारे भावी कार्य और घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख करना ।

चूलिका

संज्ञाशब्दोऽयं नेपथ्यस्थानस्थितानां कार्यवशाद्विहितानामालापानाम् । यथा—

अन्तःपटोमध्यगतेः सूतनागवन्दिभिः ।

अर्थोपक्षेपणं यत्र क्रियते सा हि चूलिका ॥ ५५ ॥

(ना० शा० २०।१०७)

चूलिका—चूलिका शब्द नेपथ्य में विद्यमान पात्रों के प्रयोजनवश किये जाने वाले सम्भाषणों का नाम है । जैसा कि कहा है —

‘जब सूत, मागध या बन्दीजन के द्वारा पर्दे के पीछे से ही किसी अर्थ का संकेत या सूचना दी जाए उसे ‘चूलिका’ कहा जाता है’ ।

रूता. सारथय. । मागधा. स्तुतिपाठका । बन्दिनो नमाचार्या ।
परिभ्यर्द्धप्रकाशन क्रियते सा चूलिका नाम ।

सूत का अर्थ है रथ को चलानेवाला सारथी । मागध = जो स्तुति करता हो । बन्दि का अर्थ है कोई नग्न साधु (मामान्यतः जैन साधु) । इन्हीं व्यक्तियों के द्वारा जब किसी अर्थ या कार्य की सूचना नेपथ्य में दी जाए तो उसे ‘चूलिका’ समझना चाहिए ।

यथाश्वत्थामाङ्के सूतः—

आचार्यस्य त्रिमुनगुरोर्न्यस्तशस्त्रस्य शोकात्

द्रोणस्याज्ञौ नयनसलिल-क्षालिताद्राननस्य ।

१. भावप्रकाशन में जो चूलिका का उल्लेख किया गया है वह (भी) उपर्युक्त उल्लेख से समानता रखता है तथा इसी प्रकार नाट्यशास्त्र की आधी कारिका भी समानता लिए है । (६० भा० प्र० पृ० २१७ तथा ना० शा० २१।१०७)

मौलौ पाणि पलितधवले न्यस्य कृत्वा नृशंसं

धृष्टद्युम्नः स्वशिविरमयं याति सर्वे सहध्वम् ॥ (वे० सं० ३।२०)

जैसे अश्वत्थामाङ्ग मे—

मृत—पुत्रशोक के कारण निरस्त आचार्य द्रोण के—जो सारे संसार के गुरु हैं और जिनका मुँह अश्रु से गीला हो रहा है—धुड़ापे से सफेद बालों बाले मस्तरु को हाथ लगा कर धृष्टद्युम्न अपने पड़ाव पर लौटा जा रहा है और आप सभी देख रहे हैं।

यथा मुद्राराक्षसे तृतीयेऽङ्के—

बन्दी—

भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभु ।

परंरनभिमुत्ताङ्गस्त्वमिव प्रभुरुच्यसे । (मु० रा० ३।२१)

एषा नियमस्तूपलक्षणम् । अन्येऽपि पठन्ति ।

तथा मुद्राराक्षसे मे जैसे—

बन्दी—उत्तम भूषणादि के धारण कर लेने मात्र से कोई स्वामी नहीं हो जाता किन्तु जिसकी आज्ञा का कोई वलघन न कर पाए ऐसे आप जैसे व्यक्ति ही प्रभु हो सकते हैं।

गृन, मागध आदि पात्रों को उपलक्षण समझना चाहिए। यदि दूसरे पात्र भी इसी प्रकार नेपथ्य से किसी बात का कथन या सङ्केत देने हो तो उसे भी 'भूलिका' समझना चाहिए।

यथा घेणीमंहारे भीम

उरु करेण परिघट्टयत सलील

दुर्योधनस्य पुरतोऽपहृताम्बरा या ।

दुःशासनस्य परकर्षणमिन्नमौलिः

या द्रौपदी कथयत क पुन प्रदेशे ॥ (वे० सं० ६।३५)

उदाहरणार्थ घेणीमहार नाटक मे भीमसेन की निम्न उक्ति भूलिका ही है।

भीम—लीलापूर्व अपने हाथों से जांघ को छोकनेवाले दुर्योधन के सामने दुःशासन ने जिमपा यन्त्र खींचा था और घेरी को खींचने पर जिमपी घेणी खुल गयी थी वह द्रौपदी अब कहाँ है, बतलाइये ?

जानकीराघवे प्रथमाङ्के रावणस्य पाठः (यथा)—

रे क्षत्रियाः शृणुत मे दशकन्धरस्य

दोर्दर्पनिजितसुराधिपतेः प्रतिज्ञाम् ।

सीता विवाहयतु कोऽपि धनुर्भनक्तु

नेप्याम्यहं पुनरिगामपहत्य लङ्काम् ॥

इसी प्रकार जानकीराघव नाटक के प्रथमाङ्क में रावण की निम्न उक्ति भी चुल्लिका है—अरे क्षत्रियों, अपनी मुलाओं से इन्द्र को पराजित कर देनेवाले मुझ रावण की प्रतिज्ञा सुनो । चाहे कोई धनुष तोड़ कर सीता से विवाह कर ले परन्तु मैं उसी सीता का अपहरण कर अभी लङ्का ले जाता हूँ ।

अतएव मुनिर्भरताचार्यः अस्मकुट्टश्च—

अन्तःपटीनिषिष्टैर्यत् क्रियतेऽर्थनिवेदनम् ।

अन्तर्यवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थप्रकाशनम् ॥ ५६ ॥

(ना० शा० २१।१०७)

आचार्य भरतमुनि और अरमकुट्ट आचार्य ने भी कहा है कि :—

यदि पदों के पीछे विद्यमान (किसी) पात्र के द्वारा किसी अर्थ या घटना की सूचना दी जाए अथवा किसी अदृश्य पुरुष के द्वारा पदों के अन्दर छिप कर किसी अर्थ का प्रकाशन किया जाए तो उसे 'चुलिका' समझना चाहिए ।

सन्धयः—

पञ्चसन्धि नाटकं कर्तव्यम् । अस्य नाटकस्य पञ्च सन्धयो भवन्ति इति नियमः । यथोच्यते—

पूर्णसन्धि तु तत् कार्यं हीनसन्ध्यपि वा पुनः ।

नियमात् पूर्णसन्धिस्स्याद्धीनसन्धिस्तु कारणात् ॥ ५७ ॥

(ना० शा० २१।१६)

सन्धियाँ—नाटक में पाँच सन्धियों होती हैं । अर्थात् नाटक में पाँच सन्धियों को आवश्यक रूप में रखने का नियम है । जैसा कि कहा भी है—यह पाँच सन्धियों से युक्त या फिर कुछ सन्धियों से हीन भी

हो सकता है। नियम के अनुसार सारी सन्धियों से युक्त नाटक को होना चाहिए पर किसी कारणवश इसे कम सन्धियों वाला भी किया जा सकता है।

यत् पूर्णमन्धि तत् पञ्चमन्येव कर्तव्यम् । यस्य पुनराख्यानमस्तु न
स्वल्पत्वाद्दीयते सन्धिस्तत् गन्तुं हीनमन्धि स्यात् । तत्रापि नियमः ।
यथा—चतुर्थस्यैकलोपे तद्विलोपे त्रिचतुर्थयोः ।

द्वितीयत्रिचतुर्थानां त्रिलोपे लोप इष्यते ॥ ५८ ॥

(ना० शा० २१।१७)

सभी या पूर्ण सन्धियों में आशय है कि नाटक में पाँचों सन्धियों का रहना आवश्यक है, परन्तु कथावस्तु के छोटे होने के कारण सन्धियों कम करना पड़े तो उसे 'हीनमन्धि' नाटक कहते हैं। सन्धियों को कम करने का भी नियम है [तथा तदनुसार ही आशयवृत्ता होने पर सन्धियों कम की जाएँ] पर सन्धि कम करने की दशा में चौथी सन्धि कम की जाए, यदि दो सन्धियों कम करना हो तो तीसरी और चौथी सन्धि कम करना चाहिए तथा तीन सन्धियों कम करने की स्थिति में दूसरी, तीसरी तथा चौथी सन्धि को कम करने का चाहिए [इसके अनिश्चित प्रथम तथा अन्तिम सन्धि को रूपको में कम नहीं किया जाता है।]

हीनमन्धिनि परस्य मन्धेनेपिऽर्चने चतुर्थस्य सन्धेरदर्शनम् ।
द्वयोस्तृतीयचतुर्थयोः । त्रयाणां द्वितीयतृतीयचतुर्थानामियर्थः । मासङ्गि
कस्याधिकारिस्त्वर्थे वर्तमानस्य यदि विस्तृतं सन्धयो विधातुं पञ्चापि
शक्यन्ते तदायं नियमा नावश्यकर्तव्यतयाऽभ्युपगन्तव्यः । यथा—

यदि सन्धियों कम करना दूष हो तो पर सन्धि को कम करने की स्थिति में चतुर्थमन्धि को, तो की अपेक्षा में तीसरी और चौथी सन्धियों को तथा तीन सन्धियों कम करने की अपेक्षा में दो दूसरी, तीसरी तथा चौथी सन्धियों का कम कर देना चाहिए, परन्तु आर्थिक या प्रामाणिक कथावस्तु के विस्तार करने पर यदि पाँचों सन्धियों कम जाएँ तो हीनमन्धि के नियम को आवश्यक मानकर उसका अनुसरण नहीं करना चाहिए। जैसा कि आचार्य भट्टमुनि ने भी कहा है —

प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न त्वेष नियमो भवेत् ।

यद्दुत्तं तु भवेत् किञ्चित्तद्योज्यमविरोधतः ॥ ५९ ॥

(ना० शा० २१।१८)

यह नियम प्रासङ्गिक कथावस्तु पर लागू नहीं होता क्योंकि उसका कार्य प्रधान कथा या आधिकारिक कथावस्तु का उपकार या सहायता करना होता है । इसलिये जो भी कार्य या इतिवृत्त हों उन्हें बिना किसी विरोध के सन्धियों में रखना चाहिए ।

वृत्तं यद् तद्विरोधतः सन्धीना प्रयोक्तव्यम् । सन्धि परस्परं कथाशानां सङ्घटनम् । यथोक्तम्—सन्धीयन्तेऽर्था परस्परमेभिरिति सन्धयः । यथा—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहणश्चेति । एषा रक्षणं मातृगुप्त एतादृशं वर्णयति—

इनमें जो भी कार्य या इतिवृत्त हों उन्हें पूर्णतः सन्धियों में रखना चाहिए परन्तु वे परस्पर सहकारी हों यह आवश्यक है । सन्धि का अर्थ है कथावस्तु के अंश या विषयों का परस्पर संयोजन या जोड़ । जैसा कि कहा भी है कि—सन्धि उसे कहते हैं जिनमें परस्पर कथावस्तु के उद्देश्य या कार्यों का जोड़ या संयोग रहे । इन सन्धियों के नाम हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श तथा (५) निर्वहण । मातृगुप्त आचार्य ने इनका इस प्रकार लक्षण दिया है :—

प्रार्थना विपर्यात्सुक्यमारम्भो हेतुचिन्तनम् ।

बीजं माध्योपगमनं मुखसन्ध्याविति त्रयम् ॥ ६० ॥

साध्य या उद्देश्य के लिए अभिलाषा होना ‘आत्मुक्त्य’, साध्य की प्राप्ति के लिए कारणों का विचार करना ‘आरम्भ’ तथा साध्य की ओर अभिमुख होना या उसकी अंशतः प्राप्ति होना ‘बीज’ होता है । ये तीनों मुखसन्धि में रहते हैं [तथा ये ही तीनों इसके अंग होते हैं]

लाभः साधनसम्पत्तिः प्रसरः प्रसृता क्रिया ।

बीजसाधनसम्बन्धः इति प्रतिशुद्धे त्रयम् ॥ ६१ ॥

साध्य की प्राप्ति के साधन जुट जाना ‘लाभ’, साध्य की प्राप्ति

के लिए किये गये कार्यों का विस्तार हो जाना 'प्रसर' तथा बीजों का साध्य से सम्बद्ध हो जाना 'विन्दु' कहलाता है। ये तीनों प्रतिमुख सन्धि में होते हैं।

सम्भोगो योग्यता तत्र उद्भेदः सिद्धिदर्शनम् ।

मित्रसम्पत् पतकिेति त्रयं गर्भं प्रकीर्तितम् ॥ ६२ ॥

आनन्द का उपभोग करना या उसे करने की पात्रता होना 'संभोग', कार्य की सिद्धि का आभास होना या उसका दिखलाई पड़ने लगना 'उद्भेद' तथा सभी मित्र आदि का सहायतार्थ एकत्र हो जाना 'पताका' कहलाता है। ये तीनों गर्भसन्धि में रहते हैं।

नाशः कारणवैधुर्यं किञ्चिच्छ्रेयः सप्रियता ।

पुनर्योजेन सम्पत्तिर्विमर्शे त्रितयं भवेत् ॥ ६३ ॥

मुख्य कार्य या माध्यसिद्धि में या उसके कारणों में मित्रों का उत्पन्न हो जाना या उनका घट बढ़ जाना 'नाश', मित्रों के साथ अभीष्ट प्राप्ति का योग बनना 'सप्रियता' तथा बीच का पुनः अपने रूप में प्राप्त होना 'सम्पत्ति' कहलाती है। ये तीनों विमर्श-सन्धि में रहते हैं।

अभिप्रेतार्थसम्पत्तिः सिद्धिः साध्यस्य सिद्धता ।

प्रारब्धस्य च निर्वाहो भवेन्निर्यहणे त्रयम् ॥ ६४ ॥

इष्टार्थ की पूर्णतः उपलब्धि होना 'अभिप्रेतार्थसम्पत्ति', उद्देश्य का सिद्ध हो जाना 'सिद्धि' तथा आरम्भ किये हुए कार्य का पूर्णतः निर्वाह करना—'निर्वाह' कहलाता है। ये तीनों निर्यहणसन्धि में रहते हैं।

माधकः साधनं माध्यं सिद्धिः सम्भोग एव च ।

इत्पादुः केऽपि नाशज्ञाः सन्तः साध्यादिपञ्चकम् ॥ ६५ ॥

इति

पुद्गलनाट्यशास्त्रियों के मत में माध्यादि पञ्चक इस प्रकार रहते हैं। यथा—(१) माधक, (२) साधन, (३) माध्य, (४) सिद्धि तथा (५) सम्भोग।

१ नाटकलक्षणरत्नकोश में 'चित्तसाधन—माधक्य' पाठ था परन्तु हमी ग्रन्थ के विवरण में 'बीज' शब्द प्राप्त होगा था अतः हमने स्वयं लिखाने के लिए हमने मूल में 'बीजसाधनसम्बन्ध' पाठ दे दिया है।

तत्र यथा—मायामदालसे नाटके प्रथमेऽङ्के गालवस्य महर्षेस्ताल-
केतुवधमिच्छत प्रार्थनाया कुवलयधस्य राज्ञस्तपोवनगमनौत्सुक्य-
मारम्भः । तस्यैव सवादे—

अब हम इनका लक्षणसमन्वय करते हैं । जैसे—मायामदालस
नामक नाटक के प्रथमाङ्क में तालवेतु नामक राक्षस के बध की
अभिलाषा से गालव ऋषि द्वारा प्रार्थना करना ‘औत्सुक्य’ तथा
कुवलयध राजा का वन में जाने की उत्कण्ठा करना ‘आरम्भ’ है । जैसे
राजा के साथ किया गया गालव का निम्न सवाद—

एते क्षमा वयमपि द्विपतो निरोद्धु
किन्त्वेव दुष्टदमिनस्तव राजधर्म ।
तत्सौख्यमुत्सृज दिव्यनि क्रियन्ति शाक
मुष्टि पचस्व मम तात गृहं भजस्व ॥

[गालव—] “हम भी अपने शत्रु का नाश करने की सामर्थ्य
रखते हैं परन्तु दुष्टों का दमन करना राजा का ही कर्तव्य (अधिकार)
है । अतएव घृ तात, कुछ दिन और मुझ की चिन्ता छोड़िये, फलों की
मुद्रियों से सन्तोष कीजिये और मेरे इसी घर में निवास कीजिये ।”

अत्र राजधर्मस्याख्यानात् ‘यागस्य निष्पन्नपद्याश्व मे भवितेति’
गमनहेतुचिन्तनम् ।

इस प्रकार इस कथन में राजधर्म का उल्लेख कर तपोवन में आने
का उद्देश्य स्पष्ट किया गया कि ‘अथ निर्दिष्ट यत्र सम्पन्न किये जाएंगे
तथा यज्ञ का पद्याश्व भाग भी प्राप्त होता रहेगा ।’

वीजं तत्रैव—

देवरातेर्दुहितुरयवद्वालमस्तालकेतु.
पौरस्त्याद्रेरधरनगरी यश्च दर्पेण शास्ति ।
मायायोगादहरत मुता मेनकायाश्च पाप
स प्रत्यहं क्रतुषु कुरुते दुष्प्रवर्षो मुनीनाम् ॥ इति ।

तथा ‘वीज’ का उदाहरण इसी नाटक के निम्न श्लोक में है—
असुर देवरात की पुत्री ने तालवेतु नामक बालक उत्पन्न किया जो पूर्वी
४ ना० ल०

पर्वतमाला के नीचे घसी हुई नगरी में साभिमान शासन कर रहा है। इस पापी तालवेतु ने अपनी माया द्वारा मेनका की पुत्री [मदालमा] का अपहरण कर लिया और यही अपने उच्चन्य आचरणों से मुनियों द्वारा जिये जाने वाला यज्ञ म (निरन्तर) विघ्न उत्पन्न करता रहता है।

इति मेनकासुताया मदालमाया हरणं तेन तालवेतुना कृतिमिति कथयता मदालसाया प्रत्याहरणस्य परभूतस्य बीजमिदमुक्तं, तच्च साध्योपगमनं भवति । सुखसन्धि त्रिभिर्लक्षणैर्युक्तं स्यादित्यर्थः । रामो मदालसायास्तस्या द्वितीयेऽङ्के यत् पाणिग्रहणं स एव साधनसम्पत्तिः । तेनैव ऋषिणा दत्तेन मार्गेण तालवेतुवधमास्थाय प्राप्तेनेष्टस्य सम्पत्तिः । यदाह सुप्रभा—

तथा मेनका की पुत्री मदालमा का तालवेतु राक्षस द्वारा विया गया अपहरण बतलाकर उसी को फिर वापस लौटालानारूपी लक्ष्य का यहाँ लो धीनारोपण किया गया उसे 'बीज' सम्पन्नता चाहिए। यही माध्य या उद्दिष्ट कार्य के प्रति होने वाला झुंझाव पैदा करता है। इस प्रकार सुखसन्धि में होनेवाले तीनों तत्व या अङ्ग बतलाए गए। तथा द्वितीयाङ्क में उसी मदालमा का होनेवाला वियाह ही लक्ष्य की उपलब्धि के लिए होने वाली साधन सम्पत्ति का जुड़ाने वाला होने से 'लाभ' है तथा तालवेतु के वध के एकमात्र कारण बाण को ऋषि द्वारा नायक कुशलदायक को प्रदान करना ही इष्टार्थ की प्राप्ति है। जैसा कि सुप्रभा के निम्न कथन से स्पष्ट है :—

तव सरल्युरय बाणो हत्वा फन्यामलिङ्गुचम् ।

उन्मोचयितुमायातो मानसांश्चिस्त्रिण मुताम् ॥ इति

सुम्नर मित्र को दिया हुआ यह बाण फन्या के अपहर्ता उस दुष्ट का हनन करेगा। यह बाण वास्तव में अग्नि की मानस पुत्री (मदालसा) की मुक्ति के लिए ही आया है।

तत्रैव यथा पातालकेतु — 'आ पापे, त्वं मे आत्तं व्यापाद्य गच्छसी'ति गमननिरोधं कुर्वाणस्य पुनर्निरानुष्ठानं प्रसरः । त्रियाया वरप्रभाया प्रमरान् । तत्रैव—

इसी नाटक में पातालकेतु का शत्रुता प्रकट करते हुए मदालसा को रोक कर यह कहना कि—“अरी पापिन, तू मेरे भाई को मरवा कर कैसे चली जाएगी”—आदि से फिर शत्रुता बढ़ जाती है। क्योंकि यहाँ निरोध या रोकने की क्रिया द्वारा शत्रुता का बढ़ाना दर्शाया गया है जो ‘प्रसार’ है। तथा इसी नाटक में —

मदालसा—(समयम्) अज्जउत्त, परितायाहि । रुधहं मं पुणो वि अअं हदासो । [आर्यपुत्र, परित्रायस्व । रुणद्धि मा पुनरप्ययं हताद्य]

मदालसा—(डरते हुए) आर्यपुत्र, बचाओ, यह आवततायी मुझे फिर रोकना चाहता है।

इति रोधात् पुनरपि हरणस्योद्घाटो बिन्दुः । स एव साधनसम्बन्धः । यथा तत्रैव कुवलयान्ध —

इस प्रकार मदालसा को रोकने की घटना की पुनरावृत्ति होना उसके अपहरण की पूर्वघटना को पुनः स्मरण करवा देता है। यही बिन्दु है। तथा यही साध्य से साधन का सम्बन्ध होना भी है जो इसी नाटक में कुवलयान्ध के निम्न कथन में देखा जा सकता है।

कृत्स्नामरातिनिधनाध्वरलब्धदीक्षं
पाणौ धनुर्मम वरोरु कृतं भयेन ।
पद्माचिरात् खरमुखेपुनिकृत्तदैत्य—
मूर्धावलीकृतवलीनि दिगन्तराणि ॥

कुवलयान्ध—हे सुन्दरो, तुम मत डरो, देखो, मेरे हाथ में जो धनुष है उसने देवताओं के समस्त शत्रुओं के नाशरूपी यज्ञ की वीक्षा ग्रहण कर ली है। अब तुम मेरे तीखीधारवाले बाणों से मारे गए राक्षसों के मस्तकों की पातों से दूर तक भरी हुई दिशाओं को दी जाने वाली बलि को देखो।

इति वचसा साधनेनेपुणा (च) सह सम्बन्धः सूचितः । इति त्रियुतं प्रतिमुक्तम् । तस्यैव तृतीयेऽङ्के—

इन शब्दों के द्वारा बाणरूपी साधन से साध्य [दिशाओं की बलि या शत्रुध] का सम्बन्ध स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

यही 'विन्दु' है। इस प्रकार हमने प्रतिमुखसन्धि के तीन तत्व [भी] बतलाए। [तथा] इसी नाटक के तीसरे अङ्क में—

कण्ठे वरोरु विनिवेश्य मे मृणाल—

नालाधिदैवतमिमा निजबाहुवलीम् ।

या प्राप्य दैत्यसुभटारमटीकठोर—

जाताहवश्रममह न पुन स्मरामि ॥

हे सुन्दरी, कमलतन्तु की अधिष्ठात्री देवता के समान अपनी कोमल बाहुलता को तुम मेरे गले में लगाओ निम्नसे क्रूर दैत्यो के साथ क्रिये गए भयंकर युद्ध से होनेवाले श्रम को मैं भूल जाऊँ।

इति राज्ञ सुरतेच्छा सम्भोग, तत्र च योग्यता । यथा—
मदालसा—'फुरद् मे दाहिण लोअण' [स्फुरति मे दक्षिणं लोचनम्] इति ।

उक्त पद्यन में राजा का मिलासों की आकांक्षा या आनन्द का उपभोग की आकांक्षा करना ही 'सम्भोग' है तथा इसकी प्राप्तता भी राजा में ही आती है। जैसा कि निम्न उदाहरण में—मदालसा—मेरी दाहिनी आँख फटक रही है।

अनिष्टस्य वियोगस्य उद्घाट उद्वेद । तत् प्रतिपात सिद्धि-
दर्शनम् । राज्ञ कल्याणाय स्फुरत्विति वाक्यम् ।

इसमें अनिष्टकारी वियोग का प्रकट होना बतलाया गया है तथा इसी दुःख का नाश बनलाना ही कार्य की सिद्धि का दर्शन होने से 'उद्देद' है। इसलिए राजा के मङ्गल की अभिलाषा में ही मदालसा की आँख फटकने का शुभन बतलाया गया है।

तत्रैव कुटिलस्मायया मृत्योर् अर्चिषि पतिना मदालसा न दहता
दहनेन मैत्री दाधेति मित्रसम्पन्निरलाम । इति त्रिपुनो गर्भ ।

इसी प्रकार कुटिलर द्वारा मदालसा को मारने के लिए आग में फेंक देने पर भी अग्नि का ज्ये न जलाना ही मित्रों का सहायता में पस्त्र होना है। इस प्रकार इसी नाटक में लक्ष्मणानुसार 'मित्रसम्पन्न' भी सिद्धमान है। इस प्रकार 'गर्भसन्धि' के भी तीनों तरफ बतलाए गए।

चतुर्थेऽङ्के मदालसाया नाशो दक्षित स च राज्ञः मुख्यकारणस्य वैयर्थ्यं भवेत् । तत्रैव बृहदश्वेन पितुस्तपःफलं कथयतो राज्ञः श्रेयः कथितम् । तत्र च गृहमानीय तस्य समर्पयितव्येति सविघ्नतया तालकेतु प्रभृतीनां वधे बीजस्य सम्पत्तिरिति त्रियुतो विमर्शः ।

तथा इसी नाटक के चतुर्थाङ्क में मदालसा का खोना बतलाया गया जो राजा के दुर्भाग्य के कारण मुख्यकार्य या साध्यसिद्धि में पिघल होने से ‘नाश’ है । तथा इसी में बृहदश्व ने अपने पिता के तपस्या के फल का वर्णन करते हुए राजा का भावी सुख बतला देने से ‘सविघ्नता’ है । है । तथा इसी नाटक में मदालसा को घर लाकर राजा को प्रदान करने का कार्य करने में विघ्नभूत तालकेतु है अतः उसी के वध के लिये सारे साध्यसाधनों का पुनः जुटाना ही ‘सम्पत्ति’ है । इस प्रकार ‘विमर्शसन्धि’ के तीन तत्व होते हैं ।

सहाराङ्के शत्रुजित सुबाहो मदालसायाः समागमेनाभिप्रेतार्थस्य सम्पत्तिः कथिता । सिद्धिस्साध्यसिद्धता । यथा—

(तथा) अन्तिम अङ्क में शत्रु के विजेता सुबाहु और मदालसा के लौट आने की घटना—‘अभिप्रेतार्थसम्पत्ति’ है ।

उद्देश्य का सिद्ध हो जाना ही ‘सिद्धि’ होता है जो निम्न उदाहरण में है —

‘शोकाद्देवी त्वयि निपतिता त्वच्छिखाभिर्न दग्धा

लब्धो वत्स सुरपतिरपि ध्वसयोग्य सुबाहु ।’ इति

शोक की अवस्था में देवी अग्नि में गिर गयी थी पर कृपा कर आपने उसे अपने शोलों से नहीं जलाया । और मैंने अपने पुत्र सुबाहु को भी प्राप्त कर लिया जिसको मारने की अनेक चेष्टाएँ देवराज इन्द्र के शत्रुओं (असुरों) ने की थी ।

असुराणां ध्वंस साध्यस्तस्य सिद्धता सूचिता । उपक्रान्तस्यापि रोधेन सकलस्य समापनं निर्वाहः । इति पञ्चसन्धिलक्षणम् । तथा च भीमविजयेऽपि साधको भीम, साधनं वासुदेवेन दत्ता गदा, साध्यं दुर्योधननिधन, युधिष्ठिरस्य राज्यं (राज्यप्राप्ति) सिद्धिः, भीमस्य कृतकृत्यता नीताया द्रौपद्या सुरतोषभोग सम्भोगः इति साध्यादिपञ्चकम् । मातृगुप्तेन सङ्क्षेपात् सन्ध्यङ्गनिरपेक्षमेवेदं लक्षणमुक्तम् ।

इस प्रकार इसमें असुरों का नाश रूपी साध्य की सिद्धि बतलाने से—'सिद्धि' है। और इस प्रकार आरम्भ किये हुए समस्त कार्यों का पूर्णतः निर्वाह हो जाने के कारण—'निर्वाह' भी बन जाता है।

यह हमने मातृगुप्त के अनुसार घटित होने वाले तत्वों को दर्शाने हुए पाँचों सन्धियों के लक्षण बतलाये।

साध्यादि पञ्चक को 'भीमविजय' पर भी घटित किया जा सकता है। यथा—साधक है भीमसेन, साधन है भगवान् वामुदेव द्वारा दी हुई मदा, साध्य है दुर्योधन का वध तथा सिद्धि है युधिष्ठिर की राज्यप्राप्ति। अपने उद्योग तथा शौर्य से भीमसेन द्वारा द्रौपदी की अभिलाषाओं की पूर्ति करना तथा वृत्ती के साथ किये गए विलास आदि कार्य 'सम्भोग' है। इस प्रकार उक्त नाटक में अन्य आचार्यों द्वारा बतलाए गए साध्यादि पञ्चक भी देखे जा सकते हैं।

मातृगुप्ताचार्य ने यह लक्षण बिना सन्ध्याङ्गों को बतलाते हुए केवल संक्षेप में (कथावस्तु के प्रसार विभाजन आदि का निदर्शन करवाने के लिये) बतलाया है।

मुख्यसन्धि

समग्रलक्षण नाटकमुद्दिदिक्षुराचार्य पुनराह—

नाटक के सम्पूर्ण लक्षण को विस्तार से बतलाने की इच्छा से आचार्य [भरत मुनि] ने मुग्धादिसन्धियों के क्रमशः लक्षण बतलाते हुए सर्वप्रथम मुख्यसन्धि का लक्षण इस प्रकार दिया है।

यत्र बीजमनुत्पत्तिर्नानार्थरसमम्भरा ।

काव्यशरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ ६६ ॥

(ना० शा० २१।३७)

जब अनेक रस तथा भावों की अभिव्यञ्जनाओं के साथ नाटक के बीजार्थ की उद्घाटना की जाए—जो नाटकीय काव्य रचना या नाटकीय कथावस्तु की अनुसूचना को सम्पन्न करती हो—तो वह 'मुग्धासन्धि' कहलाती है।

बीजं नाटकस्य फलभूतस्य हेतुः । बहुप्रसारश्चार्थः सम्भवो यस्य सा तथोक्ता उत्पत्तिरिति । काव्यशरीरं नाटकस्य वस्तु । यत्रैवंविधं

बीजमुत्पद्यते तन्मुखम् । यथा बालचरिते रामायणे विश्वामित्रेण रामे कथितम्—

नाटक की फलप्राप्ति का मुख्य कारण ‘बीज’ कहलाता है । इससे कथावस्तु के अनेक कार्यो या विषयो की उत्पत्ति होती है । वाङ्मयशरीर का अर्थ है नाटकीय कथावस्तु का ढांचा । जहाँ इसी प्रकार बीज की उद्भावनता हो उसे ‘मुखसन्धि’ समझना चाहिए ।

उदाहरणार्थ ‘बालचरित’ में रामायण की कथावस्तु में श्रीराम के प्रति विश्वामित्र की यह वृत्ति—

रक्षोरुधिरपानस्य बाणानां भयं राघव ।

इदमाचमनं तावत्ताडकास्त्रं भविष्यतीति ॥

है राम, तुम्हारे बाणों को राक्षसों का रक्षित पान मुलभ रहे और इस ताडका का नाश रूपी कार्य इन्का आचमन बने ।

बीज राक्षसानां वधफलस्य मुख्य एवोक्तमतो मुखम्

यहाँ राक्षसों का वध करने रूपी फल का आरम्भ में ही उल्लेख कर देने में यह ‘मुखसन्धि’ का उदाहरण है ।

साहचर्येण बीजस्य मुख एव हि केचन ।

चिन्दुमादौ प्रकुर्वन्ति नाटकार्थनिदो जनाः ॥ ६७ ॥

बीजचिन्दू मुखे दर्शयितव्याविति पक्षान्तरमेतत् ।

बुद्ध आचार्यों का मत है कि साहचर्य के कारण मुखसन्धि में बीज के साथ चिन्दु को भी आरम्भ में ही रख देना चाहिए । अर्थात् इन आचार्यों का पक्ष यह है कि मुखसन्धि में ही एक साथ बीज तथा चिन्दु की स्थापना की जाए ।

कचित् क्रमश एव निर्देशः ।

कहीं कहीं इन दोनों को क्रमशः प्रस्तुत करने का (भी) निर्देश मिलता है ।

तथान्यथाप्याचार्य आह—

आचार्य ने इसका एक दूसरा लक्षण भी बताया है । जैसे :—

यस्मिन्नाख्यानबीजस्य श्लेषेण च्छायायापि वा ।

क्रियते कीर्तनं सद्भिस्तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ ६८ ॥

जहाँ श्लेष या छाया के द्वारा नाटकीय कथा के बीज का उल्लेख किया जाए तो उसे (भी) बुधजन 'मुखसन्धि' जानें ।

तदेतद्बीजस्य कीर्तनं पूर्वमुदाहृतमेव । तस्य द्वादशाङ्गानि यथा—

इम प्रकार अभिहित बीज का लक्षण उदाहरण आदि पहिले बतलाया जा चुका है । इम मुखसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं यथा —

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभाषना ॥ ६९ ॥

उद्देशः करणं भेदो द्वादशाङ्गानि चैव मुखे ॥ ७० ॥ इति

[ना० शा० २१।५३, ५४]

मुखसन्धि के बारह अङ्ग ये हैं—

(१) उपक्षेप (२) परिकर (३) परिन्यास (४) विलोभन (५) युक्ति (६) प्राप्ति (७) समाधान (८) विधान (९) परिभाषना (१०) उद्देश (११) करण तथा (१२) भेद ।

उपक्षेपः

तत्र काव्यार्थोत्पत्तिरुपक्षेपः । यथाह—

उपक्षेप—'उपक्षेप' का लक्षण है (परि की) नाट्यरचना में प्रस्तुत प्रयोजन या विषय का आरम्भ होना । जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है :—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ॥ ७१ ॥

(ना० शा० २१।६५)

नाट्यरचना के प्रयोजन या विषय को सक्षेप में निर्देशित करना या आरम्भ करना 'उपक्षेप' कहलाता है ।

यथा चेणीमंहारे प्रथमाह—

निर्गणर्वरदहना प्रशमादरीणां

नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन ।

रक्तप्रसाधितमुव क्षतविग्रहाश्च

स्वस्था भवन्तु कुरुराजमुता समृत्त्या । (वे० १।७)

जैसे वेणीसहार के प्रथमाङ्क में —

सन्धि होने पर विद्वेषाग्नि शान्त हो जाने के कारण पाण्डव भगवान् श्रीकृष्ण के साथ प्रसन्न हो जाएँ और अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार के द्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल पर अधिकार कर लेने वाले कौरव भी अपने सेवकों के साथ स्वस्थ हो जाएँ । (शत्रुओं के मूलोच्छेद होने के कारण वैरागि के शान्त हो जाने से पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ आनन्दपूर्वक रहे तथा अपने रुधिर को पृथ्वी पर फैलाते हुए कौरव अपने सेवकों सहित स्वर्ग को सिधारें ।)

जानकीराघवे प्रथमाङ्के—

रामस्य रावणकुलक्षयधूमकेतो

प्रीतिं तनोत्यमृतसिन्धुरियं कथैव ।

वाच. कथे. सहृदयश्रुतिरत्नपारी—

पेया भवन्तु न भवन्तु कृतं ग्रहेण ॥

तथा जानकीराघव नाटक के प्रथमाङ्क में (भी) :—

राक्षसों के कुलों का विनाश करने में धूमकेतु के समान भगवान् श्रीरामचन्द्र जी की प्रस्तुत कथा अमृतसागर के समान हैं, जो प्रीति का विस्तार करती हैं । इसकी काव्य रचना चाहे कतिपय सहृदय-शिरोमणिजन की कर्णपेय बनें या न बने इस विषय में किसी आग्रह की अपेक्षा (लेखक) नहीं (रखता) है ।

परिकरः

समुत्पन्नेऽर्थे यदर्थवाहुल्यं स परिकरः । यदाह—

समुत्पन्नार्थवाहुल्यं ज्ञेयः परिकरस्तु सः ॥ ७२ ॥

(ना० शा० २।६५)

परिकर—आरम्भ की हुई इसी कथावस्तु के उद्देश्य या कार्य का आगे और विस्तीर्ण हो जाना ‘परिकर’ समझना चाहिए । जैसा कि आचार्य (भरतमुनि) ने कहा है :—‘प्रस्तुत काव्यार्थ [कथावस्तु के कार्य या

युक्ति—उद्देश्य सिद्धि के लिये योजना या कार्य पर प्रचार करना 'युक्ति' कहलाता है।

यदाह—

‘मन्त्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते’। (ना० शा० २१।६७)

जैसा कि कहा भी है —

प्रयोजन या कर्तव्यों का निश्चय करना 'युक्ति' कहलाता है।

तद् यथा—

अहतास्त्रोऽपि बलवान् हन्त्यारं पश्य शक्तिम् ।

आसन्नस्त्राणि कान्यस्य हिरण्यरश्मिपोर्वधे ॥

जैसे —

मामर्ध्यवान् पुरुष [अपनी शक्ति के कारण] बिना [घड़े] शस्त्रों के भी अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जरा शिष्टों को तो देखो, उनके पास हिरण्यरश्मि के बंध के समय कैसे और कितने शस्त्र विद्यमान थे ?

प्राप्तिः

भुक्त्यर्थस्य यदुपगमनं सा प्राप्तिः ॥ ७६ ॥

प्राप्ति—लक्ष्य या मूल उद्देश्य की प्राप्ति होना 'प्राप्ति' कहलाता है।

यदाह—

‘भुक्त्यर्थस्योपगमनं प्राप्तिरित्यभिधीयते’। (ना० शा० २१।६७)

जैसा कि कहा भी है —

मुख्य प्रयोजन या इष्ट विषय का साधन 'प्राप्ति' कहलाता है।

तद् यथा (वेष्माम्)—

भग्न्यामि वीरवृत्तं समरे न कोपाद्

दुःशासनस्य रधिरं न पिबाम्युस्त ।

सत्पुण्यामि मदया न सुयोधनोरु

सन्धिं करोतु भवता नृपति पणेन ॥ (बे० १।१५)

जैसे — मैं युद्ध में उन एक भी वीरों का क्रोध में मदन न करूँ ? दुःशामन की छाती का लट्ठ भी (प्रनिशानुमार) न पिऊँ ? अपनी

गदा से (मैं) ‘सुयोधन की जंघाओं को न तोड़ूँ और तुम्हारे पूज्य महाराजा (युधिष्ठिर) इसी विनिमय [अर्थात् पांच गाँवों की प्राप्ति] पर कोरवों के साथ सन्धि करें ?

समाधानम्

बीजार्थस्योपगमनं यत्तत्समाधानम् ।

समाधान—बीज का अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जाना [या बीज के लक्ष्य का ठीक तरह से जम जाना] ‘समाधान’ कहलाता है ।

यदाह—

बीजार्थस्योपगमनं समाधानमिति स्मृतम् ॥ ७७ ॥

(ना० शा० २१।६८)

जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है —

बीजार्थ की उपलब्धि हो जाना ‘समाधान’ समझना चाहिए ।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के

ममाना स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।

स्फीतास्रवपानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे

सद्गामैकार्णवान्त पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥

(वे० १।२७)

जैसे :—

युद्धस्थल लक्ष्मी सागर के गम्भीर जल में परस्पर अभिहत हाथियों के शीर्ष एवं क्षतविक्षत मस्तकों से निकलते हुए खून, मांस, चर्बी और मस्तिष्कों के कीचड़ में धसे हुए रथों पर पैर रख कर जहाँ योद्धा आक्रमण कर रहे हों (और) रक्त पान करने पर प्रसन्न होकर नाचने वाली शृगाली के अमंगल शब्दों को तुरही मान कर नाचने वाले कबन्धों से भयावह हो जानेवाले प्रदेशों में घूमने का पाण्डवों को बहुत अभ्यास है ।

विधानम्

सुखदुःखकृतौ योऽर्थस्तद्विधानम् ।

विधान—सुख और दुःखों से मिश्रित कार्य का होना ‘विधान’ कहलाता है ।

यदाह—

सुखदुःखान्वितो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ७८ ॥

(ना० शा० २१।६८)

जैसा कि आचार्य भरत न भी कहा है —

जो घटना, विषय या कार्य सुख दुःख से युक्त या मिश्रित रहे उन्हें 'विधान' समझना चाहिए ।

तद् यथा बालचरिते—

उत्साहातिशयं ब्रह्म तव बाल्यञ्च पश्यत ।

मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥

जैसे बालचरित में —

हे पुत्र, जब मैं एक ओर तुम्हारे इस अतिशय साहस को और दूसरी ओर तुम्हारी बाल्यावस्था को देखता हूँ तो मेरा मन एक साथ हर्ष और विषाद से भर जाता है ।

(यथा वा) वैष्णो भीम —

भूय परिभवन्लान्तिहृत्तल्लङ्घिधुरिताननम् ।

अनिदोषोपितकौरव्यं न पश्यसि घृसोदरम् ॥

(वै० १।२६)

या फिर वैष्णोसहार के निम्न पद्य में —

भीम—निरन्तर अपमान की प्राप्ति से होन वाले कष्ट और लज्जा से मलिन मुखवाले इस भीम को अब तुम बिना कौरवों के समाप्त होने तक नहीं देखोगी ।

परिमादना

इन्द्रहलान्तरादायी स्यादर्थः परिमादना ॥ ७९ ॥

(ना० शा० २१।६९)

परिमादना—जैसा आशुपूरा कथन जिसके मध्य में कौतूहल मग्नियिष्ट रह 'परिमादना' समझना चाहिए ।

यदाह द्वीपदी—अथ, कि एतो खगे खगे समरदुही ताडी-
अदि [नाथ, किमेव खगे खगे समरदुहिस्तद्विधाने ?] ।

जैसा द्वीपदी का यह कहना—‘स्वामिन्, युद्ध का यह नगाड़ा बार बार क्यों पीटा जा रहा है’ ?

उद्भेदः—

बीजार्थस्य प्ररोहो यः स उद्भेद इति स्मृतः ॥ ८० ॥

(ना० शा० २१।६९)

उद्भेद—बीज के अर्थ या कार्य का अकुर के रूप में फूट पड़ना या प्रकट हो जाना ‘उद्भेद’ कहलाता है ।

यथा—

कृतं रावणनारस्य बीजस्याधिप्ररोहणम् ।

मारीचादिवधेनैव रामेणामितवर्चसा ॥

जैसे :—

अपरिमित सामर्थ्यशाली श्रीरामचन्द्रजी ने मारीच आदि के वध के द्वारा रावण ही के विनाश का बीज अङ्कुरित कर डाला ।

करणम्

प्रकृतार्थसमारम्भः करणम् ॥ ८१ ॥

करण—उद्दिष्ट या प्रस्तुत कार्य का आरम्भ करना ‘करण’ कहलाता है

यथा वेण्यां प्रथमाङ्के भीमः—

देवि, गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय ।

जैसे वेणीसंहार के प्रथमाङ्क में :—

भीम—देवि, अब हम कौरवों का संहार करने के लिए जा रहे हैं ।

भेदः

सहातेन मिलितस्यार्थस्य भङ्गो भेदः ।

भेद—धनीभूत या एकत्र भाव (या समूह) का भंग हो जाना ‘भेद’ कहलाता है ।

यथा दशरथः कौशिकमुक्तवान्—

रामोऽयं बलशून्यश्च शस्त्रशून्यश्च ताडकाम् ।

कथं हन्यादिति प्राह राजानं कौशिको मुनिः ॥

मत्प्रभावादयं रामो रक्ष जुलसमापनम् ।

परिष्यति कृत राजन् स्नेहविह्वलापणैः ॥

एतानि मुखाद्धानि ।

जैसे—विश्वामित्र से दशरथ ने पूछा—बालक होने से अशक्त और रहस्य पूर्ण अस्त्रों का ज्ञान न होने से यह राम इस ताड़का का हनन कैसे कर पाएगा ?

विश्वामित्र ने उत्तर दिया—हे राजन्, श्रीराम मेरे प्रभाव से इन शस्त्रों का नाश करेगा इसलिए तुम अपने प्रेम के कारण ऐसे घबराहट पैदा करने वाले शब्द मत बोलो । इस प्रकार ये मुग्धमन्थि के अह्न बतलाए गए ।

प्रतिमुखं यथा—

अथ प्रतिमुखसन्धि का लक्षण बतलाते हैं ।

प्रतिमुखम्

बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित् ।

मुखादितस्य सर्वस्य तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ॥ ८२ ॥

(ना० शा० २१।३८)

प्रतिमुखसन्धि—मुखसन्धि में स्थापित उस बीज का—जो कभी लक्ष्य और अलक्ष्य रूप धारण करता रहा था—जब विकास या प्रकट होना दिखलाई दे तो उसे 'प्रतिमुखसन्धि' समझना चाहिए ।

दृष्ट कारणरूपेण कार्यरूपेण नष्टम् । प्रथमसन्धौ बीजारोपणाद् दृष्टम् । यथासत्कार्यार्थप्रवृत्तानुपङ्गिरसार्थेण नष्टमिवान्तरितमिव । तस्योद्घाटनं पुन प्रकाशनं कर्तव्यम् । यथा वैष्णवा भीम प्राह—
“सञ्चर्णयामि गदया न सुपोधनोरु” । द्वितीयेऽङ्के कञ्चुकी—
‘भग्नं देवस्य भीमेनेति’ अमङ्गलस्तीर्तनादुरु—भङ्गमुद्घाटिवान् ।
ज्ञानहीनपदे यथा राम सीता प्रत्युत्तवान्—

लक्ष्य या दिग्गलाई पड़ने का आशय है कारण रूप में दिग्गलाई पड़ना परन्तु कार्य रूप में नहीं दिग्गलाई देना । प्रथम या मुखसन्धि में बीज की स्थापना करने से कारण लक्ष्य का दिग्गलाई देना स्पष्ट होने लगता है ।

रस के अनुसार प्रवृत्त होने वाले कार्य का जब किसी गौण या अमुख्य कार्य द्वारा आच्छादन होता हो तो उसे लक्ष्य का दबा हुआ (अलक्ष्य) हुआ रूप समझना चाहिए [यह कार्य भी मुख्य लक्ष्यदेश्य को प्रकट करने के लिये होता है] विकास या प्रकट होने का आशय है उसी बीजार्थ का फिर से प्रकाशन करना । जैसे वेणीसंहार में भीम की यह उक्ति—‘क्या मैं अपनी गदा से सुयोधन की जंघा को न तोड़ूँ ?’ अथवा वेणीमहार के दूसरे अङ्क में कञ्चुकी द्वारा अभिहित—‘देव, तोड़ डाला’ शब्दों से सुयोधन का अमंगल प्रगट करते हुए भीम के द्वारा होने वाले भावी ऊरुभग को संकेतित करना ।

लङ्कासमृद्धिमापन्नः क्रीडारण्ये सपुष्पक ।

कच्चिल्लोहितपत्रस्तवामशोकोऽसौ हरिष्यति ॥ इति

अथवा जैसे जानकीरायण में श्रीराम का सीता के प्रति निम्न कथन भी—रक्तपल्लवधारी, विहारवाटिका में अवस्थित एवं हृष्टिगोचर होनेवाला यह अशोकवृक्ष संभवतः तुम्हें अपनी लुभायनी पुष्पावली और विपुल शाखाओं से (अवश्य) आरुघ्य कर लेगा ।

अथवा (दूसरा अर्थ)

संभवतः शोकरहित एवं अपनी लालपत्तियों के कारण लङ्का की समृद्धि करते हुए जिसने सम्पन्नता प्राप्त की थी वह विहारवाटिका का पुष्पकविमान से युक्त प्रदेश तुम्हें (अवश्य) हर लेगा ।

अस्य च त्रयोदशाङ्गानि । यथा—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ।

नर्मनर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ॥ ८३ ॥

विरोधश्चैव विज्ञेयः पर्युपासनमेव च ।

पुष्पं वज्रमुपन्यासो काव्यसंहार एव च ॥ ८४ ॥

प्रतिमुक्त सन्धि के तैरह अङ्ग होते हैं । ये क्रमशः इस प्रकार हैं :—(१) विलाम (२) परिसर्प (३) विधुत (४) तापन (५) नर्म (६) नर्मद्युति (७) प्रगमन (८) विरोध (९) पर्युपासन (१०) पुष्प (११) वज्र (१२) उपन्यास तथा (१३) वर्णसंहार ।

विलासः

समीहा रतिगोकार्था ‘विलासः’ । सम्भोगो वा सुरतोत्पन्नो विलास इति संज्ञित ।

विलास—रति भार के लक्ष्यभूत पदार्थ या व्यक्ति की अभिलाषा रखना 'विलास' कहलाता है। अथवा पारस्परिक संयोगजन्य आनन्द का नाम ही 'विलास' समझना चाहिए।

यथा जानकीराघवे द्वितीयेऽङ्के राम —

अपि भुजस्तोत्रेपादस्था कृतं परिरम्भण
म्रियसहचरीक्रीडालापे श्रुता अपि सूक्तयः ।
नयपरिणयमोडाक्या मुमोन्नतियनतोऽ
प्यलसबलिता तिर्यग्दृष्टिं करोति महोत्सवम् ॥

(सर० कण्ठा० २।४२)

जसे जानकीराघव क द्वितीय अङ्क में—

श्रीराम—इसने द्वारा अपनी भुजयल्ली के ऊपर उठाने भर से आलिंगन घन जाता है तथा अपनी म्रिय सखियों के साथ किये गए दिनोद पूर्ण वार्तालाप में अभिविहित शब्द सुनने पर एव नयीन विवाह होने से लजीली रहने वाली सीता के प्रयत्नपूर्वक अपना मुह थोड़ा ऊपर उठाने पर उसकी धकी भी तिरछी चितवन अनिशाय आनन्द उत्पन्न कर रही हैं।

परिमर्षः

प्रथम दृष्टस्य पश्चान्नदृष्टानुमरणं परिमर्षः । यथा तत्रैव —

राम —

मयि किल पुरा दृष्टे पश्चान्न दृष्टिपथं गते
सुतनुरनयन्मूर्च्छाम्भोधौ दिनानि बहून्यपि ।
भृशमधिगतस्थैर्या सेय न मामभिभाषते
क्षिपति च मुहुर्व्याजाद् दृष्टिं सुधास्रपितामिव ॥

परिमर्ष—अभीष्ट वस्तुने एक बार दिग्राई पड़ने के बाद सुप्त हो जाने पर उसका पुनः अनुगण करना 'परिमर्ष' कहलाता है।

जैसे इसी (जानकीराघव) नाटक में —

श्रीराम—एक बार मुझे देख कर और फिर कुछ देर न दिग्राई पड़ने पर वह मूर्च्छा के सागर में डूब जाती है और कई दिन बीत जाने का अनुभव करने लगती है। फिर धीरे-धीरे वह थोड़ा धैर्य घर घर मुझ में

नहीं बोलती पर किसी बहाने से अपनी अमृत से सनी दृष्टि को मेरी ओर झुका लेती है ।

विधुतम्

आदावनुनयस्य कृतस्यापरिग्रहो विधुतम् ।

विधुत—आरम्भ में किये जाने वाले सान्त्वनापूर्ण शब्दों या प्रार्थना को स्वीकार न करना [या उन पर ध्यान न देना] ‘विधुत’ कहलाता है । जैसे भानुमत्यङ्क में —

यथा भानुमत्यङ्के दुर्योधन.—

विकिर धवलदीर्घापाङ्गसंसर्पि चक्षु

परिजनपथवर्तिन्यत्र किं सम्भ्रमेण ।

स्मितमधुरमुदार देवि मामालपोच्चै.

प्रभवति मम पाप्योरज्जलिस्त्वं स्पृशास्मान् ॥ (वि० २।१६)

दुर्योधन—प्रिये, तुम अपने कान तक निस्तीर्ण इन धवल नेत्रों को सेवा कार्य के उद्यत इस जन की ओर लगाओ । क्यों व्यर्थ ही घबराती हो ? मुझसे मन्वहास से आपूरित चित्ताकर्षक एव मधुर सम्भाषण तो करो । मैं दोनों हाथ जोड़ रहा हूँ तुम उन्हें छू भर दो ।

तापनम्

अपायदर्शनं यत्तत् तापनम् ॥ ८५ ॥

यथा कदलीगृहे—

सागरिका—दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुड परव्वसो अप्पा ।

पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं ण वर एवम् ॥

दुर्लभजनानुरागो लज्जा शुर्वी परव्वश आत्मा ।

प्रियसखि विषमं प्रेम मरण शरणं केवलमेकम् ॥)

(रत्ना० २।१)

तापन—किन्ती शष्टदायी या अनिष्टकारी वस्तु का दिरगलाई पड़ना ‘तापन’ कहलाता है । जैसे कदलीगृह में —सागरिका—मेरा अनुराग

ऐसे पुरुष में है जिसका मिलना दुर्लभ है, इधर लाज बहुत आ रही है और अपने बरा में आत्मा भी नहीं रही। सरि, प्रेम बड़ा दुखदायी होता है। अब सिर्फ मर जाना ही अपने दुखों को दूर करने के लिये [बचा है या] महारा है।

नर्मद्युतिः

नर्मपुरस्ताद् वक्तव्यम् । क्रीडाविलोभार्थं हास्य नर्मद्युति । यथा

तत्रव—

विदूषक — भो वयस्स, जे एदस्सि लउच्चपादये कि पि महामूदं पटिवसदि । [भो वयस्य, यद् एतस्मिन् लकुचपादपे किमपि महाभूत मतिवसति]

नर्म नर्मद्युति—परिहासपूर्ण शब्दों का प्रत्यक्ष कथन 'नर्म' होता है तथा क्रीडा में किया जाने वाला ऐसा परिहास जो लुभाता (भी) हो 'नर्मद्युति' कहलाता है। जैसे इसी अंक में :—विदूषक—मित्र, उस मामन दिरसाई देन वाले लकुच वृक्ष में एक महाभूत रहता है।

प्रगमनम्

उत्तरोत्तरवाक्य प्रगमनम् । यथा रामचिक्रमे द्वितीयेऽङ्के

प्रगमन जहाँ उत्तरप्रत्युत्तर में उत्तरोत्तर स्याद उत्कृष्ट बनते चले उसे 'प्रगमन' समझना चाहिए। जैसे रामचित्रम नामक नाटक के द्वितीय अंक में —

जनक — भद्र, कुत आगम्यते ?

जनक — भद्र, आप कहाँ से आ रहे हैं ?

यदु — अञ्ज, अरण्यो [आर्य, अरण्य]

यदु — अरण्य से ।

जनक — कि तत्र श्योतुमयेतु वा न प्राप्यते । येन दूरतराध्य-
केशोऽनुभूयते ?

जनक — क्या यही सुलभतापूर्वक तुम्हें अश्वन और अध्ययन प्राप्त नहीं हो पाया निमने लिए (आपने) लंबा रास्ता पार कर इतनी दूर आने का क्या उद्देश्य ।

बटु — कुदो भयेहि रम्बसेहि विरोहं मूढ अजाण । अद्धो वा तत्रस्मिजणोचिदो बाबारो’ इत्यादि । [कुतो भये राक्षसैर्विरोध भूतभार्याणाम् । अर्ध्वा वै तपस्विजनोचितो व्यापार ।]

बटु—हमारे आचार्यों का किमी कारण राक्षसों से बैर बढ़ गया था और फिर दूर तक रास्ता पार कर आ जाना तो तपस्वियों का सामान्य कार्य है ही ।

विरोधः

या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्विरोध इति कीर्तितः ॥ ८६ ॥

यथा जानकीराघवे द्वितीयेऽङ्के—

विरोध—विपत्ति का आ जाना ‘विरोध’ कहलाता है ॥ ८६ ॥

जैसे—‘जानकी-राघव’ नाटक के द्वितीय अंक में —

हला पिअदे, एणिणा सह समुत्पण्णे विरोहे किं अज्जउत्तम्मि भविस्सदि चि उत्तम्मदि मे हिअअ । [हला प्रियम्बदे, एतेन सह समुत्पन्ने विरोधे किमार्यपुत्रे भविष्यतीति उच्चास्यति मे हृदयम् ।]

मति प्रियम्बदे, इनके साथ विरोध हो जाने पर आर्यपुत्र का अब क्या होगा यह सोचकर मेरा मन बड़ा आकुल हो रहा है ।

पर्युपासनम्

क्रुद्धस्यानुनय पर्युपासनम् । यथा दशरथ क्रुद्धं मार्गवं दृष्ट्वोक्तवान्—

पर्युपासन—क्रोधी पुरुष को अनुनय-प्रिय द्वारा शान्त कर देना ‘पर्युपासन’ कहलाता है । जैसे क्रुद्ध परशुराम के प्रति मशराज दशरथ की यह उक्ति—

अलं मार्गं बालेऽस्मिन् रामे समरतृणया ।

न हि द्विपतडाघात सहते चूतपादप ॥

हे मार्ग यहि, इस छोटे से बालक राम के साथ आप युद्ध की इच्छा क्यों कर रहे हैं ? छोटा आम का वृक्ष क्या हाथी से टकर ले सकता है ?

पुष्पम्

विशेषवचनं पुष्पम् । अन्यत्र क्रियायामितरक्रियाधिक्यं विशेष-
वचनं तत्पुष्पम् । यथा ज्ञानक्रीराधरे द्वितीयेऽङ्के—

पुष्प—चित्ताकर्षकं विशिष्टं वाक्यावली 'पुष्प' कहलाती है । अर्थात्
निम्नी एक की उक्ति ने दूसरी अधिन उत्प्रेष्य या वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति की
नयोजना कर देना 'पुष्प' होता है । जैसे ज्ञानक्रीराधर ने द्वितीय
अंक में —

मा मैथीमिथिलाधिगजतनये दिष्टयाधुना वर्धसे
मद्र विद्धि निजप्रियस्य मुजयोर्गौर्येण गुणैरपि ।
आक्षेपे हसता स्वयोरुपकथालापेववज्ञावता
वर्षाक्षपमपित्यकामुक्कमृता रामेण रामो जित ॥

मिथिलाधिपति जनक की पुत्री सीते, तुम मर टरो । तुम्हारी
विजय हो । क्योंकि तुम्हारे स्वामी के विशाल बाहुओं के पराक्रम ने
सभी ठीक कर दिया है । भगवान् परशुराम के आक्षेपों को हँस कर
मह लेने वाली और अपने पुष्पार्थ की प्रशंसा पर ध्यान न देने वाली
क्रीराम ने ऊन्हीं के धनुष पर अब प्रत्यक्षा चढ़ाकर ऊन्हीं को
पराजित कर आला है ।

वज्रम्

रुद्रप्राय वचनं वज्रम् । यथा पुंमयने—

वज्र—मुँह पर ही कठोर वचन का हालना 'वज्र' कहलाता है ।
जैसे पुंमयनाष्ट्र में—

अज्जटत्तम्म पुत्तो भविअ एत्तिअ धाल रात्रेण उवणीद् सीद्धं
अज्ज वि ण परिच्चअदि । [आर्यपुत्रस्य पुत्रो भूत्वा पतावन्शाल
रात्रेणोपनीता भीतामद्यापि न परिचीयते]

यह आर्यपुत्र का पुत्र होने पर भी रात्रण द्वारा इनने ममय तक
रण की गयी सीता को नहीं पचान रहा है ।

१. पुंमयनाष्ट्र - अन्निराम नाटक है (अन्निराम) अष्ट्र का नाम । मयनाति
यह नाटक अज्ञान्य है ।

उपन्यासः

उपपत्तिकृनो योऽर्थः स उपन्यासः । यथा जानकीराघवे
द्वितीयेऽङ्के शतानन्द —

इदं पुनरुपपत्तिमदशरथस्य वचनमुपश्रुत्य भृशमानन्दिता स्म ।
‘राज्यं मुक्तमशत्रु पौरुषकथेत्यादि’ ।

उपन्यास—युक्तियुक्त वचनो का प्रस्तुत करना ‘उपन्यास’ समझना
चाहिए । जैसे जानकीराघव के द्वितीय अंक में शतानन्द—हम महाराजा
दशरथ के इन तथ्यपूर्ण वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हैं कि ‘राज्य
प्राप्त हो गया और शत्रुओं की अब दूर तक चर्चा नहीं रही’ इत्यादि ।

वर्णसंहारः

वर्णितस्यार्थस्य तिरस्कारो वर्णसंहारः । यथा कदलीगृहे
विद्रूपक—

मुद्रा क्व एसा गम्भटासी । [मुखरा खल्वेषा गर्भदासी ।]

वर्णसंहार—एकवार कहे हुए वचनों की अबहेलना करना ‘वर्णसंहार’
कहलाता है । जैसे कदलीगृह नामक श्लोक में—

विद्रूपक—यह जन्मजात गधी बड़ी मुँहजोर हो रही है ।

चतुर्णां वर्णानां सम्मिलनमपि केऽपि वर्णयन्ति । यथा—

ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चारणवृत्तयः ।

रामप्रवसने भूप केरुर्या चाप्यनिन्दयन् ॥ इति ।

बुद्ध आचार्यों का मत है कि—चारों वर्णों का एकत्र सम्मेलन
‘वर्णसंहार’ कहलाता है । जैसे :—

श्रीराम के वनवास के अवसर पर उपस्थित होने वाले ब्राह्मण,
क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चारण सभी ने महाराज दशरथ और केन्या
की निन्दा करनी शुरू की ।

गर्भः

नाटकस्य मध्यत्वाद् गर्भः ।

उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च ।

पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संस्पृष्टः ॥ ८७ ॥

गर्भसन्धि—नाटक के मध्यवर्ति स्थान में रहने के कारण 'गर्भसन्धि' कहा जाता है । [जैसा कि आचार्य ने कहा भी है]

जब बीज अक्षुरित या प्रकट होकर (फिर) विरोधित हो जाए तथा आगे चलकर उसी का फिर अन्वेषण किया जाए तो उसे 'गर्भसन्धि' समझना चाहिए ।

मुख्य—प्रतिमुख्याभ्यां मुख्योत्थानस्य बीजस्य यत्र उद्भेद प्रकाशनम् ।
यथा जानकीराघवे तृतीयोऽङ्के

बीज के अक्षुरित होने का आशय है मुख तथा प्रतिमुख सन्धि में विवर्तित या प्रकाशित होने वाला बीज का प्रकट होना । जैसे जानकी-राघव नाटक के तृतीय अंक में —

सुमीव —

जानकी हरता मन्ये दशरुष्टेन रक्षसा ।

विनाशायामनो बेर रामे महदनुष्ठितम् ॥ इति ।

सुमीव—येरा तो मन है कि राक्षस राघव ने सीता का अपहरण कर श्रीराम के माथ जो शत्रुता की है यह उसके अपने ही विनाश के लिए होगी ।

नाटकादी यन्मुद्रय भवति विधिर्वा निषेधो वा । तत्र प्राप्तिरूपो विधिरप्राप्तिरूपो निषेधः ।

नाटक आदि रूपों में दो बातें होती हैं—एक विधि और दूसरा निषेध । विधि कहते हैं प्राप्ति होने की तथा इसी के विपरीत अप्राप्ति होने को निषेध कहा जाता है ।

प्राप्तिरूपो यथा बीजमारब्धं रक्षसां क्षयः ।

नीतं मीतापहारेण रामस्यायत्यकार्यताम् ॥ ८८ ॥

विधि या प्राप्ति का उदाहरण है—राक्षसों के विनाश का आरम्भ करना । यही बीज है जो राक्षसराज राघव के द्वारा श्रीसीता के अपहरण करने पर श्रीराम के द्वारा राक्षसों को ममूल उन्नेष्ट करने में आवश्यक कृतक्य बन जाता है ।

अप्राप्तिरूपो यथा—उद्यनम्य वासवदत्तासक्तस्य राघुणा देशा-

वष्टम्भेन मन्त्रिणा लावणकदाहव्याजाद् वासवदत्ताया अपातिर्दिशिता ।
पुनश्च तस्यास्तपः समाचरणान्वेषणम् । एवं प्रकारो गर्भः ।

निषेध का उदाहरण है—वासवदत्ता के प्रेम में डूबे हुए उदयन के राज्य पर जब शत्रुओं का आक्रमण हो रहा था तब भी महाराजा उदयन द्वारा प्रतिकार न किये जाने की स्थिति जानकर महामन्त्री योगन्धरायण द्वारा लावणक को जलाकर इसी बहाने से वासवदत्ता को छिपा देना । फिर उसी रानी की बड़ी तपस्या के बाद खोज करना^१ । गर्भमन्त्रि का यही स्वरूप माना गया है ।

अस्य त्रयोदशाङ्गानि यथा—अभूतोदाहरणम्, मार्ग, रूपम्, उदाहरणम्, क्रमः, संग्रह, अनुमानं, प्रार्थना, उल्लिखितम्, तोटकम्, अधिबलम्, उद्वेग, विद्रव इति ।

गर्भसन्धि के तेरह अंग होते हैं । यथा—(१) अभूतोदाहरण (२) मार्ग (३) रूप (४) उदाहरण (५) क्रम (६) संग्रह (७) अनुमान (८) प्रार्थना (९) उल्लिखित (१०) तोटक (११) अधिबल (१२) उद्वेग तथा (१३) विद्रव ।

अभूतोदाहरणम्

कपटाश्रयं वचनमभूतोदाहरणम् । यथा अश्वत्थामाङ्के—

अभूताहरण—कपटभरी शब्दावली का प्रयोग करना ‘अभूताहरण’ कहलाता है । जैसे अश्वत्थामांक में—

अश्वत्थामा हत इति पृथगुक्तुना स्पष्टमुक्त्वा

स्वैरं शेषे गज इति किल व्याहृत सत्यवाचा ।

तच्छ्रुत्वासौ दयिततनय प्रत्ययात्तस्य राज्ञः

शस्त्राण्याजौ नयनसलिल चापि तुल्यं मुमोच ॥

(वे० ३।११)

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने ‘अश्वत्थामा मारा गया’ ऐसा स्पष्ट रूप में जोर से कह कर सत्यभाषी होने के कारण भीरे से ‘हाथी’ कह दिया ।

१. यह विवरण मायुराज या मातुराज उपनाम अनङ्गद्वर्षणीत तापम-दम्पराज नाटक के अनुसार दिया गया है ।

उसे मुनकर बुधिमिर पर विश्वास होने से पुत्र वत्सल द्रोणाचार्य ने अशुपात के साथ शत्रु का भी रण में परित्याग कर डाला ।

मार्गः

तत्त्वार्थकथनं मार्गः ॥ ८९ ॥

यथा जानकीराघवे तृतीयेऽङ्के हनुमान्—

यस्ताडना निहतवाञ्छिभुरेव येन भग्नं धनु पशुपतेर्विजितो भृगुर्या ।
एक खरादिनिधन विदधे प्रवीर त राघवं शरणमेहि हितं स्वमिच्छत् ॥

मार्गः—यथार्थ बात की (प्रकृत प्रिय से सम्बद्ध) उद्घोषणा करना 'मार्ग' कहलाता है । जैसे जानकीराघव के तृतीय अंक में हनुमान्—
जिमने अपनी शैश्यावस्था में साइबा राक्षसी का हनन किया, शकर के घनुष को तोड़ डाला और परशुराम जी को पराजित कर दिया,
जिम अकेले धीरे श्रेष्ठ ने गर आदि राक्षसों को यमलोक पहुँचा दिया
वही श्रीराम की शरण में अपना तिन चाहो तो आ जाओ ।

रूपम्

चित्रार्थसमायुक्तो वितर्को रूपम् । यथा मङ्गलाङ्के—

मन प्रवृत्त्यै च ल दुर्लभ्यश्च तथापि मे ।

कामेनैतत्कथं विद्ध सम सर्वं शिलीमुखे ॥ (रत्ना० ३।२)

रूपः—किसी आश्चर्योत्पादक घटना की वितर्कपूर्ण वाक्यों द्वारा स्थापना करना 'रूप' कहलाता है । जैसे मङ्गलाङ्क में :—

(मेरा) मन स्वभाव में ही चंचल होता है और इसका पाना बड़ा पटिन है फिर काम ने इसे अपने सभी बाणों से तुल्य कैसे बाँध डाला ?

उदाहरणम्

सातिशय वचनमुदाहरणम् । यथाश्वधामाङ्गे 'यो य शम्ब विमत्ति' (३० ३।३२) इत्यादि ।

उदाहरणः—अनिशय उच्चेतना या उत्कर्ष युक्त वाक्य विन्यास को 'उदाहरण' समझना चाहिए । जैसे अश्वधामाङ्क में अश्वधामा—
'पाण्डवों की सेना में जो जो शत्रुधारी धीरे हैं' इत्यादि ।

क्रमः

भविष्यत्त्वोपलब्धि क्रम । यथाऽश्वत्थामाङ्के—

कृप — राजन्, द्रोणपुत्रेण सुमहान्समरमारो वोढुमध्यवसित भवता च कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तु लोकात्रयमपि समर्थं किं पुनर्युधिष्ठिरवल्गुमिति ?

क्रम— भावी घटना या अभिप्राय का उन्नयन ‘क्रम’ कहलाता है । जैसे अश्वत्थामाङ्क में —

कृपाचार्य—राजन्, द्रोणपुत्र ने संग्राम के बड़े दायित्व को वहन करने की प्रतिज्ञा की है अतः एव यदि मेरे विचार से आप इनका सेनापति के पद पर अभियेक कर दें तो य तीनों लोको का सहार कर सकते हैं फिर पाण्डवों की सेना का सहार कर डालना कौन बड़ी बात होगी ?

संग्रहः

सामदानादियुक्त वान्य सङ्ग्रह । यथा वेण्णाम्—

धृतराष्ट्र — वत्स, यदि मन्यसे तदाहमेव किञ्चिद्विज्ञापयामि ।

संग्रह—प्रियत्रचन और दान आदि से पूर्ण कथन ‘संग्रह’ कहलाता है । जैसे वेणीसङ्ग्रह में ।

धृतराष्ट्र—पुत्र, यदि तुम मानो सो मे (ही) तुम्हें कुछ बतला दूँ ।

अनुमानम्

रूपस्यानुगमनमनुमानम् । रूप्येनै इति रूप वस्तु ।

अनुमान—किसी वस्तु या दृश्य पदार्थ को देख कर उसी के आधार पर उसके समस्त शेष भाग का कल्पना के द्वारा अनुमान या निश्चय कर लेना ‘अनुमान’ कहलाता है । जिसका स्वरूप दिखलाई पड़े उसे रूप या वस्तु कहते हैं । जैसे —

तस्यानुमानयति काञ्चनस्नान्तिगौर

कायश्च सूर्यतनयत्वमपृष्यता च ।

शरीर का सोने के समान चमकीला आर गौर वर्ण होना ही उसके सूर्यपुत्र होने और युद्ध में किसी से पराजित न होने की सूचना दे रहा है ।

प्रार्थना

अभ्यर्थनायुक्त वचन प्रार्थना । यथा सम्पात्यङ्के—

प्रार्थना—किसी बात की याचना प्रकट करने वाली वचनायली को 'प्रार्थना' समझना चाहिए । जैसे मयाति नामक अङ्क में :—

मायावती—घुच, कीस म पहारेसि अणुइअम अणुरचं । [धूर्त,
कथं मा प्रहरसि अनुदिवममनुरात्रम्]

मायावती—धूर्त, तुम मुझे दिन रात क्यों प्रताड़ित करते रहते हो ?
उत्क्षिप्तम्

बीजोद्वेदनमुत्क्षिप्तम् । यथा बालचरिते—

राज्ये जनकराजेन्द्रमुताप्रासिष्णीकृतम् ।

सुग्रीवस्य कपेर्दध रामेण हतमालिना ॥

अत्र गर्भग्रीवस्य सिद्धे च उद्वेदन कृतम् ।

उत्क्षिप्त—बीज को प्रकट कर देना 'उत्क्षिप्त' कहलाता है । जैसे बालचरित में —

जनकनन्दिनी सीता को प्राप्त करने में महायत्ना देने की शर्त पर श्रीराम ने बाली को मार कर रुपिराज सुग्रीव को राज्य दिया है ।

यहाँ गर्भसन्धि में विद्यमान बीज और सिद्धि को प्रकट कर दिया गया है ।

तोटकम्

सम्बधवचन तोटकम् । तत्रैव रावण —

एष नो निहतज्ञातिस्नेहोद्बृत्त पतिप्यति ।

नोधाग्निरचिराद्वैरिसैन्यजीर्णवने महान् ॥

तोटक—आवेश या क्रोधपूर्ण वचनों को 'तोटक' कहते हैं । जैसे इसी नाटक में ।

रावण—हमारी यह क्रोधाग्नि अपनी जाति के नाशस्नेह को छलका कर शीघ्र ही शत्रुओं के जीर्णवन पर गिर जाएगी ।

अधिमलम्

कपटस्यान्यथाकरणमधिमलम् । तथा सम्पात्यद्वे

अधिमल—किसी छल या माया का दूसरी ओर मोड़ देना या दूसरे ही अर्थ में लेना 'अधिमल' समझना चाहिए । जैसे मयाति-अंक में :—

हनुमान्—रावणप्रयुक्तयानया भवितव्यम् ।

अङ्गद—न तावदस्या. कपटासिन्धामे दूरमधिगम्याः स्म ।

हनुमान्—यह निश्चित ही रावण के द्वारा कैलाशी गयी [माया] है ।

अङ्गद—पर हम इसके कपट जाल में दूर तक नहीं डूबे हैं ।

उद्वेगः

नृपतिजनितभयमुद्वेग । यथा सम्पात्यङ्के—

अङ्गद (सोद्वेगम्) ।

किं दृष्ट्वा युवराज इत्यभिहित पापोऽहमिश्वाकुणा

किं सच्चिन्त्य मयापि वानरपतेराज्ञेयमालम्बिता ।

आन्त्वा शैलपरम्परास्वपि मया दृष्टा न सा मैथिली

किं वक्ष्यामि वनान्निवृत्य जडधीराणास्थिते राघवे ।

उद्वेग—राजभय से पैदा होने वाली घबड़ाहट को ‘उद्वेग’ कहते हैं । जैसे संपाति अङ्क में —

अङ्गद—(घबराने हुए) भगवान् श्रीराम ने मुझ पापी को क्या देख कर युवराज रण और मैंने भी वानरराज सुपीव की आज्ञा को क्या सोच कर स्वीकार किया था । हाय ! एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर भटकने पर भी मैं सोता जी को न देख पाया । अब बिना कुछ पता लगाए इस वन से लौटता हूँ तो वहाँ आशा लगा कर बैठे हुए श्रीराम को मैं क्या बतला सकूँगा ?

विद्रवः

शङ्काभयनासकृतो विद्रव । यथा—

विद्रव—आशंका, भय या घबड़ाहट से पैदा होने वाली भगदड को ‘विद्रव’ समझना चाहिए । जैसे —

खरादिविहित घोर श्रुत्वा कलकल वने ।

शङ्का रामस्य सीताया भय गतस्तपस्विनाम् ॥

दण्डकारण्य वन में एर आठि राक्षसों का घोर कोलाहल सुन कर श्रीराम को आशंका, सीता जी को भय और तपस्वियों को घबड़ाहट उत्पन्न हो गयी ।

एकैककृतं चेचिदिच्छन्ति ।

कुछ आचार्यों का मन है कि ये भाव एक ही पात्र या व्यक्ति में एक साथ रहना चाहिए ।

विमर्शः

अथ विमर्श । ननु विमर्श इति कोऽर्थः ? उच्यते—गर्भेण सन्धि-
द्वितस्य बीजार्थस्य लोभभारिण आश्लेषणमयुक्तो [यो] भवति स
विमर्शः । यदाह—भरतमुनि—

विमर्शसन्धि—अथ विमर्शसन्धि' बतलाता है । (प्रश्न) विमर्श
शब्द से क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) गर्भमन्धि में जिस बीजार्थ का
विकास हुआ था उसमें प्रलोभन आदि के द्वारा और अधिक जमावट
पैदा कर देना 'विमर्श' कहलाता है । जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने
(भी) बतलाया है :—

गर्भनिभिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा ।

तस्य आश्लेषसंयुक्तः स विमर्श इति स्मृतः ॥ ९० ॥

जहाँ गर्भमन्धि में प्रकट या प्ररमित बीजार्थ प्रलोभन
(मोघ या दुर्गति) आदि के संयोजन के द्वारा और विकसित हो जाता
हो वह 'विमर्शसन्धि' कहलाता है ।

अन्यस्त्वाह—

प्रकीर्णस्यार्थजातस्य विमर्शाद् यत्र संवृतिः ।

शत्रोरुपचयो भूयान् विमर्शः स च कथ्यते ॥ ९१ ॥

दूमरे आचार्य का मन है कि जहाँ बिखरे हुए या फैले हुए
कार्यों का विचारपूर्वक संवरण (एकत्रीकरण, केन्द्रीकरण) किया
जाए तथा शत्रु का सामर्थ्य बढ़ा बढ़ा रहे तो उसे 'विमर्शमन्धि'
ममकना चाहिए ।

अन्यस्त्वाह—

सम्पन्नरूपं यत् कार्यं प्रस्तापेनेह स्थितम् ।

मनस्यायाति सन्देहं विमर्शं केऽपि तं विदुः ॥ ९२ ॥

अन्य आचार्यों का मन है कि जब कार्य या प्रयोजन प्रायः पूर्णता की स्थिति तक पहुँच जाए और उनको पूर्णता के विषय में सन्देह भी बना रहे तो उसे कुछ आचार्यगण ‘विमर्श सन्धि’ मानते हैं।

अस्य विमर्शस्त्रिधा भवति—विलोभनसमुद्भव, क्रोधज व्यसनजश्च । तत्र विलोभनकृतो यथा—मायासीतार्पणेन रामस्य राक्षसैर्जनित सन्देह विमर्श । राघवाभ्युदये रावणेन आरब्धकूटसन्धौ जालिनी राक्षसी सीतारूपेण रामस्य जनित सन्देहे विमर्श । यदाह—

इमं बीजार्थं का विचारपूर्वक संदरण या विमर्श तीन प्रकार से किया जाता है—(१) प्रलोभन के द्वारा (२) क्रोध के द्वारा तथा (३) (किसी) त्रिपत्ति के द्वारा ।

प्रलोभन (विलोभन) के द्वारा होने वाले ‘विमर्श’ का उदाहरण है—राक्षसों के द्वारा माया-सीता को श्रीराम को अर्पित करते हुए सन्देह उत्पन्न करना । राघवाभ्युदय (रामाभ्युदय) नाटक में लंका-धिपति रावण के द्वारा आरंभ किये गए कूट-व्यापार में ‘जालिनी’ नामक राक्षसी को सीता रूप में श्रीराम को बतला कर सन्देह उत्पन्न करना ‘विमर्श’ है । जैसा कि वहाँ कहा गया है :—

कथमिदं विदधामि तस्य सन्धिं कथममरेन्द्रगिरा भवामि वास ।

इति विषमविवर्तमानाचिन्ता-तरलमतिर्न विनिश्चिनोमि किञ्चित् ॥

मैं इससे सन्धि कैसे कर लूँ ? और मैं देवताओं के अधिपति इन्द्र की प्रशक्तियों का लक्ष्य कैसे बनूँ ? आज इन्हीं विरोधी विचारों के आघात से घूमने के कारण अस्थिरबुद्धिवाला होकर मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ ।

क्रोधजो यथा—

शत्रुमिर्वत्सराजस्य पुरोरोधैर्निर्दिशितः ॥ ९३ ॥

क्रोध से होने वाले ‘विमर्श’ को वत्सराज उदयन के नगर पर घेरा डाल कर शत्रुओं ने प्रकट किया है ।

व्यसनकृतो यथा वेण्याम्—युधिष्ठिर.

तीर्थों भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते

वर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शत्र्येऽपि याते दिवम् ।

भीमेन प्रियसाहसेन रमसादल्यावशेषे अये

सर्वे जीवितमशय वयमभी वाचा समारोपिता ॥ (वि० ६।१)

विपत्ति (व्यसन) से होने वाले 'विमर्श' का उदाहरण है यणी सहार म युधिष्ठिर का निम्न कथन—जब किसी प्रकार भीमरूपी महा समुद्र को पार कर लिया था, द्रोणरूपी अग्नि भी बुझ गयी, कर्णरूपी विपसर्प भी शान्त हो गया और शल्य भी स्वर्ग को मिघार चुके थे। इतना सब होने और विनय के थोड़े अंश के अवशिष्ट रह जाने पर साहसी भीमसेन ने अपनी शीघ्रता और उद्धत कथनों से हम सभी का जीवन सफट में डाल दिया।

अस्य त्रयोदशाङ्गानि—अपवाद, सम्प्रेट, द्रव्य शक्ति, व्यवसाय, प्रसङ्ग, घृति, खेद, प्रतिषेध, विरोधनम्, आदान, सादन, प्ररोचना चेति।

विमर्श सन्धि के तैरह अंग होते हैं। यथा —(१) अपवाद (२) सम्प्रेट (३) द्रव्य (४) शक्ति (५) व्यवसाय (६) प्रसङ्ग (७) घृति (८) खेद (९) प्रतिषेध (१०) विरोध (११) आदान (१२) सादन तथा (१३) प्ररोचना।

अपवादः

तत्र दोषमव्यापनमपवादः। यथा जानकीराघवे मायालक्ष्मणे रावण —

अवज्ञानं ह्येति क्षितिधरमुताया कपिरम्भी-

त्यधिक्षेपो नन्दिन्यथ रघुपतेर्द्वारहरणम्।

अमी दोषा सर्वे ध्रुवमधिगतोत्पाककटय

वरिष्यन्ते धार व्यसनमधुना राक्षसपते ॥ इति

अपवाद—किन्नी पात्र के दोषों को प्रख्यात करना या उन दोषों का वर्णन करना 'अपवाद' कहलाता है। जैसे जानकीराघव नाटक के माया लक्ष्मण नामक अङ्क में —

रावण—मैंने समझ कर परंताधिराज हिमाय की पुत्री पार्वती की का मेरे द्वारा अपमान करना जब निबन्धी को तू बन्दर है कह कर हाटरनी थी तथा राघव की धर्मपत्नी का अपहरण करना।

(आज) मेरे द्वारा किये दुष्कर्म ये (अब मुझे) अपना फल दे रहे हैं
तथा मुक्त राक्षसाधिपति को ये अब भारी विपत्ति में डाल देंगे ।

सम्फेदः

रोषप्रथितं वाक्यं सम्फेदः । यथा वेणीसंहारे—

सम्फेद—क्रोधपूर्ण सम्भाषण करना ‘सम्फेद’ समझना चाहिए ।
जैसे वेणीसंहार में—

युधि—ननु भीमसुर्योधनयोरिति कथ्यताम् ।

युधिष्ठिर—भीम और दुर्योधन का कहिये ।

चार्याक—आ’ अविदितवृत्तान्त एव मा पृच्छसि ।

चार्याक—अरे ! तुम बिना किसी बात को जाने ही मेरी बात फाट
रहे हो ।

यथा वा—वासवदत्तासङ्केतके (रत्ना ३)

वासवदत्ता—अज्जउत्त णिरज्जो (बहुत) अअं जणो जो अज्ज-
उत्तस्स एवं पि हिअअं जाणिअ पुणो वि कुपिदेदि । [आर्यपुत्र,
निर्लज्ज (खलु) अयं जन य आर्यपुत्रस्य एवमपि हृदयं ज्ञात्वा
पुनरपि कुप्यति] (रत्ना० अ० ३)

अथवा वासवदत्ता सङ्केतक नामक (रत्ना० अङ्क ३) अङ्क में :—

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, मैं बड़ी निर्लज्ज हूँ । जो मैंने आपके हृदय
की अभिलाषा जान कर भी (अब तक) इतना क्रोध किया ।

द्रवः विद्रवश्च

गुरुव्यतिक्रमो द्रवः । शङ्कादिभिर्मनस क्षोभो विद्रवः । स एव
परिभग्नहृत्तो द्रव । यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिर.

गुरुणां बन्धूना क्षितिपतिसहस्रस्य पुरतः.

पुरागूढस्माकं नृपसदसि योऽसौ परिभवः ।

प्रिये तस्येदानीं द्वितीयमपि पारं गमयितुं

क्षमं प्राणानां वा कुर्यातिपशोर्वास्य निघनम् ॥ (वे० ६।५)

॥ इति ॥

द्रव व विद्रव—पूज्यजन की मर्यादा का उल्लंघन करना 'द्रव' होता है तथा आशका आदि के द्वारा मानसिक क्षोभ हो जाना 'विद्रव' कहलाता है।

विद्रव ही जब किसी के अपमान को सम्पन्न करे तो 'द्रव' धन जाता है। उदाहरणार्थ वेणीसंहार में

युधिष्ठिर—सभा में पहिले हम लोगों का जो अपमान हमारे पूज्य गुरुजन, कुटुम्बियों और रानाओं के सम्मुख किया गया था उसका अन्त दो बातों से ही हो सकता है। (एक) हम लोगों के प्राणों का अपमान या (दो) पशु तुल्य जडमति कौरवराज दुर्योधन का आचरण में हनन होना।

शक्तिः

विरोधप्रशम शक्ति । यथा चूडामणिसंहारे—

शक्ति—विरोधों का शान्त हो जाना 'शक्ति' कहलाता है। जैसे चूडामणिसंहार नामक (नागा० अ० ५) अङ्क में—

जीमूतवाहन—नित्य प्राणामिधातात् प्रतिविरम कुरु प्राक् कृते चानुतापम् ।
(ना० न० ५।२४) इत्यादि ।

गरुडः

अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधित ।

सर्वप्राणिवषादेव विरतोऽद्यप्रभृत्यहम् ॥इति॥ (ना० न ५।२५)

जीमूतवाहन—तुम अब प्राणियों के हिंसा रूपी दुःस्वप्नों में रिरत हो जाओ और पिछले कार्यों पर पश्चात्ताप करो। इत्यादि।

गरुड—मैं अभी तक अज्ञान की निद्रा में सोया था। आन आपने उससे मुझे जगा दिया है। अब मैं आन से सभी प्राणियों की हिंसा करना बन्द कर रहा हूँ।

व्यवसायः

प्रतिज्ञाहेतुसंछिष्ट वाक्यं व्यवसायः । यथा वेणीसंहारे

याधालक—जानाति सुयोधनो जलसस्तम्भनीं विद्याम् इति ।

व्यवसाय—प्रतिज्ञा तथा हेतु आदि से युक्त वचनारली को ‘व्यवसाय’ कहते हैं। जैसे:—वेणीसहार नाटक में—(अङ्क ६)

पाञ्चालक—दुर्योधन जलस्नम्भनी विद्या को जानता है ‘‘इत्यादि।

प्रसङ्गः

अप्रस्तुतार्थव्यापन प्रसङ्ग । यथा तत्रैव—

प्रसङ्ग—किसी अप्रस्तुत तथ्य या घटना का उल्लेख करना ‘प्रसङ्ग’ कहलाता है। जैसे वेणीमंहार नाटक में (अङ्क ६)

‘हा भीम’ हा कान्तारवासप्रिय, हा जतुगृहसमुद्रसमुत्तरणयान-पात्र’ इति ।

ओ मेरे प्रिय भीम, वनवास में हम लोगों के सबसे बड़े सहायक, लाए के महल रूपी समुद्र को पार करवाने में हमारे लिये जलयान (जहाज) स्वरूप, इत्यादि ।

द्युतिः

तर्जना आघर्षणा । अभिशेषकृत वाक्य द्युतिः । दुरुक्तिपरिणामा आहुतिरत्रामिमता । यथा तत्रैव—पाञ्चालकः—

‘जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशसी’त्यादि (वे० सं० ६।७)

द्युति—किसी पात्र का अपमान करना ‘द्युति’ कहलाता है। यहाँ अपमान किसी डाट डपट [तर्जना] या किन्हीं ऐसे शब्दों के कथन द्वारा किया जाता है जिसका परिणाम भयंकर या विपरीत हो जाए। जैसे वेणीसहार नाटक में —

पाञ्चालक—तुम अपना जन्म निर्मल चन्द्रवश में घतला रहे हो और इत्यादि । (वे० सं० अ० ६।७)

खेदः

मनश्चेष्टासमुत्पन्न श्रमः खेदः । यथा जानकीराधने पष्ठेऽङ्के

रामः

इहैवास्ते सीता करकिसलयन्यस्तवदना

विचिन्वाना वार्ता तव मम च सार्धं त्रिजटया ।

विमर्दे रक्षोभिः प्रतिदिवसमाविर्भवति न

समुद्रान्तप्राणा क्षिपति रजनी वासरमपि ॥

खेद—मानसिक या शारीरिक कार्यों के करने से होने वाली थकावट को 'खेद' समझना चाहिए। जैसे जानकीराषव के पप्र अंक में :—

राम—अपने कर किसलय पर मुँह टिका कर त्रिजटाराक्षमी के साथ सीता तुम्हारे और मेरे समाचारों पर विचार करती हुई यहीं बैठी हुई है। यह प्रतिदिन किये जा रहे राश्रसों के सहार के कारण मन में आशंका लिये हुए दिन और रात को चिताती है और प्राणों में आकुलता लिए है।

प्रतिषेधः

ईप्सितार्थप्रतीघात प्रतिषेधः। यथा घूडामणौ—

प्रतिषेध—इष्ट पदार्थ की प्राप्ति में विघ्न का आ जाना 'प्रतिषेध' कहलाता है। जैसे घूडामणि अंक में

शङ्खचूड—'गोकर्णमर्णवतटा'मित्यादि (नागा० ५।६)

शङ्खचूड—मैं समुद्र के तट पर स्थित गोकर्ण तीर्थ को प्रणाम कर शीघ्र ही उस स्थान पर आ पहुँचा हूँ जहाँ सर्पों का हनन किया जाता है, इत्यादि।

विरोधनम्

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनम्। यथा बेणीसहारे कञ्चुकी—

एष दुरात्मा कौरवापसद क्षतजपाटलाम्बर समुत्थितरक्तभीषण-
गदाशनि उद्यतकालदण्ड इवान्तक तत्रमवती पाष्ताल (राज) तनया-
मितस्तत परिमार्गयमाण इत एवाभिर्वर्तते इति। (वि० सं० अ० ६)

विरोधन—कार्य या उद्देश्य के पूर्ण होने के अनन्तर पर किसी विघ्न का सकेत या प्राप्त हो जाना 'विरोधन' कहलाता है। जैसे बेणी-सहार नाटक में

कञ्चुकी—रक्षा कीजिये महाराज, यह नीच कौरवपति जिसने वस्त्र और शरीर खून से लथपथ होने से लाल हो चुके हैं और जो अपनी रक्त रंजित गदा को फालदंड के समान ऊपर उठाने हुए यम के समान द्रौपदी को दूढ़ता हुआ इधर ही चला आ रहा है।

आदानम्

बीजकार्योपगमनम् आदानम्। यथा परित्यक्ते—वासनदत्ता-
अज्जउत्त साअरिआ विवज्जद। परित्तायदु अय्यवत्ते। [आर्यपुत्र,

सागरिका विपद्यते । परित्रायताम् आर्यपुत्रः] ।

राजा—(सहर्षम्) एष गच्छामीति (रत्ना० अ० ४)

आदान—बीज भूत कार्यो का समग्र या साधनों का उपलब्ध हो जाना ‘आदान’ समझना चाहिए । जैसे पलित्यङ्क में—वासुदत्ता—आर्यपुत्र, सागरिका मर रही है । उसे बचाइये । राजा—(सहर्ष) अभी जाता हूँ ।

सादनम्

अपमानकृत वाक्यं सादनम् । यथा वेणीसंहारे—

‘ऊरू करेण परिपट्टयत’ (बे० सं० ६।२५) इत्यादि ।

सादन—अपमानपूर्ण वचनों का कथन करना ‘सादन’ कहलाता है । जैसे वेणीसंहार में

‘बड़े जोश से अपने हाथ से जाँघों को ठोकने वाले दुर्योधन के सम्मुख जिसका वस्त्र खींचा गया था और केशों के खींचने से जिसकी वेणी खुल गयी थी वही द्रौपदी अब कहाँ हूँ ?’ इत्यादि

प्ररोचना

प्ररोचना च विज्ञेया संहतार्थप्रदर्शिनी ॥ ९४ ॥

यथा जानकीराघवे पष्ठेऽङ्के लक्ष्मण—‘दूरप्रोन्नतकुम्भकर्णविटपी’त्यादि ।

प्ररोचना—प्रारम्भ किये हुए कार्य का निर्वाह या पूर्णता दिखलाने वाले कथन को ‘प्ररोचना’ कहते हैं । जैसे जानकीराघव के पष्ठ अंक में लक्ष्मण—उन्नत वृक्ष के समान दूर तक फैल जाने वाले कुम्भकर्ण रूपी वृक्ष (ना० ल० २० को० पृष्ठ १०) को ‘’ इत्यादि ।

निर्वहणम्

समाप्तिः सम्यग्पर्यानां प्रस्तुतानां महौजसाम् ।

नानामावोत्तराणाञ्च भवेन्निर्वहणं तु तत् ॥ ९५ ॥

निर्वहणमन्वि—आरम्भ किये गए उन सभी महत्वपूर्ण एवं उत्तमोत्तम भावों से युक्त कार्यों की पूर्णतः समाप्ति या फलोपलब्धि हो जाना ‘निर्वहणमन्वि’ कहलाता है ।

पूर्व प्रस्ताविताना बीजादीनामर्थाना यत्र निर्बूढतया समापनं तन्निर्वहणमित्यर्थः । अस्य च चतुर्दशाङ्गानि । यथा—अर्थ, ग्रथनं, निर्णय, परिभाषण, द्युतिः, प्रसाद, आनन्द, समय, अनुयोगः, उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्यं, काव्यसंहार, प्रशस्तिरिति ।

अर्थात् पहिले से प्रस्तारित बीज आदि कार्यों को अपनी उद्देश्य-पूनि या फलप्राप्ति हो जाने पर पूर्णतः समापन हो जाता हो तो उसे निर्वहणसन्धि समझना चाहिए । इस सन्धि के चौदह अंग होते हैं । यथा—(१) अर्थ, (२) ग्रथन, (३) निर्णय, (४) परिभाषण, (५) द्युति, (६) प्रसाद (७) आनन्द, (८) समय, (९) अनुयोग, (१०) उपगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्यसंहार तथा (१४) प्रशस्ति ।

अर्थः

तत्र प्रधानार्थोपक्षेप. अर्थः । यथा मारीचवञ्चितके—

अर्थ—मुख्य कार्य या उद्देश्य का निर्देश करना 'अर्थ' कहलाता है । जैसे 'मारीचवञ्चितक' (नाटक) में—

लक्ष्मण—'आर्य, प्रविश्य लङ्का गृह्यता पौरजनानामतिथिसत्कार ।'

लक्ष्मण—आर्य, आप लक्ष्मण में प्रवेश कीजिए और वहाँ के नागरिकों द्वारा किये गए सत्कार को स्वीकार कीजिये ।

ग्रथनम्

कार्याणां बहुनामुपक्षेपो ग्रथनम् । यथा जानकीराघवे संहारे

लक्ष्मण—

ग्रथन—अनेक कार्य या उद्देश्यों को फिर से दोहराना या संकेतित करना 'ग्रथन' कहलाता है । जैसे जानकीराघव नाटक के संहार नामक (अन्तिम) अंक में—

ते राक्षसा प्रतिहताः खरदूषणात्मा

निर्विघ्नपृच्छिजनिवृत्त तपो मुनीनाम् ।

शत्रुस्य शल्यमयमस्तमितो दशास्य

स्तस्य त्वयाद्य निहिता च विभीषणे श्री ॥

लङ्मण—आज सर दूषण आदि सभी राक्षस मार डाले गए हैं, मुनिजन की तपस्या में अब कोई पिघन नहीं रह गया, देवराज इन्द्र का शत्रु रावण भी मार डाला गया और उसका राज्य भी आपने विभीषण को दे दिया।

निर्णयः

अनुमत्तार्थकथनं निर्णयः । यथा पलित्यङ्गे—

स एवाहं मन्दभाग्य । (रत्ना ४)

रत्नावली—साव्य अब मन्दभागिनि (सैवाहं मन्दभागिनी)

(रत्ना० अ० ४)

निर्णय—(नायक आदि के द्वारा) अपने पिछले किये गये कार्यों का वर्णन करना ‘निर्णय’ कहलाता है। जैसे पलित्यङ्ग में—मैं वही भाग्यहीन हूँ।

रत्नावली—और मैं भी वही अभागिनी हूँ।

परिभाषणम्

परिवादकृतं परिभाषणम् । यथा वेणीसंहारे भीमः—

मुञ्चतु भामार्य, क्षणमेकम् । समयमामि तावत् सुयोधनरुभिरोक्षितेन

पाणिना पाञ्चात्या दुःशासनदस्तावकृष्ट केशपाशमिति ।

परिभाषण—पात्रों का परस्पर आरोपपूर्ण कथन या दोषकथन ‘परिभाषण’ कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में—(अङ्क ६)

भीम—महाराज मुझे एक क्षण के लिये छोड़ दें। मैं पहिले दुर्योधन के रक्त से सने इन हाथों से त्रीपदी की उस वेणी को तो बांध दूँ जिसे दुःशासन ने खींच कर खोल दिया था।

द्युतिः

ईर्ष्यास्लेशोपशमनं द्युतिः ॥ ९६ ॥

यथा कामदत्तापूर्ति

चन्द्र—पुच्छिओ कि पि अगुणखव आचरिदं, तं एस्सेसं सअ-
खण्डलं कदुअ पसारेमि । [पुत्र्य, किमप्यननुरूपं आचरितं, तदेकदेशं
शतखण्डकं कृत्वा प्रसारयामि ।]

द्युति—ईर्ष्या और क्लेश का हट जाना 'द्युति' कहलाता है। जैसे कामदत्ता के अंतिम अक्ष में —

चन्द्र—पुत्रियो, मैंने तुम्हारे साथ जो थोड़ा अनुचित व्यवहार किया था इसलिये तुम्हें क्षमा देने वाली अपनी किरणों को मैं सहस्रों भागों में टुकड़े करते हुए ऊपर फेंक देता हूँ।

प्रसादः

शुश्रूषाद्युपपन्नार्थः प्रसादः ॥ ९७ ॥

यथा पलित्यङ्गे

वासवदत्ता—अइ एत्तिअ दाव बहिणिए बहिणित्तर्ण भोदु ।

(अये, एतावदपि तावद् भगिन्या भगिनीत्वं भवतु ।)

प्रसाद—शुश्रूषा आदि के द्वारा प्रसन्न करना या अपनी आज्ञा कारिता का प्रदर्शन करना 'प्रसाद' कहलाता है।

जैसे पलित्यङ्ग में—

वासवदत्ता—बहिन, इसी से अब हम दोनों बहिनें बन जाएँ।

आनन्दः

वान्छितार्थागम आनन्दः । यथा तत्रैव—

राजा (बाहू प्रसार्य)—को देव्याः प्रसादं नानुमन्यते ।

आनन्द—अपने इष्ट अर्थ या वस्तु की प्राप्ति हो जाना 'आनन्द' कहलाता है। जैसे उसी अक्ष में —

राजा—(हाथ फैलाते हुए) देवी के प्रसाद को भला कौन स्वीकार न करेगा ?

समयः

विरोधप्रशमन समयः । यथा तत्रैव

वासवदत्ता—अत्रउत्त, दूरे एदाए णादिजणो तह करोदु अग्ग-उत्तो जह बधुअण ण सुमरेदि । [आर्यपुत्र, दूरे एतस्याः ज्ञातिजन-तथा करोत्वार्यपुत्र यथा बन्धुजनं न स्मरति ।]

समय—विरोध या द्वेष का शान्त हो जाना 'समय' कहलाता है। जैसे उसी अक्ष में —

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसका नैहर बहुत दूर है अतएव आप ऐसी व्यवस्था रखें कि यह अपने बान्धवों की याद न करे।

अनुयोगः

युक्तकार्यान्वेष्टनमनुयोगः । यथा जानकीराघवे संहाराङ्के—

राम (सहर्षम्) वत्स विभीषण, आनन्दवाष्पाकुलितलोचनस्त्वां न पश्यामि । सत्यं कथयसि न दग्धा जानकी ।

अनुयोग—प्रस्तावित कार्य की जाच या अन्वेष्टन करना ‘अनुयोग’ कहलाता है । जैसे जानकीराघव के अंतिम अंक में—

श्रीराम—(प्रसन्न होकर) वत्स विभीषण, मैं आनन्दाश्रु से आँखों के भर जाने के कारण तुम्हें नहीं देख पा रहा हूँ । क्या सचमुच सीता आग में नहीं जली ?

उपगूहनम्

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम् । यथा वेणीसंहारे—एते खलु भवन्तो व्यासवाल्मीकीत्यादि ।

उपगूहन—किसी आश्चर्याग्रह पदार्थ की प्राप्ति हो जाना ‘उपगूहन’ कहलाता है । जैसे वेणीसंहार में—ये व्यास वाल्मीकि आदि—

भाषणम्

सामबादादिसम्पन्नं भाषणं भाषणम् । यथा

विश्वभूति—स्थाने देवी देवीशब्दमुद्रहसि । इत्यादि ।

भाषण—नाम, दान आदि से पूर्ण सम्भाषण को ‘भाषण’ कहते हैं । जैसे विश्वभूति—(वसुभूति ?) [रत्ना० अङ्क ६]

हे देवी, आपको सम्बोधित किया गया देवी शब्द अपने गौरव के अनुरूप ही है इत्यादि ।

पूर्ववाक्यम्

बीजोद्घाटनं पूर्ववाक्यम् । यथा वेणीसंहारे

भीमः—बुद्धिमतिके, क सा मानुमती । परिभवतु सम्प्रति पाण्डव-द्वारान् ।

पूर्ववाक्य—बीज की फिर से उद्भावन करना 'पूर्ववाक्य' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में—

भीमसेन—बुद्धिमतिवे, बतला वह भानुमती अब कहाँ है ? अब आकर वह पाण्डवपत्नी को अपमानित क्यों नहीं करती ?

काव्यसंहारः

वरप्रदानमप्राप्ति काव्यसंहारः । यथा वेणीसंहारे—

'क्रोधान्धैस्समलं हत रिपुकुलम्' इत्यादि ।

काव्यसंहार—(नायक को) वर आदि की प्राप्ति होना 'काव्यसंहार' कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में—

क्रोध में आकर हमने सम्पूर्ण शत्रुपक्ष का संहार कर डाला, (पाचों भाई सुरक्षित रूप में जीवित बच गए, दुर्नीति से उत्पन्न होने वाले पराभय रूपी सागर को द्वीपदी ने पार कर लिया। आप भगवान् पुरुषोत्तम होकर भी हमें आदर से सम्बोधित कर रहे हैं अतः इससे अधिक अब और क्या अभ्यर्थना करूँ कि जिससे प्रसन्नता अधिक हो ?)

प्रशस्तिः

नृपद्विजातिगवादीनां शिवावधारणपूर्वं काव्यस्यावधारण प्रशस्तिः ।

यथा—

प्रीतः पृथ्वीमवतु नृपति स्वस्ति भूयाद् द्विजेभ्यः

क्षेम गाधो दधतु समये तोयमब्दा सृजन्तु ।

काव्यात् काम स्फुटरससुधावाहिनी काव्यकतुं

कीर्तिं स्निग्धा रघुपतिकथेवानथा दीर्घमास्ताम् ॥

यदि (नाट्यकार) द्वारा राजा, ब्राह्मण तथा गौ आदि की महल-कामना करते हुए काव्य का समापन 'प्रशस्ति' कहलाता है। जैसे :— प्रसन्न होकर राजा पृथ्वी का पालन करे, ब्राह्मणों का कल्याण हो, गौएँ कुशलतापूर्वक रहें और यथासमय मेघ जल बरसाते रहें। इस रचना के कारण यदि कीर्ति सुधावर्धिणी हो जाए और यह रचना रामायण के समान प्रशस्त और दीर्घजीवी बने।

इति चतु पद्यज्ञानि नाटकेऽपश्यं कविभिः कर्तव्यानि । सम्मि-

श्राप्यपि द्वित्रिसंख्यायुक्तानि अन्तरसन्धिषु भवन्त्येतानि रसभावापेक्षया ।
यदाहाचार्य —

नाटक में इन चौंसठ अङ्गों का कविजन अवश्य निवेश करें। रस या भाव को ध्यान में रखते हुए इन अङ्गों को मिलाते हुए दो या तीन अङ्गों में भी इन सन्धियों में एक साथ रस ला सकना है। जैसा कि आचार्य भरत ने कहा है :—

यथा-सन्धि तु कर्तव्यान्यङ्गान्येतानि नाटके ।

कविभिः काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य च ॥ ९८ ॥

मन्मिथ्राणि कदाचित् स्युर्द्वित्रिसंख्याप्रमाणतः ।

ज्ञात्वा कार्यमवस्थाञ्च मन्धिष्वङ्गानि नाटके ॥ ९९ ॥

(ना० शा० २१।१०५-१०६)

कुशल नाट्यकार को रूपक में इन सन्ध्यङ्गों की योजना रस या भावों को देख कर करना चाहिए जो सन्धि के साथ अनुकूलता तथा स्थिति के साथ औचित्य रखे ।

अभिनय के अवसर, कार्य और अवस्था को ध्यान में रख कर इन सन्ध्यङ्गों को पृथक् पृथक् या दो तीन अङ्गों में मिला कर नाटक में संयुक्त करना चाहिए ।

नाटकमिदं कथाबन्धमालोक्य पूर्वभागे विस्तरणीयं पश्चाद्दे च
संहारणीयम् । तस्मिंश्च य उदात्त भावास्तेऽवधारणीयाः ।

यदाहाचार्यः

काव्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य ।

ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे शृणुतः कार्याः ॥१००॥

(ना० शा० २०।४२)

अर्थात् नाटक की कथावस्तु का पूर्वार्ध में विस्तार तथा उत्तरार्ध में संक्षेप करना चाहिए तथा उत्तरार्ध में प्रेक्षक उदात्त या तीव्रतर भावों को ही रखना चाहिए। जैसा कि आचार्य भरत ने बतलाया है :—

नाट्यरचना काव्य के तत्वों का मार्मिक स्पर्श लिए हुए और आकार में गोपुच्छ जैसी रहे तथा जो इसमें भी उदात्त या तीव्रतम भाव हों उन्हें अन्त में रखा जाए ।

निर्वहणे चास्मिन् सन्धौ अद्भुतरस वर्तन्य ।

यथा—

सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।

निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोद्भुतस्तज्ज्ञैः ॥ १०१ ॥

[ना० शा० २०।४३]

विपदन्तरनिर्माणं केचिदिच्छन्ति मूर्खयः ।

जानक्या ज्वलनज्वालाप्रवेशेन विपत् पुनः । १०२ ॥

निर्वहणसन्धि मे अद्भुतरस की योजना अन्त मे अवश्य की जाए ।
जैसा कि कहा भी है —

रस तथा भावों से पूर्ण प्रत्येक नाट्यरचना के अन्त मे अद्भुतरस की योजना अवश्य की जाए ।

बुद्ध विद्वानों का मत है कि अन्त मे एक विपत्ति की और योजना की जाए जैसे रावण की विजय के बाद सीताजी की अग्निपरीक्षा घटलाना ।

अपरस्वाह—मुखादिसन्धीना रीतिफलोपन्यासश्च लेशतोऽत्र कर्तव्य इति च ।

दूसरे आचार्यों का मत है कि मुख आदि सन्धियों मे होने वाले कार्य या घटनाओं का सक्षेप मे निर्वहण सन्धि मे भी सकेत रखा जाए ।

अथ सन्ध्यन्तराणि

एतेषामेव सन्धीनामेकविंशतिप्रदेशा अर्थवशाद् भवन्ति । यथा—

साम भेदः प्रदानञ्च दण्डश्च वध एव च ।

प्रत्युत्पन्नमतित्वश्च गोत्रस्खलनमेव च ॥ १०३ ॥

साहसश्च भयश्चैव धीर्माया क्रोध एव च ।

रुजः संरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्वधारणम् ॥ १०४ ॥

दूतोपधी तथा स्वप्रक्षिप्रं मद इति स्मृतम् ॥ १०५ ॥

(ना० शा० २१।४८-५०)

प्रयोजनवशाद् यावन्त एते प्रमेष्टु शक्यन्ते तावन्त सन्धियु प्रदर्शयितव्या ।

अन्तरसन्धियाँ या सन्ध्यन्तर—कथावस्तु या नाट्यरचना के प्रये जनवश इन सन्धियों में इक्कीस अन्तरसन्धियों का निवेश किया जाता है, ये सन्ध्यन्तर’ (प्रदेश) कहलाते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) साम, (२) भेद, (३) प्रदान (दान), (४) दण्ड, (५) वध, (६) प्रत्युत्पन्नमत्तित्व, (७) गोत्रस्खलन, (८) साहस, (९) भय, (१०) घी, (११) माया, (१२) क्रोध, (१३) रुक्, (१४) संवरण, (१५) भ्रान्ति, (१६) हेत्ववधारण, (१७) दूत, (१८) उपधि, (१९) स्वप्न, (२०) चित्र तथा (२१) मद। सन्धियों में नाटकीय कथावस्तु के प्रयोजन के लिए जितने अङ्ग अनुकूल हों उन (अङ्गों) को योजना इनमें से लेकर प्रयोग प्रस्तुत करना चाहिए।

इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं —

साम

तत्र मधुरवचनैरनर्थोत्तिवर्तनवाक्यं साम। यथा कुम्भाङ्के सारण —
‘ज्ञाता यस्य बृहस्पतिस्तदखिलं देवो न जानाति किमित्यादि’।

साम—मधुर वचनों द्वारा किसी विपत्ति से सरक्षण का कथन करना ‘साम’ कहलाता है। जैसे कुम्भाङ्क में सारण—जिसे बृहस्पति जान सकता है उसे क्या आप नहीं जानते ? इत्यादि।

भेदः

भेदः पृथग्भावः। यथा प्रतिज्ञाभीमे भीमः—

भेद—भिन्न या अलग हो जाना ‘भेद’ कहलाता है। जैसे प्रतिज्ञा-भीम नामक अङ्क में—

अत एवाद्यमभृति भिन्नोऽहं भवद्भयः इत्यादि।

भीम—आज से मैं इसी कारण आप लोगों से अलग हो रहा हूँ। इत्यादि।

१. सन्ध्यन्तर या सन्धियों की अवान्तर दशाओं का नाट्यशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है। भरत और भोज के ग्रन्थों में भी के स्थान पर ‘ही’ तथा उपधि के स्थान पर ‘लेख’ मिलता है। नाट्यदर्पण ने सन्ध्यन्तरों को भरत से भी प्राचीन नाट्यमम्प्रदाय से आगत परम्परागत अङ्ग माना है (६० नाट्यदर्पण C. O. S पृ० १०२) प्राचीन होने के कारण ही प्रसिद्ध रहने से नाट्यदर्पणकार तथा धनिक ने इनके लक्षण नहीं दिये।

दानम्

दानं यथा नागानन्दे वध्यशिलायां जीमूतवाहन —

संरक्षता पन्नगमच्च पुण्य मयार्जितं यत् स्वशरीरदानात् ।

भवे भवे तेन ममैवमेवं भूयात् परार्थं खलु देहलभः ॥

(ना० नं० ४।२६)

प्रदान—दान का देना ही 'प्रदान' कहलाता है। जैसे वध्य-शिला में —

जीमूतवाहन—इस नाग की रक्षा के लिए अपने शरीर को प्रदान करने पर मैंने जो पुण्य प्राप्त किया इत्यादि ।

दण्डः

दमन दण्डः । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के

चेटी—सहि सागरिण, अब्धन्तरं पविसिम बहं बधण वा पावेहि ।

[सखि सागरिके, अभ्यन्तर प्रविश्य प्रविश्य बधं बन्धनं वा प्राप्नुहि ।]

दण्ड—नियन्त्रण रखना या सजा देना 'दण्ड' कहलाता है। जैसे रत्नावली के तृतीय अङ्क में—

चेटी—सखि सागरिके, चलो अब भीतर और बध या कारागर प्राप्त कर ।

वधः

वधो व्यापाद । यथा कुलपत्यङ्के रावण —ममत्वस्य दोर्दण्डमपकृत्य सुखेन लङ्का गच्छामीति ।

वध—नाश या हनन करना 'वध' कहलाता है। जैसे कुल-पत्यङ्क में—

रावण—ठीक, अब मैं पतिले इसको भुजबल का मजा चखाऊँ और फिर लंका को चले ?

प्रत्युत्पन्नमतित्वम्

प्रत्युत्पन्नेऽर्थे मतित्वैदग्यं प्रत्युत्पन्नमतित्वम् । यथा चित्रशालिकायाम्—

प्रत्युत्पन्नमतित्व—कोई समस्या या संकट पैदा हो जाने पर बुद्धि कौशल का प्रदर्शन ‘प्रत्युत्पन्नमतित्व’ समझना चाहिए। जैसे चित्र-शालिका में :—

माठरः—

एका गदा दुदीया आअदा । [एका गता द्वितीया आगता ।]

माठर—एक गया और दूसरा आ गया ।

धरणी—

अज्ज, भण भण का गदा का आगदा । [आर्य, भग भण का गता का आगता ।]

धरणी—आर्य, कौन गया और कौन आया ?

माठरः—

मम वट्ठस्स सीसवेअणा गदा वभुन्स्ता आ अदा । [मम वट्ठस्य शीर्षवेदना गता वुभुक्षागता]

माठर—मुझ घूँटे का सरदर्द गया और भूख आगयी ।

गोत्रस्सलितम्

नामान्तरग्रहणं गोत्रस्सलितम् । यथा रम्भानलकूबरे—

गोत्रस्सलित—सहसा मिसी (प्रतिपक्षी) का नाम मुँह से निकल जाना ‘गोत्रस्सलित’ कहलाता है । जैसे रम्भानलकूबर में :—

नल—प्रसीद मेनेऽहमुपास्तोऽस्मि

नल—मेने, तुम प्रसन्न हो जाओ, मैं मर रहा हूँ ।

रम्भा—प्रसाद्यतां साहमपैमि रम्भा ।

रम्भा—आप उसे [मेना को] मनाइये, मैं रंभा हूँ और यहाँ से अब जा रही हूँ ।

नल.—अहो विधिर्मे पदसन्निधिस्ते

करोति गोत्रस्सलितमिश्रद्वाम् ॥

नल—मेरा यही तो दुर्भाग्य है कि मेरे द्वारा उच्चरित [मेने] शब्द [जिसका अर्थ है समझना] अपने ममीपयर्ती शब्दों के कारण मुझे ‘गोत्रस्सलित’ की आशंका उत्पन्न करवा रहा है ।

साहसम्

सहसैव शरीरमनोपेक्ष्य कार्ये प्रवृत्तिः साहसं सहसा नातम् ।

यथा—श्मशानाङ्के मालतीदर्शनार्थं माधवस्य भूतेषु महामांसविक्रय ।

साहस—शरीर की बिना परवाह किये अकस्मात् आने वाले कार्य में [प्राणपण से] जुट जाना 'साहस' कहलाता है । जैसे श्मशानाङ्क में माधव का मालती को प्राप्त करने के लिए महाभूतों को अपने शरीर का मांस प्रदान करना [महामांसविक्रय] ।

भयम्

भयं भीति । यथा तत्रैव मालत्या अघोरघण्टाद्वी ।

भय—डरना 'भय' समझना चाहिए । जैसे इसी में मालती का अघोरघट से डर जाना ।

धीः

परचितोपलक्षिका बुद्धिर्धी । यथा मुद्राराक्षसे तृतीयेऽङ्के कृतक-
फलह कृत्वा चाणम्ये निष्क्रान्ते—

धी—दूसरों के मन की बात ताड़ जाने की बुद्धि रखना 'धी' समझना चाहिए । जैसे मुद्राराक्षस के तृतीय अङ्क में बनावटी फलह के षाड चाणम्य के चले जाने पर :—

कञ्चुमी—दिष्ट्या देव इदानीं देव. संवृत्त ।

चन्द्रगुप्त. (स्वगतम्)—एवमस्मासु निगृक्षमाणेषु स्वकार्य-
सिद्धिकाम' सकाशो भवत्वार्थ इति ।

कञ्चुमी—चलो अच्छा हुआ, अब आप राजा हो गए ।

चन्द्रगुप्त—(स्वगत) हमारे द्वारा इसी प्रकार रहने पर आर्य अपने कार्यों में सिद्धि प्राप्त करें ।

माया

मयेन दातृवेन सुरांश्छरत्यितु प्रयुक्त कपट माया । यथा सुमी-
वाङ्के मायाहनुमान् ।

माया—देवताओं को छलने के लिए मय दानव द्वारा किया हुआ प्रपञ्च जैसा कार्य ‘माया’ समझना चाहिए। जैसे सुग्रीवाङ्क में माया-हनुमान् के प्रयोग द्वारा सुग्रीव को भ्रम पैदा करना।

क्रोधः

क्रोधः क्रोपः। यथा प्रतिज्ञाभीमे—

भीम—आ शैलूपापसद इत्यादि।

क्रोव—गुस्मा आना ‘क्रोध’ कहलाता है। जैसे प्रतिज्ञाभीम अङ्क में —

भीम—अरे नीच नट, अमगलपाठक आदि।

रुक्

प्रहारादिप्रभवा. वेदनाः रुजः। यथा शक्यङ्के लक्ष्मण। चूडामणौ जीमूतवाहन। लामकायने स एव। तत्र ते पीडा नाटयन्ति। अन्येऽपि मनःशोभजननमनिमित्तदर्शनमपि रुजापक्ष एव व्याचक्षते। यथा (मृच्छकटिके) चारुदत्त—

शुष्कद्रुमगतो रीति आदित्याभिमुखं स्थितः।

कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपण्डितः॥ (मृ० क० ९।११)

रुज—चोट आदि से होने वाला कष्ट ‘रुज’ कहलाता है। जैसे शक्यङ्क में लक्ष्मण को चोट लगना। चूडामणि अङ्क में जीमूतवाहन को चोट लगना। लामकायन^१ अङ्क में भी उसे ही चोट लग जाना। इन अङ्कों में ये पात्र शरीर कष्ट का अनुभव करते हैं [या शरीर की पीड़ा का अभिनय करते हैं]। कुछ आचार्यों का मत है कि मानसिक शोभ या अपशकुन का दिखलाई पड़ना भी ‘रुज’ ही का एक रूप है। जैसे—मृच्छकटिक में [अपशकुन से होने वाले कष्ट का उग्रहरण] चारुदत्त—ज्ञान या संकेत देने में चतुर यह कौआ सूखे पेड़ पर चढ़ कर और सूर्य की ओर मुँह करते हुए रोकर मुझे भावी सकट की सूचना दे रहा है।

संवरणम्

कथान्तरेऽनिरूप्यमाणे यथाकार्यापेक्षितया (यत्) संहरणं तत्संवरणम्। यथानुतापे

१. लामकायनाङ्क—शुष्पदूषितक प्रकरण का दूसरा अङ्क।

चिन्तामुख—केन सा गर्भदासी जीवाविदा ? [केन सा गर्भदासी जीवापिता ?]

सूमाय—महती खल्वियं कथा, पथि श्रोष्यसि ।

संवरण—आश्चर्यक कार्यों के आजाने पर अचान्त र यात्रालाप को बन्द कर देना 'संवरण' कहलाता है । जैसे अनुतापाङ्क में :—

चिन्तामुख—इस जन्म की दाम्नी को जिसने निन्दा कर दिया ?

सूमाय—यह बड़ी लम्बी कहानी है । मैं इसे रास्ते में कहूँगा ।

श्रान्तिः

श्रान्तिर्भ्रम । यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिरस्य भीमे एव दुर्योधन-बुद्धि ।

श्रान्ति—सन्देह या विकल्प का उत्पन्न हो जाना 'श्रान्ति' कहलाता है । जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर का भीम को दुर्योधन समझ लेना ।
हेत्ववधारणम्

हेत्ववधारण हेतोर्मिथ्या—कल्पना । यथाश्रत्यामाङ्के—

दुर्योधनः—साधु अङ्गराज, साधु । निपुणमभिहितम् ।

कर्णः—न चायं ममैकस्याभिप्राय । अन्येऽभियुक्ता अपि नेवेदमन्यथा मन्यन्ते ।

दुर्योधनः—एवमेतत् क सन्देहः ।

दत्त्यामयं सोऽतिरथो बध्यमानं किरीटिना ।

सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत्कथमन्यथा ॥ (वे० सं० २।२८)

हेत्ववधारण—किमी मिथ्या कारण की कल्पना कर लेना 'हेत्ववधारण' कहलाता है । जैसे अश्रत्यामाङ्क में :—

१. अनुतापाङ्क = छलिनराम नाटक के एक अङ्क का नाम । इस नाटक में हज्जामपुर के गुप्तचर चिन्तामुख तथा सूमाय नामक दो राक्षसों के द्वारा कूटनीति का प्रयोग करते हुए कैश्यी और मन्थरा पर अपनी माया फैला कर धीराम को मोता को छोड़ने के लिये विरग किया जाना तथा सीता के हृदय में विरग उत्पन्न किया जाना बतलाया गया है । अतएव मोता का परिणाम धीराम के छड़ने के कारण ही सम्भव हुआ था ऐसा परिणाम प्राच्य नाटक का प्रतिपाद है जो इन्हीं दो राक्षसों की दुरभिसन्धियों से हुआ था ।

दुर्योधन—अज्ञाधिपति कर्ण, आप ठीक कह रहे हैं।

कर्ण—यह केवल मेरी ही धारणा नहीं है। दूसरे नीतिमान पुरुष भी यही धारणा करेंगे।

दुर्योधन—हाँ हाँ, इसमें क्या शक है ?

यदि यही बात न होती तो उन अतिरिक्त द्रोणाचार्य के द्वारा सिन्धु-राज जयद्रथ को अभयदान देने पर भी अर्जुन के द्वारा उसके मारे जाने के समय इस प्रकार उन्हीं से उपेक्षा क्यों हो गयी ?

दूतः

सन्देशहरः दूतः । यथा दूताङ्गदे अङ्गदः ।

दूत—समाचार या सन्देश का लाना या लेजाने का कार्य करने वाला पुरुष ‘दूत’ कहलाता है। जैसे दूताङ्गद में अङ्गद।

उपधिः

उपधिश्छलनम् । यथा (वेणीसंहारे) युधिष्ठिरे चार्वाकस्य वचनम् ।

उपधि—छोपा देना ‘उपधि’ कहलाता है। जैसे [वेणीसंहार नाटक में] युधिष्ठिर के प्रति चार्वाक राक्षस का कथन।

स्वप्नः

निद्रायां चित्रगतायांलापः स्वप्नः । यथा कीचकभीमे—‘एतां सतीमि’त्यादि ।

स्वप्न—(अपनी) बुद्धि में आने वाली विचित्र बातों का नींद में घड़बड़ाना ‘स्वप्न’ कहलाता है। जैसे कीचकभीम में—इस सती को... इत्यादि कथन।

चित्रम्

चित्रम् आलेख्यामिमतजनदर्शनोपायः । यथा नागानन्दे द्वितीयेऽङ्के जीमूतवाहनः—वयस्य,

प्रिया सन्निहितैवेयं सङ्कल्पस्थापिता पुरः ।

दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः ॥

(नाग० २।९)

चित्र—किसी रेखाचित्र या प्रतिकृति के द्वारा प्रियजन को देखना 'चित्र' कहलाता है। जैसे नागानन्द के द्वितीयाङ्क में:—

जीमूतवाहन—मेरी कल्पनाओं के द्वारा लाई गयी प्रियतमा तो मेरे सामने ही विद्यमान है। मैं उसे बार-बार देख कर यदि यहाँ अकित करूँ तो इसमें क्या आश्चर्य हो सकता है ?

मदः

सुरापानप्रभवो विकार मदः । यथा तमालवीर्यद्वे ।

शेखरः—चेडा चेडा को मा चालेदि । [चेट चेट, को मा चालयति ।]

चेटः—भट्टके, गुला । [भर्त, सुरा ।] इति ।

मद—शराब पीने के बाद होने वाला नशा 'मद' कहलाता है । जैसे तमालवीर्यद्वे में —

शेखर—अरे चेट, यह मुझे कौन घुमा रहा है ?

चेट—मालिक, यही शराब है ।

सन्ध्यन्तरप्रदेशा सन्धीनामन्तरे चाकाशपुरुषवचनानि लेख्योक्तयः विधातव्या । यदाह—'लेख्योक्तिराकाशवचनमन्तरा सन्धिष्विति' ।

ये इक्कीस सन्ध्यन्तर या अन्तरसन्धियाँ हैं। इन्हें सन्धियों के बीच में रखना हो तो तदर्थ दिव्य पात्रों के वचनों, लेखों और आकाश-भाषित का भी उपयोग किया जाए। जैसा कि कहा भी है—'सन्धियों के बीच में दिव्य पात्रों के वचन तथा आकाशभाषित (आदि) रखे जाएँ'।

पताकास्थानकानि

पताकास्थानानि चत्वारि काव्यस्यालङ्कारमूतान्यपि निर्वहण-सन्धिवर्ज्यं कार्याणि । पताकास्थानानि शोभाहेतूनि । तत्र पताकास्थान सामान्येनोच्यते—

यत्रान्यस्मिन्नित्यमाने तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।

आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत् ॥ १०६ ॥

(ना० शा० २१।२९)

यथा दशरथाङ्के—दशरथ रामस्य राज्ये चिन्त्यमाने भरतस्य राज्यं तल्लिङ्गजातमिति विषादेनागन्तुकेन व्यभिचारिणा भावेन(१) गृहीत पठति—‘रामोऽपि गच्छतु वन’मित्यादि ।

पताकास्थानक—सन्धियों में केवल निर्वहणसन्धि को छोड़ कर शेष स्थानों पर चार पताकास्थानों की भी योजना की जाए । पताकास्थानक की योजना से नाटकादि में शोभा का सर्वद्वन्द्व हो जाता है; क्योंकि ये काव्य के किसी उद्देश्य या कार्य की सूचना देते हैं । अब हम पहिले पताकास्थानक का सामान्यस्वरूप कहेंगे :—

जब किसी एक कार्य का विचार करने के समय तत्काल वैसे ही अन्य प्रयोजन की भी अतिरिक्त रूप में प्राप्ति हो जाए [या इसका संकेत मिले] तो उसे ‘पताकास्थानक’ समझना चाहिए ।

जैसे दशरथाङ्क में महराजा दशरथ का राम को राज्य देने का विचार करने के समय भरत को भी उसी प्रकार राज्य देने का विचार कर बाद में विषाद नामक अतिरिक्तसंचारीभाव^३ के आवेश में आकर कह डालना—‘राम वन को जाए’ इत्यादि ।

तत्र प्रथमम् (पताकास्थानम्) यथा—

महसैवार्थनिष्पत्तिर्गुणवत्पुष्कारतः ॥ १०७ ॥

(ना० शा० २१ ।)

तत्क्षणादेव समीहितम्यार्थस्य निष्पत्तिः । कुतः ? उपकारत अभिवाञ्छनसिद्धिनिपादत्त । तत्पताकास्थानं वेदितव्यम् । यथा—
जीमूतबाहनस्य परार्थे आत्मानं ददत् । गृह्णचूडेन न दत्तं वन्यचिह्नं तद् व्याकुलस्य कञ्चुकिनीय मित्रावमुज्जनम्या ग्रहितं रक्तवासोयुगं दत्तम् । यथा—

क्रमशः पताकास्थानकों के लक्षणों में सर्वप्रथम पहिले पताकास्थानक का लक्षण बतलाते हैं :—

१. यहाँ आगन्तुक भाव का अर्थ है किसी व्यभिचारी (आदि) भाव के आवेश में आ जाना । अभिनवगुप्त तथा घनिक ने भी यही आशय अपने ग्रन्थों में प्रकट किया है । (द्रष्टव्य अभि० भा० Vol. III, पृष्ठ १९ तथा दत्तरूपक अवलोक १ । १४) ।

प्रथम पताकास्थानक—सामाजिक जहाँ किसी गौण या अप्रत्यक्ष विधि से किसी अभीष्ट कार्य अथवा घटना का संकेत प्राप्त कर लेते हों तो उसे 'प्रथम पताकास्थानक' समझना चाहिए ।

अभीष्ट अर्थ या कार्य का उसी समय प्राप्त हो जाना यहाँ इष्ट है । यह क्यों ? क्योंकि जिसकी इच्छा बहुत दिनों से थी उमी इष्ट की इससे पूर्ति हो जाती है—तो इसे लक्षणानुसारी पताकास्थानक ही कहना चाहिए । उदाहरणार्थ जब जीमूतवाहन दूमरों की प्राणरक्षा के लिए अपने प्राण देने को उत्तुंग होता है तब शरच्चूड उसे अपना वध्यचिह्न नहीं देता पर उसी समय मिश्रावसु की माता के द्वारा भेजे गए दो बलों को घघराहट के कारण कञ्चुकी जीमूतवाहन को दे देता है । जैसा कि जीमूतवाहन के निम्न वचन से स्पष्ट है —

वासोयुगमिदं रक्तं प्राप्ते काले समागतम् ।

महर्तो प्रीतिमाधत्ते परार्थे देहमुज्झतः ॥

(नागा० ४।२१)

उपयुक्त समय पर लाया गया यह बलों का जोड़ा मुझे बड़ा आनन्द दे रहा है जब कि मैं दूमरों के प्राणों की रक्षार्थ अपने प्राणों को दे रहा हू ।

द्वितीयं (पताकास्थानम्) यथा—

वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ॥ १०७ ॥

(ना० शा० २१।३१)

वचो वचनम्, सातिशय बहुवर्थासाधन, श्लिष्टं द्व्यर्थवचनं, काव्य-बन्धसमाश्रयं प्रस्तुतस्य रागस्याश्रयम् । यथा वेण्णाम्—सूरधार—
'निर्वाणवैरदहना।' (वे० सं० १।७) इत्यादि ।

द्वितीय पताकास्थानक—जहाँ (किसी) प्रवृत्त विषय के अतिशय वर्णन में प्रयुक्त श्लिष्ट-वचन का रचना निन्यास किसी अप्रवृत्त अर्थ के भी अनुकूल बन पड़े तो उसे 'द्वितीय-पताकास्थानक' समझना चाहिए ।

वचन का अर्थ है मशार्द । अतिशय का अर्थ है अनेक अर्थों का साधक । श्लिष्ट का अर्थ है—जिससे दो अर्थ प्रकट होते हों । रचना-

विन्यास का अर्थ है—ऐसी काव्यरचना जो प्रकृत विषय का वर्णन करे। उदाहरणार्थ वेणीसहार का निम्न पद्य—

सूरधार—सन्धि होने पर, विद्वेष की अग्नि के शान्त हो जाने के कारण (शत्रुक्षय हो जाने पर पाण्डुपुत्र भी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ आनन्द मनाएँ और उधर विग्रहबिहीन कोरव भी प्रेम से समस्त भूमण्डल पर अधिकार कर अपने सेवकों के साथ स्वस्थ हो जाएँ।)

तृतीयं (पताकास्थानम्) यथा—

अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत् ।

श्लिष्ट-प्रत्युत्तरोपेतम् ॥ १०८ ॥ (ना० शा०)

यस्मिन्नर्थप्रकाश लीन सविनयम् औद्धत्यमपास्य भग्नं भवेत् ।
द्वयार्थवभाष श्लिष्टप्रत्युत्तरमिति । सण्डितानायकयोरुत्तरोत्तरमस्मिन्नु-
दाहरणमुपन्यस्यते । यथा—

क्रान्ते नाथ कुतोऽस्मि किं प्रियसमे दूरं ममैतद्वचो
जात तेऽद्य किमन्य-नाम विहितं यत्नेक्षितं जन्मनि ।
व्यक्त ब्रूहि कृत त्वयैव सभयासङ्गोऽपि दोषोऽथवा
यस्तस्यास्तु पतामि ते चरणयो स्वस्त्यस्तु ते सुप्यताम् ॥ इति ।

सभया चौरिकया नायकेन सह व्यवहारमाणा सभया कथिता ।
अन्यत्र सभया परिपदा ।

तृतीय पताकास्थानम्—जहाँ श्लिष्ट संवादों में विनयपूर्वक प्रस्तुत अर्थ के अभिधान को प्रश्नोत्तर प्रणाली में रखने पर किसी अप्रस्तुत या अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति होने लगे तो उसे ‘तृतीयपताकास्थानम्’ समझना चाहिए ।

अर्थात् जहाँ अर्थों की अभिव्यक्ति औद्धत्यहीन रूप में रहने के कारण छुपी रहती हो तथा श्लिष्ट संवाद उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप में रखे जाएँ। जैसे नायक तथा सण्डिता नायिका के सवादमय निम्न पद्य में :—

प्रिये,
स्यामिन्,
तुम कहाँ हो ?

मैं (तो) यहाँ हूँ ।

आप मुझ से अधिक दूर क्यों हैं ?

मेरे यह शब्द ही मुझे दूर किये हुए हैं ।

तुम्हें आन क्या हो गया है ?

आज कुछ ऐसे शब्द मुने [जो किसी दूसरी नायिका की नामावली के हैं तथा] जो इस जन्म में देखे और मुने नहीं गये थे ।

तुम मुझे साफ साफ क्यों नहीं कहती [कि मैंने क्या किया है] ?

तुम्हारे द्वारा काँपते हुए आलिङ्गन मिया जाना [अथवा तुम्हारा कार्यवशा सभा में ही बैठे रहना या रम जाना]

तो इससे तुम्हें कौन क्या पहुँच गया ?

यह तो उसे ही हो ।

मैं तुम्हारे पैर पड़ता हूँ ,

तो आपका कल्याण हो ।

अच्छा अब बहुत हो चुका, आप सो जाइँ ।

यहाँ मभयासङ्ग का एक अर्थ है गुप्तरूप से कापते हुए अन्य नायिका से आलिङ्गन करना । इसी का दूसरा अर्थ होगा मभयाआमङ्ग अर्थात् राजसभा में रम जाना ।

चतुर्थे (पताकास्थानं) यथा—

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुस्लिष्टः काव्ययोजितः ।

उपपत्त्या सम्प्रयुक्तः ॥ १०९ ॥ (ना० शा० २१।३३)

अर्थद्वयवाची, काव्ययोजनाक्षम उपपत्तिपान् । यथा जानकी-

राघवे सीता प्रति राम —

लङ्कासमृद्धिमापन्न क्रीडारण्ये सपुष्पक ।

अचिलोहितपत्रस्त्वामशोभोऽसौ हरिष्यति ॥ इति ।

अस्य प्रयोगो सुखादिसन्धिचतुष्टये कापि विधातव्य । स्वमदूत-
नेपथ्याकाशवचनानि लिखितानि अनन्तरसन्धिषु कथ्यन्ते । यथा वेण्याम्-

अधत्थामा—'कथममानुषी वाक्' (वे० स० अङ्क ३) ।

राघराभ्युदये वा—अन्तु सौमित्रे पौलस्त्यवषावधिरस्य श्राप ।

लक्ष्मण —कथं हरिपद-सञ्चारी भगवान् मारुतो व्याहरति ।

चतुर्थ पताकास्थानक—जब कारण पुरस्सर कयावस्तु के उपयुक्त दो अर्थों की योजना की जाए [तथा वे मुख्य अभिप्राय के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी प्रकट करें] तो उसे ‘चतुर्थ-पताकास्थानक’ समझना चाहिए।

अर्थात् यहाँ शब्द श्लिष्ट या दो अर्थों वाले होना चाहिए, ये काव्य-रचना में उपयुक्त स्थान पर रहें तथा सकारण या युक्तियुक्त हों। जैसे जानकीराघव में श्रीराम की निम्न उक्ति—

रक्तपल्लवधारी, विहारवाटिका में स्थित तथा दृष्टिगोचर होने वाला यह अशोकवृक्ष संभवतः तुम्हें अपनी लुभावनी पुष्पावली और विपुल शाखाओं से [अपर्य] आकृष्ट कर लेगा। (अन्य अर्थ—

अपनी लाल-लाल पत्तियों से लका की समृद्धि करता हुआ पुष्पक बिमान से युक्त, विहारस्थली अशोकवाटिका का यह शोकरहित प्रदेश संभवतः तुम्हारा हरण अवश्य करेगा—)

मृग आदि चार सन्धियों में कहीं भी इन पताकास्थानकों की योजना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सन्धियों के बीच में स्वप्न, दूत, आकाशवाणी तथा पत्र आदि की भी योजना की जा सकती है। जैसे अश्वत्थामाङ्ग में :—

अश्वत्थामा—अरे ! यह आकाशवाणी भी ?

तथा राघवाभ्युदय में भी—[आकाशवाणी]

‘लक्ष्मण, यह शाप राघव के बंध तक प्रभावशाली रहेगा।’

लक्ष्मण—क्या आकाशगामी भगवान् धातुदेव ने यह कहा है ?

वृत्तयः

चतुर्वृत्तीति । चतस्रो वृत्तयोऽस्मिन्निति । वृत्तिरिति । नेपथ्य—गीतवादित्र-रसभावाभिनयनृत्यजातीनां कापि विशेषे वर्तनमिति वृत्ति-कथिता (कथ्यते ?) । अथवा विलासविन्यासक्रमो वृत्तिरिति ।

एता वृत्तश्चतुर्वेदीसमाश्रया. यथाक्रमं वाक्सत्त्वलीलाव्यायाम

१. यहाँ सन्धियों के मध्यन्तर में स्वप्न आदि के संयोजन का उल्लेख मानूंगुनाचार्य के अनुसार किया गया है। यथा—

स्वप्नो दूतश्च लेखश्च नेपथ्योक्तिस्तथैव च ।

आकाशवचनञ्चेति ज्ञेया ह्यन्तरसन्धयः ॥

(अभि० शाकु० राघवमटीय-व्याख्या N S Ed पृ० २०)

प्रधाना । सात्विक सात्वत्यामाहाय^१ केशिक्यामाह्निकमारमठ्याम्
नृत्यं भवति । तदेताभिश्चतुरवस्थानानि रूपकाणि सिद्ध्यन्ति । एताश्च
नामत कथ्यन्ते—भारती, सात्वती, कैशिकी आरमठी इति । तत्र
भारती कथ्यते—

या वाक्प्रधाना पुरुष प्रयुज्या

स्त्रीयजिता सस्त्रतपाठयुक्ता ।

स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता

ता भारती वृत्तिप्रदाहरन्ति ॥ ११० ॥

(ना० शा० २२।२५)

वृत्तियाँ—अब चारवृत्तियों का निरूपण करते हैं । पहले नियम
जतलाया गया है कि नाटक में चार वृत्तियों का सन्निवेश रहता है ।
वृत्ति का अर्थ है—गायन वादन, रस भाव आदि के अभिनय तथा
नृत्य के विविध प्रकारों को जब एक विशेष पद्धति या क्रम में प्रस्तुत
किया जाए तो यह “वृत्ति” कहलाता है । या विलाम आदि का क्रमशः
प्रस्तुत किया जाना या स्थापन करना ‘वृत्ति’ समझना चाहिए । ये वृत्तियाँ
चारों पक्षों का आश्रय लिए हुए होती हैं तथा क्रमशः घाणी, मत्स्य, लीला
और व्यायाम भी प्रमुखता लिए हुए होती हैं । भारती वृत्ति में पाश्चिक
अभिनय सात्वती वृत्ति में सात्विक अभिनय, कैशिकी वृत्ति में आश्रय
भिनय तथा आरमठीवृत्ति में आह्निक अभिनय तथा नृत्य रहता है ।
इस प्रकार चार अवस्थाओं के रूपक इन वृत्तियों के द्वारा निमित्त हो
जाते हैं । इन वृत्तियों के नाम हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा
आरमठी ।

‘भारती करुणाद्भुते’ इति च—

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्

सात्त्वत्यपीह गदिताद्भुतमीरौर्द्रः ।

शृङ्गारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या—

दिष्टा भयानकयुतारभटी सरौद्रा ॥ १११ ॥

(ना० शा० २२।६३)

अब भारती वृत्ति का लक्षण बतलाते हैं :—

भारती—जिसमें संवाद या बाणी मुख्यरूप में (प्रमुखता लिए हुए) रहे, जो पुरुष पात्रों द्वारा प्रयुक्त की जाए, स्त्रियों का जिसमें सन्निवेश न हो, संस्कृत भाषा में भवाद हो तथा नटों के द्वारा अपने ही नाम पर जिसका नामकरण किया गया हो ता उसे ‘भारती’ वृत्ति समझना चाहिए ।

भारती वृत्ति में करुण और अद्भुत रस रखे जाते हैं ।

धीर, अद्भुत और हास्यरस में भारतीवृत्ति का, अद्भुत, धीर तथा रौद्ररस में सात्वती वृत्ति का, शृङ्गार, हास्य तथा करुणरस में कैशिकी वृत्ति का और रौद्र तथा भयानकरस में आरभटी वृत्ति का प्रयोग इष्ट होता है ।^१

इत्याचार्यमतमदः सार पुनरयम्—

सर्वान् रसानियं वृत्तिर्भारती व्याप्य विष्ठिति ।

विभूतिर्व्योमभूतस्य पदार्थान् सकलानिय ॥ ११२ ॥

नाममात्रसमुद्दिष्टाद्यतस्रो वृत्तयो मया ।

एकीभावस्तु सर्वाणां भारत्यामेव दृश्यते ॥ ११३ ॥

यह आचार्यों का मत है । जिसका सार यह है कि—यह भारती वृत्ति सभी रसों में व्याप्त होकर उसी प्रकार रहती है जैसे आकाश सभी पदार्थों को अपने में व्याप्त करता है ।

इन चारों वृत्तियों के नाम उनके प्रकार बतलाने के लिए ही मैंने फेरे हैं किन्तु इन सभी वृत्तियों का एकीभाव भारती वृत्ति में ही प्राप्त होता है ।

१ सागरनन्दी द्वारा वृत्तियों की विभिन्न रसों में रसी गयी यह योजना भारत के विपरीत है । भारत के अनुसार भारतीवृत्ति ‘हास्यशृङ्गार बहुला’ होती है । शृङ्गार, हास्य तथा करुणरस में कैशिकी वृत्ति की योजना ‘कोहल’ का मत है जिसकी अभिनवगुप्त पाद ने समालोचना भी की है । (द्रष्टव्य—अभि० भा० Vol II पृ० ३५२ G. O. S.) ।

प्ररोचना

अस्या वृत्तेश्चत्वारो भेदा अङ्गत्वमागता । प्ररोचना, आमुखं,
वीथी, प्रहसनं तथा । तत्र प्ररोचना—

जयाम्पुदयमापन्ना मङ्गल्या विजयाग्रहा ।

सर्वपापप्रक्षमनी पूर्वैरङ्गे प्ररोचना ॥ ११४ ॥

प्ररोचनाया कोऽर्थः । प्रसिद्धार्थप्रदर्शनी प्ररोचनाभिधीयते ।

भारती वृत्ति के चार अङ्ग होने हैं । ये इसके प्रभेद भी हैं । इनके नाम हैं—(१) प्ररोचना, (२) आमुख, (३) वीथी तथा (४) प्रहसन । अब प्ररोचन के लक्षण को बतलाते हैं,—

प्ररोचना—पूर्वैरङ्ग में प्ररोचना को रखने से यह विजय, विकास, मंगल तथा सिद्धि प्रदान करती है और सभी पापों का शमन करती है । प्रश्न—प्ररोचना (शब्द) से क्या तात्पर्य है ? उत्तर—इसे प्ररोचना इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें प्रसिद्ध विषय या विचारों का प्रदर्शन रहता है । जैसे—

तद्यथा—

अम्भोधिवारितरणे भयकातराक्ष्या
लक्ष्म्या करे करतलेन दृढ धृतस्य ।
सोत्कम्प-धर्मगुलकोद्गम गद्गदोक्ति
सत्त्वाश्रयो जयति कोऽपि हरेर्विकारः ॥

ममुद्र के जल को पार करने में भय के कारण घबड़ा जानेवाली थोलक्ष्मी जी को सहारा देने के लिए उनका हाथ थाम लेने के कारण भगवान् श्रीविष्णु के कम्पन, रोमाञ्च और दृष्टी हुई आयाज में सम्भाषणरूपी सात्विक विचारों की जय हो ।

अन्ये त्याहुः—

‘प्रस्तुतस्यैव काव्यस्य यन्निष्पत्तेन वस्तुना । कथनं सा प्ररो-
चना ।’ इति ।

अन्य आचार्यों का मत है कि प्रस्तुत काव्य या नाटकीय कथावस्तु को सिद्ध या घटित घटना के सदृश अभिव्यक्ति करना ‘प्ररोचना’ कहलाता है ।

यथा नरकवधे—

सृष्टं तत्क्रीडरूपं दनुजपतिवपुर्मंदरक्ताक्तदंष्ट्रं
दृष्ट्वा त्रासेन दूरं भुवमभयवचो व्याहृतेऽपि प्रयान्तीम् ।
मायाकृष्ण पयोधे क्षणविधृतचतुर्बाहुचिह्नात्ममूर्तिं
स्वस्थामुत्थापयन् वा द्विगुणमुजलतारोहरोमाञ्चिताङ्गीम् ॥

मुखादिसन्धीनामवतारस्यादौ प्ररोचना कार्या ।

उदाहरणार्थं नरकवध मे —

भगवान् श्रीविष्णु के द्वारा लीला के हेतु धारण किये गए वाराह रूप को—जो दानवराज हिरण्याक्ष के रक्त और मज्जा से सना होने से बड़ा भयानक दिखलाई दे रहा था—देख कर पृथ्वी भय से प्रस्त होकर भागने लगी । तब भगवान् के द्वारा अभय वचन देकर (मत डरो, मैं दानव नहीं हूँ इत्यादि मान्त्वनापूर्ण शब्दों से) रोकने का उद्योग करने पर भी न रुकनेवाली पृथ्वी के विश्वास के लिए भगवान् ने स्वयं अपना चतुर्भुज स्वरूप प्रकट कर उसे स्वस्थतापूर्वक उठाया तो श्रीविष्णु के स्पर्श से पृथ्वी की भुजलताओं में दुगुना रोमाञ्च हो उठा ।

मुख आदि सन्धियों के आरम्भ के लिए सर्वप्रथम ‘प्ररोचना’ रखना चाहिए ।

नान्दी

नान्यपि तत्रैव कर्तव्या । यदुक्तम्

नाटकादिरूपेषु पूर्वरङ्गसमाश्रयात् ।

नान्दी नाम विधातव्या सर्वविघ्नप्रशान्तये ॥ ११५ ॥

नान्दी भी पूर्वरंग में इसी प्रकार आरम्भ में ही रखी जाए ।
जैसा कि कहा भी है :—

नाटक आदि सभी दृश्य काव्य के प्रकारों में पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत नान्दी को अवश्य रखा जाए क्योंकि रङ्गमञ्च के सभी विघ्नों की नान्दी-पाठ से शान्ति हो जाती है ।

का पुनरियं नाम ? पूर्वरङ्गस्याङ्गम् । यथाह वादरायणः—

‘यद्यप्यङ्गानि भूयासि पूर्वरङ्गस्य नाटके ।

तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये ॥

प्रश्न—नान्दी क्या है ? उत्तर—यह पूर्वरङ्ग का एक भाग होता है । जैसा कि आचार्य बादरायण^१ ने कहा भी है :—

यद्यपि नाटक में पूर्वरङ्ग के अनेक अङ्गों का विधान बतलाया गया है परन्तु इन अङ्गों में 'नान्दी' का प्रयोग रङ्गस्य विघ्नो की शान्ति के लिये अवश्य रहना चाहिए ।

यदुच्यते नान्द्यन्ते सूत्रधार इति । प्रधानमङ्गं पूर्वरङ्गे सूत्रधार-प्रयोज्यदेवस्तुतिसमाश्रया आशीर्वचनात्मिका द्वादशपदा अष्टपदा वा । पदमपि द्वयमत्र सम्मतम् । श्लोकस्य पाद एव पदमिति येष्याहुर्तेषां मतेन श्लोकद्वयं श्लोकत्रयं वा विधातव्यम् । ये तु मुसिङ्गं संज्ञाशब्दं पदमिच्छन्ति तेषां सुबन्ततिङन्तपदैर्द्वादशभिरष्टाभिश्चैक एव श्लोकः कर्तव्यः । अन्यस्त्याह—क्रिया कारकयुक्तं वाक्यं पदमिति । उभयमपि प्रसिद्धमेव ।

जैसा कि प्रायः सभी रूपकों में रहता है—नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश (इत्यादि) । क्योंकि नान्दी को पूर्वरङ्ग का प्रधान अङ्ग माना जाता है और यह सूत्रधार के द्वारा देवता की स्तुति या आशीर्वादात्मक रूप में (रङ्गमञ्च पर) पाठ की जाती है । इसमें बारह या आठ पद होते हैं । जिनके मत में 'पद' का आशय श्लोक या पद्य के एक पाद से हो उनके मतानुसार नाटक आदि हरयशास्त्र के आरम्भ में दो या तीन पदों की नान्दी रहती है । परन्तु जो आचार्य सुबन्त और तिङन्त संज्ञा शब्द को पद मानते हैं उनके मतानुसार एक पद्य की भी नान्दी हो सकती है जिसमें बारह या आठ पद हों । कुछ दूसरे आचार्यों का मत है कि क्रिया कारक आदि में युक्त वाक्य को ही यहाँ 'पद' समझना चाहिए । इनमें आरम्भ के दो मत ही अधिक प्रसिद्ध होने से व्यवहार में आने रहते हैं ।

सूत्रधारः

क एष सूत्रधारो नाम । आह शतकर्णिः— 'अनुष्ठानं प्रयोगस्य

१. बादरायण नाट्यशास्त्र के एक लेखक तथा आचार्य थे । रत्नकोश में इनका मत अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है तथा नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में भी इनके उद्धरण प्राप्त होते हैं ।

सूत्रं तद्वारयतीति सूत्रधार । पूर्वज्ञमात्रोपयोगी बहिःपात्रमित्यर्थः ।

यथाह भरतः—

सूत्रधार—प्रथम—(नान्दी पाठ का कर्त्ता) सूत्रधार किसे कहते हैं ?
उत्तर—शातकर्णी^१ आचार्य का मत है कि सूत्रधार वह है जो नाट्य-
प्रयोग की व्यवस्था करे क्योंकि नाट्यप्रयोग का सम्पादन ‘सूत्र’
कहलाता है और उस कार्य का सम्पादक सूत्रधार । इसका कार्य पूर्वज्ञ
में ही रहता है और यह नाटकीय पात्रों के अन्तर्गत अभिनेताओं में
नहीं माना जाता । जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने बतलाया भी है—

सूत्रधार पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।

नान्दीपदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलट्कृताम् ॥

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्य शुभ तथा ।

जित सोमेन वै राजा चारोम्य गोम्य एव च ॥

वसोचर तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विपस्तथा ।

प्रशास्त्विमा महाराज पृथिवी च ससागराम् ॥

राज्यं प्रवर्द्धताश्चैव रक्षस्याशा समृद्धयताम् ।

प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषित ॥

काव्यकर्तुर्यशश्चापि नित्यमेव प्रवर्द्धताम् ।

इज्यया चानया नित्य प्रीयन्ता सर्वदेवता ॥

तब सूत्रधार आठ या बारह पदों से निमित्त ‘नान्दी’ का मध्यम
स्वर^२ से पाठ करे ।

१. शातकर्णि भी नाट्यशास्त्र के अन्यतम आचार्य थे । अनर्घराघव की
रचिपति उपाध्याय कृत व्याख्या में भी इनकी कारिका प्राप्त होती है ।

(द्रष्ट० नि० सा० संस्क० पृष्ठ ७)

२. सूत्रधार का मध्यम स्वर में नान्दी पाठ करने से आशय है मध्यम
स्वराश्रित या अशस्वराश्रित प्रयोग का विधान सम्पन्न किया जाना । यह
प्रकार शुद्धपाठ्य, पाठ्य तथा भिन्नपञ्चम में से अन्यतम हो सकता है ।
प्रयोग के आरम्भ में भण्डवार्त्ताओं की मध्यम स्वर में रखने का उद्देश्य कालिदास
के मालविकाग्निमित्रम् में भी प्राप्त होता है । (विशेष द्रष्टव्य—अभि० भा०
Vol I पृष्ठ २३७, बृहद्देशी पृ० ८५, तथा सङ्गीतरत्नाकर Vol II Adyar
Ed. पृष्ठ ८२-८४) ।

सभी देवों को नमस्कार, ब्राह्मणों का (या द्विज जाति का) कल्याण हो, मोम राजा की विजय हो, गौएँ स्वस्थ रहें, ब्राह्मण उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्राप्त करें, ब्रह्म के विद्वेष करनेवालों का नाश हो, सागर से युक्त इस प्रच्यौ पर राजा शासन करें, राज्य की वृद्धि हो और रत्नमञ्च की उन्नति होती रहे, नाट्यप्रदर्शन करवाने वाले ब्रह्म के द्वारा अभिहित महत् धर्मलाभ प्राप्त करें, नाट्यकार (कवि) का यश सदा बढ़े और इस नाट्ययज्ञ के द्वारा सभी देवगण प्रसन्न हों।

नान्दीपदान्तरेषु च खेव सन्त्विवि नित्यम् ।

वदेता सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्वकौ ॥

जब सूत्रधार नान्दी के पदों का पाठ करे तभी उसके दोनों ओर स्थित पारिपार्श्विक 'ऐसा ही हो' कहते हुए उसके कथन का अनुमोदन करें।

एव नान्दी विधातव्या यथावल्लक्षणान्विता ।

नान्दीप्रयोगे च कृते प्रीतो भवति चन्द्रमा. ॥

(ना० शा० ५।९९।१०४)

लक्ष्मणों के अनुसार निर्मित [इसी प्रकार की] 'नान्दी' की ही रचना की जाए क्योंकि उचित या निर्दिष्ट विधि से नान्दी का प्रयोग करने से चन्द्रदेव प्रसन्न होते हैं।

किं फल स्यात् ? रसाधारत्वाच्चन्द्रमसस्तु प्रीतिमुलभा रस-सम्पत्तय इति । (तथा हि—)

प्रश्न—चन्द्र के प्रसन्न होने का क्या फल होगा ? उत्तर—क्योंकि चन्द्रदेव रसों का अधिकारता देव माना जाता है और उसके प्रसन्न होने से नाट्यप्रदर्शन में मरमता या रसबहुलता हा जाती है।

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते ।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति मंजिता ॥ ११६ ॥

१. शारदातन्त्र का मत है कि रस का अधिकारी देवता चन्द्र है अतएव नान्दी को भी चन्द्रविषयिणी निर्मिति मानने से प्रयोग में रस नैरन्तर्य बना रहगा तथा निर्दिष्ट नाट्यप्रयोग पूर्ण होकर सफलता देगा। (द्रष्टव्य भाव प्र० पृ० १९० G. O. S.)।

क्योंकि इसमें देवता, ब्राह्मण या राजा आदि के कल्याणार्थआशीर्ष-
चनात्मक रचना रहती है अतएव इसकी ‘नान्दी’ सज्ञा रखी गयी।

नान्दी पूर्वरङ्गस्याङ्ग मुख्यतमम् । यथाह—प्रत्याहारमार्जनागीत-
विधिब्रह्मयोग—चारीमहाचारीप्ररोचना—नान्दीजर्जरस्तुतिदिग्बन्दनादीनि
द्वाविंशत्यङ्गानि वाद्यगीतनृत्यपूर्वदेवस्तुतिशरीरस्य पूर्वरङ्गस्येति । नान्दी-
प्ररोचने कथित एव ।

पूर्वरङ्ग से नान्दी की महत्त्वपूर्ण अङ्ग के रूप में गणना की जाती
है। वाद्य तथा कंठसंगीत और नृत्य के द्वारा देवताओं की स्तुति
के लिए ये अङ्ग होते हैं और इसी लिए ये सभी पूर्वरङ्ग के अंग हैं।
इनकी सख्या^१ बाईस मानी गई है जिनमें से मुख्य अङ्गों में से कुछ
हैं—प्रत्याहार, मार्जना, ब्रह्मयोग, चारी, महाचारी, प्ररोचना, नान्दी,
जर्जरस्तुति तथा दिग्बन्दना आदि।

जर्जरस्तुतिर्यथा—

ब्रह्मणाभिहितः शक्रः सुराधीशो ध्वजेन हि ।

जर्जरानकरोद्विघ्नान् तेनोक्ता जर्जरस्तुतिः ॥ ११७ ॥

जर्जरस्तुति—नान्दी और प्ररोचना के स्वरूप बतला दिये हैं।
‘जर्जरस्तुति’^२ का निम्न स्वरूप है :—

१—पूर्वरङ्ग के बाईस अङ्गों में सागरनन्दी ने जिन अङ्गों के नाम नहीं
दिये वे इस प्रकार हैं—अवतारण, आरम्भ, ध्वजघ्राणि, परिघट्टना, मार्गामारित
आसारित, उत्थापना तथा रङ्गद्वार। शारदातन्त्र का मत है कि इन बाईस अङ्गों
के अतिरिक्त ध्रुवा और त्रिमाम को भी इस (पूर्वरङ्ग) के अङ्ग मानना चाहिये
[भा० प्र० पृ० १९४-१९९ G. O. S] इन अङ्गों के छलन आदि नाट्यशास्त्र
के पञ्चम अध्याय में विस्तार से दिये गये हैं जो दृष्टव्य हैं।

२—जर्जर शब्द का अर्थ है बाँस जिसे इन्द्रध्वज के प्रतीक के रूप में
रंगमञ्च पर स्थापित करने की प्रथा है। नाट्यशास्त्र में जर्जर की उत्पत्ति की
कथा में बतलाया गया है कि जब इन्द्रध्वज महोत्सव के अवसर पर प्रथम
नाट्यप्रयोग प्रस्तुत किया गया तो देख्य एवं दानवों ने उस में विघ्न डालते हुए
प्रयोग को बिगाड़ दिया तभी इन्द्र ने अपने ध्वज से इन विघ्नों का नाश कर
दिया। तभी से ‘जर्जर पूजन’ नाट्यप्रदर्शन के अग्रम पर पूर्वरङ्ग का एक
आवश्यक अङ्ग बन कर प्रचलित हो गया। (नाट्यशास्त्र अ० ३। १५,
१। ७०-७६)।

ब्रह्मा के द्वारा कहे जाने पर देवराज इन्द्र ने अपने ध्वज से (तब) सभी रित्रों का ध्वंस कर डाला । तभी से 'वर्जरस्तुति' का प्रचलन होकर पाठ किया जाता है ।

वर्जर इति शकृच्चक्रस्य पूर्वाचार्यदशित सज्ञाशब्द ।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा इन्द्र के ध्वज के अर्थ में 'वर्जर' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

दिग्वन्दना यथा—

युक्तीत वन्दनां यूयमधिपाः रुक्मिणी मुराः ।

आसीदत महारा(भा) गा रङ्गरक्षा विधत्त मे ॥ ११८ ॥

दिग्वन्दना—हे विशाखों के अधिपति देवगण, आप हमारा प्रणाम स्वीकार करें, यहाँ आकर निराजें और हमारे रङ्गमञ्च की रक्षा करें ।

एवमज्ञाना चान्ते सूत्रधार कार्यमभिधत्ते इति नान्यन्ते सूत्रधारः । एतदेव नान्यन्तपदवाच्यं यदन्तर काव्यप्रस्तावकप्रवेश इति । कथं सूत्रधारप्रयोज्यत्वमेतेषाम्, कुत खल्वन्ते सूत्रधार । न एव तेषां पाठक स एव चान्ते इति ।

पूररङ्ग में इन्हीं अङ्गों के सम्पन्न कर लेने के पश्चात् ही सूत्रधार द्वारा रङ्गमञ्च पर आकर भावी कार्य का नियन्त्रण किया जाता है । इसीलिए 'नान्यन्तेसूत्रधारः' जैसे शक्य नाटक के आदि में लिया जाता है । 'नान्दी के पश्चात्' का यही आशय है कि इन कार्यों के पूर्ण होने के पश्चात् एक पुरुष मञ्च पर प्रवेश करे तथा प्रयोज्य नाट्यप्रयोग (दृश्यकाव्य) का प्रस्ताव करे । प्रश्न—तब सूत्रधार पूररङ्ग के अङ्गों को सम्पन्न करता है तो फिर इन्हीं अङ्गों के पूर्ण हो जाने पर पुनः सभी का प्रवेश कैसे होगा ? क्योंकि जब वही नान्दी का पाठ करता है तो फिर नान्दी के पश्चात् पुनः उसका ही प्रवेश करना समझ नहीं माना जा सकता ?

सत्यम् । सूत्रधारावृत्ति स्थापनो नामान्य प्रविशति । सोऽयमन्ते स्यात् । यथा—

उत्तर—ठीक है । नान्दी के पश्चात् सूत्रधार के समान ही एक

दूसरा पात्र मञ्च पर प्रवेश करता है। इसे स्थापक (प्रस्तावक) कहा जाता है तथा यही नान्दी के बाद मञ्च पर अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए आता है। जैसा कि कहा भी है :—

‘प्रयुज्य रङ्गाक्षिप्रामेत् सूत्रधारः सहानुगः ।

स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ॥ ११९ ॥

स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्त्तव्यार्थानुगा ध्रुवा ।

सुवाक्यमधुरैः श्लोकैः नानाभावरसानुगैः ॥ १२० ॥

प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नामानुकीर्तयेत् ।

प्रस्तावनांततः कुर्यात् काव्यप्रस्तावनाश्रयाम् ॥ १२१ ॥

दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा मानुषे मानुषाश्रयः ।

दिव्यमानुपसंयोगे दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥ १२२ ॥

मुख्यीजार्थसदृशं नानामार्गसमाश्रयम् ।

नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ।

प्रस्ताव्यैवं विनिष्क्रामेन् काव्यप्रस्तावको द्विजः ॥ १२३ ॥

(ना० शा० ५।१४९-१५६)

पूर्वरङ्ग का माङ्गोपाङ्ग प्रयोग पूर्ण हो जाने पर अपने सहयोगियों के साथ सूत्रधार रङ्गमञ्च से चला जाए तथा सूत्रधार के समान ही गुण, वेश तथा स्वरूप लिए हुए एक दूसरे पात्र स्थापक का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होना चाहिए। इस पात्र के प्रवेश के समय नाटकीय कथावस्तु एवं अर्थ के अनुरूप (प्रावेशिकीआदि) ध्रुवाओं^१ का गान किया जाए।

१. ध्रुवा—नाट्यप्रयोग में गाये जाने वाले गीत जिनमें वर्ण, अलङ्कार लय, जाति तथा पाणि की विधिबत् सङ्गत रहे। इन ध्रुवाओं के पाँच प्रकार माने जाते हैं—(१) प्रावेशिकी, (२) आक्षेपिकी, (३) नैष्कामिकी, (४) प्रासादिकी तथा (५) अन्तरा । ये क्रमशः पात्रों के प्रवेश, परिवर्तन या दूसरी ओर मुड़ना, चिदा होना, चले जाना, प्रमत्त होना या हर्ष तथा चोच के कार्यों के सन्निध्यलों के अवसर पर नाट्यप्रयोग की प्रगति में सहायक होकर प्रयुक्त की जाती है। (इनका विशेष विवरण तथा उदाहरण आदि नाट्यशास्त्र के अध्याय ५, १९ तथा २८ पर द्रष्टव्य) । रस, परिस्थिति तथा भाव (आदि) के अनुकूल इनमें छन्द चुना जाता है तथा संस्कृत, प्राकृत आदि किसी भी भाषा में इनकी रचना

यह सुन्दर वाक्यों से निर्मित जो रस भाव आदि से पूर्ण पद्यों का पाठ कर प्रेक्षकों को आकृष्ट करे और तदुपरान्त प्रस्तुत नाटक के रचयिता के नाम आदि का उल्लेख करे। इसके पश्चात् प्रस्तुत नाटक को आरम्भ करने वाली प्रस्तावना सम्पन्न की जाए। प्रस्तुत काव्य की सूचना अनेक प्रकार के कार्यों द्वारा दी जाती है। जैसे—नाटकीय कथा में दिव्यपात्र हो तो यह स्थापक अपना वेप दिव्य पात्रों के समान, मानव पात्रों के होने पर मनुष्यों के समान तथा मिश्रित या दिव्यादिव्य पात्र हो तो फिर दिव्य या मानव वेपों में से कोई एक वेप धारण कर 'प्रस्तावना' का कार्य सम्पन्न करे और प्रस्तावना को प्रस्तुत करने के पश्चात् वह भी रङ्गमञ्च से चला जाए।

अयमत्रार्थ— उक्तानां पूर्वज्ञानामन्ते समाप्तौ । स्थापकः नाम सूत्रधारशब्देन वाच्यः । स च 'सुवाक्यमधुरैः श्लोकैः' रिति बहुवचनप्रयोगात् पुष्पाञ्जलिप्रभृति नानाभावरसान्वितान् श्लोकान् अयमपि पठेदित्यर्थः । तत्र यदि पूर्ववदयमपि यथोक्तज्याख्या पठति तदा न कश्चिदोपः । यस्तु भरतोपदिष्टः क्रमः स तु मानुष्यां सभाया सङ्घटतया नोपन्यस्तः ।

अब हम इसकी व्याख्या देते हैं। अन्त या पश्चात् का आशय है कि पूर्वरङ्ग के इन अङ्गों के पूर्ण हो चुकने पर। स्थापक को भी सूत्रधार शब्द से अभिहित किया जाता है [क्योंकि घेरा, गुण और आकृति में यह सूत्रधार के समान होता है]। यही सुन्दर वाक्यों से निर्मित पद्यों से प्रस्तावना सम्पन्न करे। यहाँ पद्य शब्द में बहुवचन से यही प्रतीत होता है कि अनेक पद्यों का पाठ किया जाए। ये पद्य अनेक रस तथा भावों से युक्त हों तथा पुष्पाञ्जलि अर्पण आदि आशय को संकेतित करते हों। यदि सूत्रधार ये समान स्थापक नियमानुसार इन श्लोकों का पाठ करता है तो भी नियम में किसी प्रकार का दोष नहीं समझना चाहिए। भरतमुनि के द्वारा पतलाया हुआ पूर्वरङ्ग का माहोपाङ्ग निर्णयक्रम प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत रहती है पर अधिकांश में सुवाचों की शौरमेयी भाषा में योजना परिलक्षित होती है। इनके प्रयोग का एक उद्देश्य पात्रों की विविध दृष्टान्तों, भावनाओं तथा घटनाओं को संकेतित करना होता है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा पात्रों के कार्य तथा समय का भी संकेत किया जाता है।

नहीं किया जा सकता है क्योंकि वैसा करने में कई कठिनाइयाँ [आ जाती] हैं।’

तत्र सुब्रन्ततिङन्तैर्द्वादशपदी नान्दी यथा—

सुब्रन्त तथा तिङन्त पदों से निर्मित द्वादशपदी नान्दी का निम्न उदाहरण है—

अज्ञेयावधितप्यमानतपसां साधं श्रिया दीर्घतां
पुष्पत्यः स्मरधग्विलोचनशिशिज्योतिसनाभित्विष ।
इन्दुग्रन्थनहेमशृङ्खललता. प्रेङ्खद्विविद्वाहिनी-
स्रोतरीकरकुन्दबुड्मलभृत सम्मोर्जटा पान्तुवः ॥

भगवान् शिवजी की वे जटाएँ आपकी रक्षा करें जिसमें गङ्गा जी के बहने पर उठने वाली फुहारे कुन्द की कलियों जैसी दिखाई देती हैं और आकाश की ओर उठने वाली श्रीगङ्गाजी की सुदीर्घ जल-धाराएँ सुवर्ण की शृङ्खलाओं के समान हैं जो चन्द्रमा को बाधने के लिए आकाश में घूमाव ले रही हों। भगवान् शिवजी के नेत्रों में विद्यमान जो दिव्य ज्योति है उसने इन जटाओं को और चमकीली बना दिया है जो कामदेव को बहान करने वाली हैं। ये जटाएँ इतनी लम्बी हैं कि मानों भगवान् शिव की अनन्तकाल तक चलने वाली तप की साधना को अपने साथ रखने के कारण ही दूर तक फैलने को बाध्य हुई सी प्रतीत होने लगती है।

१. भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के अङ्गों को विस्तार से बतलाया पर बाद में इन सभी अङ्गों का परम्परागत व्यवहार एक रूढ़ि बन कर तथैव नहीं चल पाया तथा धीरे धीरे अधिक विस्तार के कारण उबाने वाले प्रयोग अपना अस्तित्व खोने लगे। सागरनन्दी तथा विश्वनाथ कविराज के समय नाटकीय प्रदर्शन में विलम्ब या विघ्न के आपादक होने से पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का प्रयोग (ठीक से) नहीं होता था। विश्वनाथ के ‘इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगा-भावात्’ के उल्लेख से पूर्वरङ्ग के अङ्गों का संक्षेप में अनुमरण या अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। सागरनन्दी ने भी पूर्वरङ्ग के आवश्यक अङ्गों का विवरण देकर व्यावहारिक या आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने की अपनी व्यावहारिक वृत्ति ही यहाँ प्रदर्शित की।

जब [रङ्गमञ्च पर] नटी, बिदूषक या परिपात्रिक के सूत्रधार के साथ विविध प्रकारों [के वचनों] से युक्त तथा अपने कार्यों को बतलानेवाले वार्तालाप हों या वीथी के किन्हीं अङ्गों से पूर्ण वार्तालाप रखे जाएँ या फिर किन्हीं और ही प्रकार से [यह] वार्तालाप किया जाए तो विद्वज्जन उसे प्रस्तावना या आमुख ममझें ।

अन्यस्तु—अन्यापदेशेन कथानुक्रियाम्यामेकक सामुगो वा सूत्र-
धार कुर्यादामुखमिति । यथा—

दूसरे आचार्यों का मत है कि किसी वार्तालाप के उद्देश्य या उपदेश के द्वारा सूत्रधार ही अवेला या अपने किसी सहकारी को माथ रखते हुए 'आमुख' को प्रस्तुत करे ।

‘अन्तर्नेपथ्यमात्रोक्ति-श्रुतिस्मरणदर्शनै ।

स्वैरङ्गैश्चापि वीथ्यङ्गैः प्रकुर्यादामुखमुच ॥’ (इति)

इस प्रस्तावना को नेपथ्य की ओर देखते हुए किसी कथन को सुन कर, स्मरण कर या किसी व्यक्ति को देखकर अपने स्वयं कल्पित किसी कार्य या वीथी के किन्हीं अङ्गों के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए ।

प्रस्तावनाङ्गानि

अस्याङ्गानि । उद्घात्यकावलगितके द्वे वीथ्या कथोद्घातप्रयोगा
तिशयप्रवर्तका । अस्यैवाङ्गानि त्रीणि । एव पञ्चाङ्गानि ।

अब प्रस्तावना के भेद बतलाते हैं । उद्घात्यक और अवलगितक नामक दो वीथी के अग या प्रकार प्रस्तावना के भी होते हैं । प्रस्तावना के अन्य तीन प्रकार हैं—कथोद्घात, प्रयोगातिशय तथा प्रवर्तक । इस प्रकार कुल मिला कर प्रस्तावना के पांच भेद होजाते हैं ।

उद्घातकम्

उद्घात्यकस्यायमर्थः—पदान्यन्यगतार्थानि प्रदर्शनावगतार्थे पदै
प्रतिपादयतीति यत्तदुच्यते । यथा—

उद्घात्यक—अब उद्घात्यक का स्वरूप बतलाते हैं ।

इसे “उद्घात्यक” इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अज्ञात शब्दों या भावों का प्रश्नोत्तर के द्वारा सुस्पष्ट करते हुए प्रेक्षकों को आशय बतलाया जाता है । जैसे —

नाटकं कै गुणै स्थाय्यं ये हरन्ति सता मन ।

क तेषां दृष्टमुत्थानं रत्नकोशकृताविति ॥

प्रश्न—नाटक की प्रशंसा किन गुणों के होने पर की जाए ?

उत्तर—जिनसे मञ्जनों का मन आकृष्ट हो जाए । प्रश्न—उत्कृष्ट रूप में इसके लक्षण को कहाँ देखा जा सकता है ? उत्तर—रत्नकोश नामक रचना में ।

अवलगितम्

अवलगितं पात्रसूचनार्थं यदालपनं तद् द्रष्टव्यम् ।

अवलगित—नाटकीय पात्र की सूचना देने के लिए जब रंगमंच पर किसी परस्पर घर्तालाप किया जाये [और तदनुसार पात्र का रंगमंच पर प्रवेश हो] तो उसे ‘अवलगित’ नामक प्रकार समझना चाहिए ।

यथा

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हत ।

एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरंहसा ॥

(अभि० शाकु० १।५)

जैसे—‘मैं तेरे सुन्दर और मनोहारी गीत के राग से उसी प्रकार तिच आया जैसे वेग से दौड़ने वाले हिरन से बलात् तिच जाने वाला यह राजा दुष्यन्त हो ।

कथोद्धातः

कथोद्धातः यत्र सूत्रधारस्य वाक्य वाक्यार्थं वा गृहीत्वा पात्र प्रविशति । तद्यथा स्नावल्याम् यौगन्धरायण—एवमेतत् क सन्देह । ‘द्वीपादन्यस्मात्’ (रत्ना० १।६) इत्यादि ।

कथोद्धात—सूत्रधार के द्वारा कहे हुए शब्द या उसके भाव को लेते हुए जब किसी पात्र का मंच पर प्रवेश हो जाए तो ‘कथोद्धात’ नामक प्रस्तावना का प्रकार हो जाता है ।

१. नाट्यशास्त्र तथा दृष्टरूपक से अवलगित का यह लक्षण भिन्नता रखता है ।

नटी—इस ऋतु को जाने दीजिये। यह तो विरही मनुष्यों को सन्ताप देने वाली ऋतु है। मैं अपने गीत के लिए दूसरा ऋतु चुन कर गाती हू।

अत्र वसन्तर्त्तवार्षि दर्शयन्त्याज्जया शर्मिष्ठाया अवस्था प्रवर्ति-
(दर्शि) ता ।

प्रस्तुत कथन में वसन्त ऋतु के सम्बन्ध में अपनी भव्ति प्रदर्शित करने हुए नटी ने शर्मिष्ठा को विरहदशा की सूचना दी।

अन्ये तु तुल्यकालप्रवर्तकमेव प्रवर्तकमिच्छन्ति । यथा—
'पित्रोर्विधातु शुद्धपाम्' (नागा० १।५) इत्यादि । यथा वा—
'सायात्रिकैः सह समुद्रगमनमेव साधयामि ।'

किन्हीं अन्य आचार्यों का मत है कि एक समय में एकसाथ समान रूप से घटने वाली घटनाओं को 'प्रवर्तक' समझना चाहिए। जैसे नागानन्द नाटक में—'अपने माता पिता की सेवा करने के लिए इत्यादि में है। या फिर "मैं अब इन जहाजी सौदागरों के साथ समुद्र यात्रा पर ही बढता हूँ" (इत्यादि)

यथा—'विश्वामित्रमुनिर्यथा रघुपते सीताविवाहं प्रति

व्यग्रात्मा यतते तथा वयममी यत्न विधास्यामहे ।' इति ।

अथवा—विश्वामित्र ऋषि श्रीराम तथा सीता का विवाह करवाने के लिए जैसे प्रयत्नशील रहे वैसे ही हम लोग भी इस कार्य के लिए प्रयत्न करेंगे। इत्यादि ।

वीध्यङ्गैरिति निर्देशान् नालिकापि कार्या । यथा वासवदत्ताहरणं सूचयन् सूत्रधार —

संज्ञण में प्रवर्तक को वीर्य के अङ्गों के माध कहा है। इसका आशय है कि इस प्रकार में 'नालिका' का प्रयोग भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वासवदत्ता के हरण की सूचना देने हुए सूत्रधार का निम्न कथन —

१. नालिका का रचण आगे दिया गया है। 'हस्ते कर्णहय' श्लोक नालिका का उदाहरण है जिसमें ग्रहेष्टिका के समान प्ररवोत्तर करते हुए नाट्य के नाम (वासवदत्ता-ह-रण) को प्रस्तुत किया गया है। ऐसे प्रयोग चमत्कार उत्पन्न करने या नवीनता लाने के लिए प्रमादशाली रूप माने जाते रहे हैं जो नाटकीयरचना का आलङ्कारिकचमत्कार जैसा प्रयोग कहा जा सकता है।

हस्ते कर्णस्य का शक्ति क्षसमध्यगतोऽस्ति क ।

परैः किमधितिष्ठन्तो न वाच्या शस्त्रिणो हताः ॥

कर्ण के हाथ में कौन शक्ति थी ? क्ष और स के बीच कौन रहता है ? शत्रुओं के द्वारा मारे जाने पर भी योद्धा कहाँ निन्दनीय नहीं माने जाते ?

[यहाँ तीन प्रश्नों के द्वारा क्रमशः नाटक की नामावली के अक्षर प्रस्तुत किये गए हैं जिनके क्रमशः उत्तरों को (१) वासवदत्ता (२) ह (३) रण जोड़ने पर वासवदत्ताहरण नामक नाटक का नाम बन जाता है । यही नालिका कइलाती है ।]

इत्यामुल्लिखिधि । भारतीवृत्तिरियं वैदर्भगौडीयपाञ्चालरीतीना
तिसृणामङ्गं बोद्धव्या ।

इस प्रकार आमुख के प्रभेद (अङ्ग) बतलाए गए । भारतीवृत्ति वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली नामक तीनों रीतियों का अङ्ग बनती है ।

सात्वती—

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता

त्यागेन शौर्येण समन्विता च ।

हर्षोत्तरा संहतशोकभाजा

सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥ १२८ ॥

(ना० शा० २२।३८)

सात्वती—जो सात्वत नामक गुण, त्याग और शौर्य से युक्त हो तथा जिसमें अतिशय हर्ष तथा शोक की (अर्थात् करुणरस की) अत्यन्त न्यूनता हो तो उसे ‘सात्वती’ वृत्ति समझना चाहिए ।

सात्वता गुणा गुरुशुश्रूषादिसद्वृत्तयः । यथा—

सात्वत गुण हैं अपने पूज्य माता पिता आदि की सेवा आदि सदाचरण । जैसे :—

यथा रामोऽजहाद् राज्यं पितुर्भक्त्या क्रमागतम् ।

वनेऽपि न्यवसद् दृष्टव्यतुर्दशसमा अपि ॥

श्रीराम ने पूज्य पिता जी की भक्ति के कारण परम्परा से प्राप्त

होनेवाले राज्य का परित्याग तो किया ही प्रसन्न होते हुए चौदहवर्ष का वनवास भी मान्य किया ।

त्याग यथा—

वध्यो मे हन्तु मां पार्थ. पृथे सार्थास्तु तेऽर्थता ।

इत्यदात् कवच तस्यै कर्णं स्वप्राणनिस्पृह ॥

त्याग का निम्न उदाहरण है.—

चाहे मेरे द्वारा वध्य अर्जुन मुझे ही मार डाले पर हे माता कुन्ती, तुम्हारी वाचता व्यर्थ न जाए । ऐसा कह कर अपने जीवन की कुछ भी परवाह न करते हुए कर्ण ने अपने कवचों को उसे दे डाला ।

शौर्य यथा—

एष कृष्णाकचार्कशं प्राप्तो दुःशासनो मया ।

पातु कश्चित् क्षणं तिष्ठान्येहि कृप्यो हतो रिपु ॥

शौर्य का उदाहरण :—

मैंने इस द्रौपदी के केशों को खींचने वाले दुःशासन को पकड़ लिया है । अब इसे कोई बचा ले मैं एक क्षण रुकता हूँ । द्रौपदी, आओ । अब यह दुःशासन मारा जा चुका है ।

हर्षोत्तरे (यथा)—

आ. किं शोचाम्यहं स्त्रीव हतान् बन्धून् दशानन ।

दृशो मुस्ताशु वीक्ष्यध्वं निहतौ रामलक्ष्मणौ ॥

अतिशय हर्ष का उदाहरण :—

मैं दशानन हो कर भी अपने युद्ध में मारे गए प्रियबाध्यों पर स्त्रियों के समान शोक करते हुए क्यों रोऊँ ? हे रावण, तुम अपनी आँखों से आँसू पोंछो और देखो कि राम लक्ष्मण अब शीघ्र ही मारे जाएंगे ।

सैव रौद्रेऽपि । (यथा) राघवाभ्युदये रावण प्रति जटायु —

इसी प्रकार रौद्ररम में भी समझना चाहिये । जैसे राघवाभ्युदय में रावण के प्रति जटायु की यह उक्ति —

अवनिरविरथान्त प्रस्थितैकैकचञ्च-

पुटकुहगविलोलव्यालकल्याप्रजिह्वे ।

अरुणरुचिरतिर्यम्बर्तिदग्मैरवास्य.

क्वलयतु भवन्त क्रोधदीप्तो जटायु ॥

यह जटायु निम्नने अपनी चोंच की दोनों नोकों को पृथ्वी और सूर्य के रथ के बीच तक फैला रखा है, जो अपनी लहराती हुई सर्प के समान जीभ को अपने तालु के बीच में घुमा रहा है तथा जिसने अपने लाल नेत्रों वाले मुह को क्रोध के कारण तिरछा करने से बड़ी भीषण आकृति बना डाला है, वही अब तुम्हें निगलेगा ।

अद्भुते यथा कुम्भाङ्के

अद्भुतरस का उदाहरण कुम्भाङ्क में —

रावण — अहो लाघव वानरस्य ।

रावण — ओ हो ! इस वानर ने कितनी फुरती दिसलाई !

सीता — हृदास, परक्रमति किं न भणसि । [हताश पराक्रममिति किं न भणसि ।]

सीता — दुष्ट, इसे पराक्रम क्यों नहीं कहते हो ।

अल्पकरुणा यथा

विष्टदात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।

बाहवेनेह जरधि. शोक. क्रोधेन पीयते ॥

थोडा करुण रस का उदाहरण :—

अतिशय विस्तीर्ण, गहरा, अनन्त और महाश्र होने पर भी जैसे सागर बड़बानल के द्वारा पी लिया जाता है उसी प्रकार क्रोध भी [विस्तीर्ण, गहन, अपार और महान होने पर] शोक के द्वारा पिया जाता है ।

स्वल्पशृङ्गारो यथा—

प्रिये तावन्न नेत्राभ्या पास्याम्यद्य तवाननम् ।

न दृशो यावदश्रुणि धमन्ति रिपुयोषिताम् ॥

परस्पराघर्षणकृता यथा (वेणीसंहारे)

स्वल्पशृङ्गाररस का उदाहरण —

प्रिये, मैं जब तक तुम्हारे मुख के सौन्दर्य का अपने नेत्रों से पान कर रहा हूँ तभी तक शत्रु ललनाओं के नेत्रों से बहने वाले आँसू रुके हुए हैं ।

परस्पर दोषारोपण या मुठभेड़ का (वेणीसंहार में निम्न) उदाहरण :—

कर्ण—जात्या तावदवध्योऽसि चरणं विदमुद्धृतम् ।

अनेन लून खन्नेन पतित द्रव्यसि क्षितो ॥

(वे० सं० ३।४१)

कर्ण—अरे तू पाति से मारहाण होने के कारण चाहे अवध्य हो पर तुम्हारे हम उठे हुए पैर को तुम अभी इसी तलवार से कट कर पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखोगे ।

यथा च (वा)—

शमिष्ठा—तत्रैष न्यस्यते वामपाद शिरसि धार्य्यताम् ।

अन्यः पठति—उद्धरेनं पुन कृत्त पतिस वेत्स्यसि क्षितौ ।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण भी है —

शमिष्ठा—मैंने तो तुम पर अपना बाँया पैर उठा लिया है जो सर पर गिरेगा ।

यह सुन कर उत्तर में दूसरे पात्र ने कहा —

जरा उठाओ तो, तुम देखोगी कि यह पृथ्वी पर फट कर गिर चुका होगा ।

अतएव भरतः

वीराद्भुतरौद्ररसा विज्ञेया स्वल्पशृङ्गारा ।

उद्धतपुरप्राया परस्परार्पणकृता च ॥ इति ॥

(ना० शा० २२।४०)

इसीलिङ्ग आचार्य भरत ने कहा है कि हम वृत्ति में कीर, रीद्र तथा अद्भुत रस होते हैं, करुण और शृङ्गाररस अल्पमात्र में रचे जाते हैं । हममें उद्धत वृत्ति के पात्रों का आधिपत्य रहता है और ये पात्र परस्पर दोपारोपण या मुठभेड करत हुए प्रस्तुत किये जाते हैं ।

अस्याश्चत्वारो भेदा । उत्थापक, परिवर्तक, सलाप साक्षात्य-श्चेति ।

सात्प्रतीवृत्ति वं चार प्रकार हैं—(१) उत्थापक (२) परिवर्तक (३) सलाप तथा (४) साक्षात्य ।

(यथा) 'उत्थास्याग्नयमह रं (तावद्) दर्शयात्मन शक्तिम् ।' इति ।

अरे रे प्रहरस्व पश्यामस्ते शक्तिम् । इत्यादि ।

जैसे—मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ तुम जरा अपनी ताकत तो बतलाओ ?

अरे तुम बार करो, मैं तुम्हारी ताकत तो देखूँ ।

महर्षादाश्रयाद्वापि ब्राह्मैस्तथापको मतः ।

उत्थापक—किसी पारस्परिक सघर्ष को [या सघर्ष से उत्पन्न होने वाली चुनौती को] लेकर किया हुआ कार्य ‘उत्थापक’ समझना चाहिए ।

योगक्षेमावहं कर्म प्रारब्धं वीक्ष्य निष्फलम् ॥ १२९ ॥

परावृत्त्यारभेदान्यद् भवेत् न परिवर्तक ।

भेदः साम च दानञ्च त्रयं निष्फलताद्गतम् ।

उद्धरेदण्डमास्थाय यत् स्यात्तत् परिवर्तकम् ॥ १३० ॥

परिवर्तक—आरम्भ किये हुए या किसी योग क्षेम के लिये किये गये कार्य की निष्फलता को देखकर दूसरे कार्य की ओर मुड़ जाना [या उसे करने लगना] ‘परिवर्तक’ कहलाता है ।

जब साम, भेद और दान की व्यर्थता सिद्ध हो और अपना कार्य पूर्ण करने के लिए ‘दण्ड’ का सहारा लिया जाए तो उसे भी ‘परिवर्तक’ समझना चाहिए ।

यथा राघवाभ्युदये कूटसन्धिना सामदाने निष्फलीभूते रावण स्वरूपमास्थाय-दुरात्मैर्लक्ष्मण, तिष्ठ तिष्ठेति व्याहृतवान् । अन्ये तु-प्रकृतस्य कार्यस्य दैववशादन्यथैव परिपाकः परिवर्तक । यथा वारि प्रविश्य कार्यमनिच्छन्नेव दुर्योधनो भीमस्य (उत्तेजकं) वचः श्रुत्वा क्रोधादुत्थितः ।

जैसे राघवाभ्युदये में कूटनीति के प्रयोग में जब साम, दान व्यर्थ हो गए तो रावण अपने रूप में प्रकट हो कर लक्ष्मण से बोला—दुष्ट लक्ष्मण ठहर जा, कहीं जा रहा है ? । [यही परिवर्तक है]

दूसरे आचार्यों का मत है कि प्रारम्भ किये हुए कार्य का दुर्भाग्यवशा विपरीत फल देना ‘परिवर्तक’ कहलाता है । जैसे—दुर्योधन जल में धुन कर अपना (रक्षण) कार्य करना चाहता था पर भीम के (उत्तेजक) शब्दों को सुन कर वहाँ से क्रोधावेश में घाट निकल आया ।

साधर्पजो निराधर्पजश्चेति द्विविध सल्लापो न्यङ्कारकारी च ।
यथा—दुरात्मन् , तिष्ठ तिष्ठ क गमिष्यसि । अयं न भवसि । त्वद्वधाद्
वैरस्यान्तं गमिष्यामीत्यादि । निराधर्पजो यथा—त्वया सह मयाधीतं
श्रुतञ्चेति । अन्यस्त्वाह—

संज्ञाप—किमी को अपमानित करने और न करने से होने वाला
'संज्ञाप' (भी) दो प्रकार का होता है तथा इसमें दुर्वचन या धिक्कार
देने वाली शब्दावली रखी जाती है । इनमें से पहिले प्रकार का उदाहरण
है—“अरे दुष्ट, ठहर जा, कहीं जा रहा है ? अब ऐसा नहीं चलेगा ।
मैं तुझे मार कर ही अपना बदला चुकाऊँगा ।” इत्यादि । तथा दूसरे
प्रकार के (अर्थात् बिना अपमान किये हुए होने वाला) संज्ञाप का
उदाहरण है —

नाधीतं न श्रुतं साद्वै त्वया सह मया कश्चित् ।

इत्यधिक्षिप्तवान् वाक्यमेकोऽयस्याक्षमायुतः ॥' इति ।

एक—मैंने तुम्हारे साथ साथ अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया है ।
दूसरा—मैंने तुम्हारे साथ न अध्ययन किया और न दिया ही प्राप्त की ।
उपर्युक्त शब्दावली में बिना किमी प्रकार का दुर्वचन कहते हुए
तिरस्कार किया गया जो अपना धैर्य छोड़ चुका था ।

साङ्घात्यः उच्यते—

मन्त्रार्थकार्यसंसक्तो दोषाद् दैवस्य चात्मनः ।

सङ्घातभेदजननः साङ्घात्यः कूट उच्यते ॥ १३१ ॥

अथ इमं संघातक का लक्षण बतलाते हैं :—

संघातक—मन्त्र तन्त्र, घन या किमी दैवी दुर्घटना के कारण गूढ़
रूप में समूह या कुटुम्ब में भेद उत्पन्न करने वाली शब्दावली या
योजना को 'संघातक' समझना चाहिए ।

(यथा) लावणकदाहे वासवदत्ताया मरणं साधितम् । राघवा-
भ्युदये रामं वञ्चयितुं राक्षसेन कूटसन्धौ आलिनी नाम राक्षसी सीता
कृतेति । सात्वतीवृत्तिरियं पाश्चात्या अग्नौ योद्धव्येति ।

जैसे लावणक में आग लग जाने से वासवदत्ता के मरण को
बतलाना या पुष्ट करना । अथवा राघवभ्युदय में राम को धोखा देने

के लिए कूटसन्धि या कपटजाल बिछा कर रात्रण द्वारा जालिनो राक्षसी को सीता बनाना। यह सात्वतीवृत्ति पांचाली रीति का अङ्ग होती है।

कैशिकी—

भृङ्गाराभिनयोद्गामि-पाठ्यमात्यभिभूषणा ।

नृत्यमादित्रगीताद्या कामसम्भोगलक्षणा ॥ १३२ ॥

सुकुमारकाव्यग्रन्थामुज्ज्वलवस्त्राभरणवेपाश्च ।

कामोपचारग्रहणं भापन्ते कैशिकीं कनयः ॥ १३३ ॥

कैशिकी—जिसके सगद् मृद्वार रस के अभिनय से पूर्ण, कोमलता और लालित्य लिए हुए हों, जिसकी भाषा अलङ्कारों से और वेप पुष्पमालाओं से आकर्षक बन गए हों व जिसमें नृत्य, गीत तथा वाद्य (संगीत) से युक्त प्रणय-क्रीडाएँ हों तो उसे “कैशिकी” वृत्ति समझना चाहिए।

विद्वज्जन (कविगण) कहते हैं कि कैशिकी वृत्ति में काव्य रचना सुकुमार रहती है, आकर्षक और मडकीले वस्त्र और अलङ्कारों से सजाए गए वेप रखे जाते हैं तथा आमोद एव विलास बहुल प्रणय व्यापार का बाहुल्य रखा जाता है।

अस्याश्चत्वारो भेदा—नर्म, नर्मस्फोटो, नर्मगर्भ, नर्मस्फुल्लश्च ।

कैशिकीवृत्ति के चार प्रभेद होते हैं। यथा—(१) नर्म, (२) नर्मस्फोट, (३) नर्मगर्भ तथा (४) नर्मस्फुल्ल ।

परापरादैः परुषैरश्लीलैश्च निजजितम् ।

शुद्धमन्तर्गताकृतं नर्म स्याच्छुद्धगर्भकम् ॥ १३४ ॥

उपस्थापितशृङ्गार हास्यवचनप्राय नर्म वर्णयन्त्याचार्या ।

नर्म—जिसमें दूमरों पर आक्षेप, (निन्दा) कठोर शब्द या अश्लील वचनों का प्रयोग न किया जाए उसे ‘शुद्ध-नर्म’ तथा जहाँ गूढतापूर्वक किसी बताने से आक्षेप आदि का प्रयोग रहे उसे गूढ या छद्मगर्भ नर्म समझना चाहिए।

आचार्या का मत है कि जिसमें प्रियतमा को प्रसन्न करने के लिए आरंभ किये हुए परिहासपूर्ण वचन हों तो उसे भी ‘नर्म’ समझना चाहिए।

आवद्धगीतरमसा कर्णोत्तसितपल्लवा ।

कामोत्सवे विलासिन्य क्रीडन्त्यथ पुरे पुरे ॥

शुद्ध नर्म का उदाहरण —

कामोत्सव के अवसर पर आज प्रत्येक नगर में विलासिनी अगनाएँ नवपल्लवों के आभुषण कानों में पहिने हैं तथा गीत गाते हुए क्रीडा कर रही हैं ।

अन्तर्गताकृतं यथा—

कलकणितगर्भेण कण्ठेनाधूर्णितेक्षण ।

पश्य पारावत कान्तामालिङ्ग्य परित्युम्बति ॥

(काव्यादर्श २।१०)

गूढार्थ (या अन्तर्गताकृत) नर्म का उदाहरण —

देखो, यह परेवा [कनूतर] अपनी घूमती हुई आँखों से तथा मधुरध्वनि से अपने कण्ठ को आपूरित करते हुए अपनी प्रिया का आलिगन करते हुए (उसका) चुम्बन कर रहा है ।

छन्नगर्भं यथा—

इयं नाम गता कान्ता हृदयात् क्व गमिष्यति ।

नियद्धा सहजस्नेहवज्रलेपेन यत्र मे ॥

छन्नगर्भं नर्म का उदाहरण —

चाहे प्रियतमा इस स्थान से चली जाए परन्तु स्वाभाविक स्नेह-रूपी घघ्रलेप से ससक्त होने के कारण मेरे हृदय से कैसे हट सकती है ।

हास्यमचनप्रायं यथा—

वरमद्योऽन्तर्यकुलो वरो

न पुनरस्मि वरस्तव सुग्रह ।

भजति पादरताहर्तिकक

पिबति वस्त्रमुराक्ष तथापर ॥

इत्युक्तिमि कान्ता हास्यन् क्षीप त्याजयति ।

हास्यवचनप्राय (परिहासपूर्ण वचन) नर्म का उदाहरण —

हे सुन्दरी, यह अशोक का या मौलसिरी का पेड़ ही अच्छा है मैं तुम्हारा प्रिय हो कर भी उतना प्रिय नहीं हो सका क्योंकि इनमें से एक तुम्हारी चरणलता का स्पर्श पा पाता है और दूसरे को तुम्हारे मुख की मदिरा की प्राप्ति होती रहती है ।

नायक द्वारा इस प्रकार के कथन से नायिका का मान जन्य कोप का छुड़वाना नर्म है ।

अन्ये पुनराहुः—

‘हास्येच्छा-भयभेदेन नर्मात्र त्रिविध भवेत् ।
शृङ्गारोद्दीपनो य स्यात् परिहास सविभ्रम ॥
स्त्रीपुंसयोस्तु नर्मैतद्भास्यमेदव्यवस्थितम् ।
सताढ्य कुसुमैश्छन्नापीच्छयागत्य दर्शनम् ॥
प्रियस्य नायिका याति यच्चदिच्छाश्रय भवेत् ।’

दूसरे आचार्यों का मत है कि परिहास, इच्छा या भय के द्वारा होने के कारण नर्म के भी तीन प्रकार समझना चाहिए । इनमें नायक तथा नायिका का परस्पर विलासपूर्ण और शृङ्गार का उद्दीपक परिहास हो तो उसे ‘परिहासन नर्म’ समझना चाहिए । जब नायिका छिप कर नायक को पुष्प फेंक कर मारे और फिर नायक के सामने खड़ी हो जाए तो उसे ‘इच्छाश्रय नर्म’ समझना चाहिए ।

भयाश्रयं यथा—

मेघोद्गच्छ पुनर्गच्छ पुनर्विकिर विद्युतम् ।

छिद्योऽह यद्भ्रम यान्त्या क्रुद्धयाप्यर्थना विना ॥

भयाश्रयनर्म को निम्न उदाहरण से समझना चाहिए :—

मेघ, तुम बार बार घुमडो, बरसो और बिजली कड़काओ क्योंकि तुम्हारे इस कार्य से मेरी अज्ञान कृद्ध होने वाली भीत प्रियतमा का बिना याचना के मुझे आलिंगन प्राप्त हो रहा है ।

नर्मस्फोटो यथा—

गमेन काचिद् व्यवहरन्ती नायिकयागत्य प्राप्ता । अकिञ्चि-

कुर्वाणिव तूष्णीं स्थिते नायके शङ्काभयपरा लज्जार्ता यत्र कन्या भवति स नर्मस्फोटः ।

नर्मस्फोट—जब कोई कन्या गुप्त रूप से किसी नायक से मिले और नायिका आकार वही उसे पकड़ ले तब नायक चुपचाप बैठा रहे और उस कन्या की दशा शका, भय और लज्जा के कारण घबड़ा-हट पैदा करने वाली बन जाए तो इस सारी स्थिति का चित्रण 'नर्मस्फोट' समझा जाता है ।

नर्मगर्भो यथा—

यत्र प्रच्छाद्यात्मनो रूपं तत्कार्यनिष्पत्तये स्थायते स नर्मगर्भ उच्यते । यथा—वत्सराजसुतो नरवाहन प्रभावतीवेषमास्थाय प्राप्तो मदनमञ्जुकाम् ।

नर्मगर्भ—जब कोई पुरुष अपने स्वरूप को छिपा कर अपनी कार्य-सिद्धि की प्रतीक्षा करे तो उसे 'नर्मगर्भ' समझना चाहिए । जैसे वत्स-राज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त का प्रभावती के वेष में मदनमञ्जुका के पास पहुँच जाना [नर्मगर्भ है] ।

नर्मस्फुटो यथा—

नयसङ्गमसम्भोगो यत्र जायेत मुधुवः ।

नर्मस्फुटो ह्यसौ ज्ञेयस्त्रयसानभयानरुः ॥ १३५ ॥

(ना० शा० २२।२१)

नर्मस्फुट—नायक तथा नायिका के प्रथम समागम के अनन्तर पर होने वाले मुग़ल और बाद में होने वाले भय को 'नर्मस्फुट' कहते हैं ।

यथा राजा सह देव्या प्राप्तोऽन्तपुरयोपिता ।

द्वयोरप्यनयो कष्टं प्राप्तं कृच्छ्रात् समापितम् ॥ इति ।

कैशिकीवृत्तिरिय वैदर्भ्या अर्द्धं बोद्धव्या ।

जैसे .—महारानी ने जाकर महाराज को रनिवास की एक (कन्या) टामी के साथ पकड़ लिया तब दोनों को बड़ा कष्ट हुआ और बाद में बड़े प्रयत्नों से यह विपत्ति हटायी जा सकी ।

कैशिकीवृत्ति वैदर्भी रीति का अंग मानी जाती है ।

आरभटी—

समुद्रतप्रायगुणा वीररौद्राद्भुतात्मिका ।

कपटानृतदम्भेषु वञ्चनास्कन्दयोः स्थिता ॥ १३६ ॥

(ना० शा० २२।५५)

आरभटी—जिसमें प्राय उद्धतपुरुषों के गुणों की बहुलता हो, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस हों तथा कपटपूर्ण, झूठे, दम्भ, वचना तथा परस्पर घोषारोपण या आक्रमण भरे कार्य (व्यापार) हो तो उसे ‘आरभटी वृत्ति’ समझना चाहिए ।

युद्धनियुद्धेन्द्रजालमायाछेदनप्लुतादिभिरारभटी ज्ञेया । कपटे यथा—लावणकवाहे वासवदत्ताया मरणम् । अनृते यथा—द्रोणवधे अश्वत्थामा हतो हस्तीति श्रुते । प्लुते—माल्ते समुद्रलङ्घनम् । रामायणे लङ्कास्कन्दनमास्कन्द । अथवा अक्रदेन मन्दोदरीकेशार्कषणम् । युद्धं रामराजयोः ; नियुद्धं बालीसुग्रीवयोरित्यादि ।

अर्थात् युद्ध, बाहुयुद्ध, जादू, भ्रम, छेदन-भेदन तथा कूटकांद आदि क्रियाओं के द्वारा ‘आरभटी वृत्ति’ जानी जाती है । कपटपूर्ण व्यापार का उदाहरण है—जैसे लावणक (ग्राम) में वासवदत्ता का आग में जल कर मरना । अमत्यपूर्ण व्यापार का उदाहरण है—अश्वत्थामा (धीरे से हाथी) मर गया सुन कर द्रोण का निराश होने से घब्र किया जाना । कूट कांद का उदाहरण है—हनुमान् द्वारा समुद्र को लांघना । आक्रमण (आस्कन्द) का उदाहरण है—लंका को घेर लेना या अगद के द्वारा मन्दोदरी के केशों को खींच लेना । युद्ध का उदाहरण है—श्रीराम और राजन का परस्पर लड़ना । बाहुयुद्ध का उदाहरण है—बाली तथा सुग्रीव की कुश्ती होना । ये चारों उदाहरण (आदिष्वपि बाल्मीकि आदि की) रामायण में [दृश्य] हैं ।

अस्याश्चत्वारो भेदाः—सङ्क्षिप्तकम्, अवपात, वस्तुस्थापनं, सम्फेद इति ।

आरभटी वृत्ति के चार भेद होते हैं । यथा—(१) सङ्क्षिप्तक, (२) अवपातक, (३) वस्तुस्थापन तथा (४) सम्फेद ।

नन सङ्घितं यथा—

सङ्घितवस्तुविषयः प्रयोगाश्रितश्चिन्त्यवान् ।

वदृष्टमनोव्यानकृतेषु सङ्घितको मनः ॥ १३७ ॥

(ना० शा० २२।६७)

सङ्घितक—अथ सङ्घितक का लक्षण बतलाना है —

जिसने विषय को सङ्घित या थोड़े गठों में बतलाया जाना हो, जहाँ अनेक प्रकार के गिन्ना में युक्त प्रदर्शन हो तथा जिसके रूप मूला अनेक प्रकार के पलम्बरों की पुनर्दिष्ट के कारण विचित्रता लिए हुए रहें तो इसे 'सङ्घितक' समझना चाहिये ।

नाट्ये यानि रचनवर्तमानादीनि क्रियन्ते तानि पुन इति कीर्तयानि । यथा नारदेन शिल्पनाड्यर्थं नन्द क्षयं मीत । यथा वा सदसमायेन कन्या मायावती कृता । अन्ये पुनगम्यैव सदसि सङ्घितक । (तेषां मते) पूर्वनाटकप्रयोगेनापगमायकसम्भव सङ्घितक । यथा गतेन गवामपनीय विभीषणस्य गज्ये हृतमभिषेचनम् (इति) ।

नाट्य प्रदर्शन के व्यवस्था में आने वाली [अथवा नाट्य प्रदर्शन के हेतु बनाए गए] रथ, टाल, कपड, ध्वज [मुसौंडे] आदि वस्तुओं पुनर्दिष्ट कहलाती हैं । [जिन्हें अनेक प्रकार के वस्तुओं में या पलम्बरों में कलाकारों या कारीगरों के द्वारा बनाया जाना है] । उदाहरण के लिये नारद ने अनेक प्रकार की यन्त्रों को बतला कर नरकासुर को नाश करवाया । या फिर हमका उदाहरण है मन्त्रमाय के द्वारा मायावती कन्या का निर्माण करना ।

अन्य आचार्यों का मत है कि सङ्घितक का यह लक्षण दूसरे प्रकार का है । उनका मत है कि पिछले नाटक के नाश होने पर हमके ध्यान पर दूसरे नाटक की स्थापना या उद्भव हो जाना 'सङ्घितक' कहलाता है । उदाहरणार्थ धीरान द्वारा शायन को नष्ट कर हमके ध्यान पर विभीषण का राज्याभिषेक करना ['सङ्घितक' है] ।

१. यह नरकचर नाटक का विवरण है जिसका उद्भव बहिष्ते दिया जा चुका है ।

अवपातः—

भयहर्षविद्रवसम्भ्रमाणा क्षिप्रप्रवेशनिर्याणमवपातं विदुर्बुधा । यथा भार्गवेण युद्धाय रामे आहूयमाने वृद्धस्य दशरथस्य मुहुः प्रविशतो निर्गच्छतश्च सप्तम्भ्रम समयं सद्रवं चेष्टितमासीत् । सर्वथा विह्वलस्य चेष्टितमवपातः ।

अवपात—भय, हर्ष या घबराहट के कारण लोगों के जल्दी-जल्दी आने और जाने को बतलाना ‘अवपात’ समझना चाहिए । जैसे परशुराम द्वारा युद्ध के लिए जब श्रीरामचन्द्र को बुलाने पर वृद्धे दशरथ का बार-बार इधर-उधर घूमना तथा भय, शीघ्रता और घबराहट के कारण अनेक चेष्टाएँ करना । अर्थात् घबराए हुए मनुष्य की शीघ्रता में की जाने वाली चेष्टाएँ ही ‘अवपात’ कहलाती हैं ।

वस्तुत्थापनम्—

तत्र वस्तुत्थापनं यथा शम्बरकामदेवयोः सङ्ग्रामे किं स्यादत्र शिशोः कामस्येति हरेः क्रोधः, सीरिणः सम्भ्रमः, शोको यादवानां भयं वसुदेवस्य । नानारसयुक्तं बन्धूनां चेष्टितं वस्तुत्थापनमित्यर्थः ।

वस्तुत्थापन—जब किसी एक सम्बन्धित पुरुष के विषय में उसके सम्बन्धी भागने या न भागने की प्रवृत्ति का आश्रय लेकर अनेक भाव प्रकट करते हों तथा संक्षेप में सभी रसों का मिश्रण हो जाए तो उसे ‘वस्तुत्थापन’ समझना चाहिए । [ना० शा० अ० २२/६१] ।

उदाहरणार्थ—शम्बरासुर और कामदेव के युद्ध हो जाने पर छोटे बालक काम [प्रद्युम्न] का क्या होगा इस विचार में श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया, बलदेव को शीघ्रतावश दुःख न सूझा, यादवों में शोक व्याप्त होने लगा और वसुदेवजी को [बुढ़ापे के कारण] भय होने लगा । अर्थात् सभी रसों से मिश्रित चेष्टाओं का [प्रद्युम्न के] सम्बन्धी जन द्वारा प्रदर्शित करना ‘वस्तुत्थापन’ कहलाता है ।

तद्यथा—

सम्प्राप्ते भृगुनन्दने हरधनुर्भङ्गापराधे पुर-
काकुत्स्थे च परामवं न सहति प्रारब्धयुद्धोत्सवे ।

उत्तुद्धो जनक शुच दशरथ प्राप्नो वसिष्ठादय

सम्प्राप्ता पतिता मयेन च मुवा सख्या धृता मैथिली ॥ इति।

सदाहरणार्थ —

मगवान् परशुराम शिष्यनुप को सोडने के अपराध पर क्रुद्ध हो कर जब सामने आगए और [उनके] ललकारने पर अपमान ने सह करने के कारण श्रीराम भी उनके सामने आकर खड़े होगए तो जनक क्रोधावश से आगए मझाराना दशरथ घबरा कर चिन्ता करने लगे, बरिशत्रु आदि ऋषि उत्तेजित होने लग और तभी भयभीत सीता पृथ्वी पर मृच्छित हो कर गिर पड़ी जिस लमकी सखी ने सम्भाल लिया।

सम्फेटो यथा—

सम्फेटश्च वीरोद्राद्रुतप्रायै युक्त ससम्भ्रममय युद्धनिपुद्धबहुल
कपटमय शस्त्रप्रपातविषय । यथा समुद्रमथने देवासुराणाम् । यथा च—

सम्फट—बलना या हलचल ही 'सम्फट' होता है निमम वीर,
रीड या अहत रस हो, युद्ध और बाहुयुद्ध रहे और छल, कपट तथा
शस्त्रा के प्रहार से बड़ी विषम एवं भयावह स्थिति बन जाए। जैसे
समुद्रमथन के समय देव और नानों का हलचल। अथवा निम्न
उदाहरण में—

बाहुयुद्धैरक्षयुद्धैः कपटैर्वहुविस्तरैः ।

घोरमृत्यन्तममवद् युद्धं वृत्रमहेन्द्रयो ॥ इति ।

इन्द्र और वृत्रासुर का परस्पर बाहुयुद्ध, शस्त्र युद्ध तथा अनेक
प्रकार के मायापूर्ण कपटों के साथ घोर युद्ध होता रहा।

आरभटीवृत्तिरिय गाढवृत्तेरङ्गम् । एता वृत्तयो खलु मुनिना भरतेन
नाट्यस्य मातर कथिता ।

यह आरभटी वृत्ति गौड़ी रीति का अब होती है। आचार्य भरत
मुनि ने इन वृत्तियों को काव्य की माता कहा है।

एतास्तेन च निर्यातं नाट्यं हरति मानसम् ।

काव्यमप्याभिराक्षीर्णं सता नयति रञ्जनम् ॥ १३८ ॥

इन्दी वृत्तियों से निमित्त नाट्यप्रयोग मनोरंजक रहता है तथा

[श्रव्य] काव्य रचना भी इन वृत्तियों से युक्त होने पर सज्जनो का मन आकृष्ट करती है ।

रीतीना विभाग. काव्यमीमांसायां द्रष्टव्य. । इह तु ग्रन्थ-विस्तरभयान्नोदीरितोऽस्माभिः ।

गौड़ी आदि रीतियों के भेदपूर्वक लक्षण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से जानना चाहिए । यहाँ हम विस्तार भय से उन्हें नहीं दे रहे हैं ।

आसां भेदचतुष्टयेष्वेकैकमभिरावृत्तम् ।

प्रयोगे कविभिः कार्यं कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥ १३९ ॥ इति

वृत्तियों के इन चारों भेदों में जो भी भेद इष्ट या अनुरूप हों उन्हें नाटक में विभिन्न समयों में (तथा प्रदेशों में) रखना चाहिए क्योंकि एक ही नाट्यप्रदर्शन में एक साथ सभी भेदों का रखना बड़ा कठिन होगा ।

गुणाः—

एतास्वेव वृत्तिषु नाटकादौ नायकस्याष्टौ महागुणाः प्रदर्श्यन्ते ।

तद्यथाचार्यः—

नायक के (सहज) गुण—नाटक आदि रूपको में स्थित इन्हीं वृत्तियों में नायक के आठ गुणों का प्रदर्शन करना चाहिए । जैसा कि आचार्य भरतमुनि ने इन गुणों को बतलाया है :—

शोभा विलासो माधुर्यं स्वैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।

ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥१४०॥

(ना० शा० २४।३१)

इत्यष्टौ महागुणाः पुरुषाणां ये नायके दर्शयितव्याः ।

पुरुषों के सहज शारीर गुण आठ होते हैं । यथा—(१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) स्वैर्य, (५) गाम्भीर्य, (६) ललित, (७) औदार्य तथा (८) तेज ।

पुरुषों के इन्हीं आठ शारीर गुणों को नायक में दिखलाना इष्ट रहता है ।

तत्र शोभा—

युधि शूरत्वं, कार्यदक्षता, गुणानुरागः, लोके साधुत्वं, सत्यवादिता चेत्येषा समुदयः शोभा । यथा—

सर्व प्रथम शोभा का लक्षण बतलाते हैं :—

शोभा—युद्ध में शूरा अनेक कार्यों को पूरा करने का सामर्थ्य या उनको चतुराई से कर डालने की क्षमता, गुणों के प्रति लगान, सशरित्रता और सत्यवादिता का एकर रहना 'शोभा' कहलाता है।
जैसे —

भूपति शोभते वेपै क्लीबपक्षोऽयमुज्झताम् ।

प्रतापस्तु जगद्व्यापी शोभा पूष्ण इवातप ॥

राजा अपनी वेपभूषा से शोभित होते हैं इस लचर दलील (क्लीब-पक्ष) को अब छोड़ दीजिए। क्योंकि जैसे सूर्य की अपने प्रकाश से वैसे ही राजा की शोभा अपने संसारव्यापी प्रभाव से ही होती है।

विलासः—

धीरदृष्टि, गोवृषभाश्रिता गति, मधुरा वाक्, स्मितपूर्य भाषणं, शुभाकृति, सम्पद्विषदो समता चेत्येषा समुदयो विलासः। स यथा—

विलास—धीर दृष्टि वृषभ के समान सुन्दर बाल, मीठी धाणी, सुसज्जित हुए बातचीत, सुन्दर या सस्वार युक्त स्वरूप तथा सम्पत्ति और विपत्ति में समान भाव से रहना 'विलास' नामक गुण कहलाता है। जैसे —

सुधासोदरवाचस्ते स्मितपूर्वाभिभाषिण ।

को नामार्थी न तुष्ट स्यादल तावद्भागमै ॥

सुसज्जित हुए अमृत के समान मीठे आपके बचन से ही ऐसा कौन याचक है जो सन्तुष्ट नहीं हो जाता फिर आगे धनप्राप्ति की बात क्यों कहें ?

माधुर्यम्—

माधुर्यं विप्रियेऽप्यनुद्वेग । यथा—

अपराधिन्यपि जने साधु साध्वेव वर्तते ।

छेत्तारमपि गन्धेन वासयत्येव चन्दन ॥

माधुर्य—किम्भी के द्वारा मूल या अपराध करने पर भी द्वेष या क्रोध न करना 'माधुर्य' कहलाता है। जैसे :—

मज्जन मनुष्य किम्भी अपराधी या मूल करने वाले पुरुष से भी

सज्जनता का ही व्यवहार करेगा क्योंकि चन्दन का वृक्ष काटने वाले व्यक्ति को भी अपनी सुगन्ध से सुवासित हो करता है ।

स्थैर्यम्—

धैर्यवत् स्थैर्यम् । धर्मार्थकामव्यवसायादचलनम्, अतिजित-
काशित्वं, सदा मानशौर्याभ्यामवस्थानमदीनचेष्टितञ्च । यथा—

स्थैर्य—धीरज रखना, धर्म, अर्थ तथा काम को बिना किसी व्यय-
धान के चलाते रहना, अभिमानो स्वभाव रखना, सम्मान और वीरता
के साथ रहना तथा व्यवहार में दीनता न दिखलाना ‘स्थैर्य’ कहलाता
है । जैसे :—

सम्पत्स्वापत्सु तुल्यात्मा रामो धैर्यकुलाचल ।

विकारैः कैश्च नाक्षिप्तो वेदार्थ इव हेतुभिः ॥

श्रीराम धैर्य के कुलपर्वत हैं जो सम्पत्ति और आपत्ति में समान
रूप से स्थिर रहने हैं । इन पर विकारों का कुछ भी प्रभाव नहीं
पड़ता जैसे वेदों का अर्थ दुष्ट हेतुओं से आक्षिप्त नहीं होता ।

गाम्भीर्यम्—

हर्षशोकभयक्रोधा लब्धावक्राशा अपि यत्र न विकारकारिणो
भवन्ति तद् गाम्भीर्यम् । यथा—

गाम्भीर्य—जब हर्ष, शोक, भय तथा क्रोध के आने पर भी कोई
परिवर्तन न दिखाई दे तो इसे ‘गाम्भीर्य’ समझना चाहिए । जैसे :—

आकर्ण्योपहृता सीतां रावणेन रघुद्वह् ।

न रुरोद न चुक्रोश लक्ष्मण प्रेक्षतादरात् ॥

श्रीराम ने सीता को रावण के द्वारा हर लेने का समाचार
सुनकर न तो रुदन किया न क्रोध ही किया केवल थोड़ा झुक कर
लक्ष्मण की ओर देखने लगे ।

ललितम्—

मधुरा वाग्धेषः शृङ्गारी, चेष्टितं साधु, साधूनां सदा सज्जनवाञ्छा
ललितम् । यथा—

ललित—जब मधुर संभाषण, शृङ्गारी वेषमूपा, सज्जन पुरुष के

समान आचार और सज्जनों की संगति सदा करने की अभिलाषा रखी जाए तो इसे 'ललित' नामक गुण समझना चाहिए । जैसे :—

स तिष्ठति सदा धीमान्छास्त्रचिन्तासुधारसै ।
स्वविम्वैरिव भित्तिस्थै पण्डितै परिवारितः ॥

यह बुद्धिमान् पुरुष शास्त्र के चिन्तन रूपी अमृत का आस्वादन करते हुए भित्तियों पर स्थित दर्पणों में प्रतिबिम्बित अपने जैसे ही पण्डितों से घिरा रहता है ।

औदार्यम्—

‘दानमभ्युपपत्तिश्च सर्वदा प्रियभाषणम् ।
स्वजनेऽन्यजने यत्र न प्रेम कृतकं भवेत् ॥ १४१ ॥
(ना० रा० २४।४०)

तदौदार्यम् । यथा—

औदार्य—सहायता करने तथा दान देने की भावना, सदा प्रिय-भाषण तथा अपने और पराए व्यक्तियों में सदा स्नेह रखना 'औदार्य' नामक गुण होता है । जैसे :—

परास्त्रीयविभागोऽयं मोहः किंश्चात्यपण्डितम् ।
प्रीतिः सर्वत्र धीरस्य ज्योत्स्नेवास्ते सुधानिधे ॥

यह मेरा है और यह अपना नहीं है ऐसी भावना नासमझ को कष्ट देती है । धीर मनुष्य चन्द्र की प्रभा के समान अपनी प्रीति सभी पर (समान) रखता है ।

तेजः—

अधि क्षेपापमानप्रत्यवायदर्शनैः परैरुच्यमानस्यारब्धादनिवर्तन

तेजः । यथा राघवाभ्युदये—

तेज—अपने प्रारम्भ किये हुए कार्य को दूसरों के द्वारा अपमानित किये जाने, दोष बतलाने, धाधा पहुँचाने या डाटने आदि होने पर भी न छोड़ते हुए पूरा कर लेना 'तेज' नामक गुण होता है । जैसे राघवाभ्युदय में श्रीराम की निम्न उक्ति—

राम.—आज्ञास्तु ते त्रिदशनाथ दद्यान्मनस्य
सन्धौ विदेहदुहितुश्च समागमेऽस्मिन् ।

प्रत्याशयान्तिकगतस्य

विभीषणस्य

लङ्का प्रदाय न विना धृतिमेति राम ॥ इति ।

हे देवाधिराज इन्द्र, आपकी चाहे यह आज्ञा ही क्यों न हो और मुझे जिससे रावण के साथ सन्धि और सीता की प्राप्ति ही चाहिए क्यों न हो जाती हो परन्तु राज्यप्राप्ति की आशा से मेरी शरण लेने वाले विभीषण को बिना लंका का राज्य प्रदान किये राम को शान्ति नहीं मिलेगी ।

पञ्चाभिनया भवन्ति । यथा—वाक्यं, सूत्रा, अङ्कुर, शाखा, निवृत्यङ्कुरश्चेति ।

१(पञ्चाङ्ग) अभिनय—नाटकीय तथ्यों को प्रकट करने के लिए अभिनय को पाँच विधाओं का प्रयोग किया जाता है । ये पञ्चाङ्ग अभिनय कहलाते हैं । इनके नाम हैं—(१) वाक्याभिनय, (२) सूत्राभिनय, (३) अङ्कुराभिनय, (४) शाखाभिनय तथा (५) निवृत्यङ्कुराभिनय ।

वाक्याभिनयः—

तत्र नायकस्य यद्युद्धप्रहारादिवर्णना स वाक्याभिनयः ।

वाक्याभिनय—जब नायक के युद्ध, प्रहार आदि का वर्णन किया जाए तो उसे ‘वाक्याभिनय’ समझना चाहिए । जैसे :—

यथा—

इय श्रीर्यत्कृते सिन्धुं मथ्यतोऽभूदुरस्तव ।

मन्दरोपान्तसङ्घर्षनुद्यत्त्वकालदन्तुरम् ॥’

१ वाक्य, सूत्रा आदि अभिनय के पाँच प्रभेदों को भरतमुनि ने शारीराभिनय माना है । इनमें उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त ‘नाट्यायित’ नामक छठा और भेद होता है । सागरनन्दी ने इन प्रकारों को पञ्चाङ्गाभिनय माना है जिनका उल्लेख कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में भी प्राप्त होता है । सागरनन्दी का यह विवरण प्राचीन आचार्यों से भिन्न है । भरत आदि के अनुसार इन शारीराभिनय का स्वरूप इस प्रकार होगा—(१) वाक्य—गीत या उसका मूल स्वरूप । (२) सूत्रा—गाय जाने वाले गीत की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए तदनुसृत चेष्टाओं का आचरण । (३) अङ्कुर—अभिव्यक्ति का प्रस्तुटाकरण । (४) शाखा—शरीर के हस्त, पाद, मुख आदि अवयवों के द्वारा भावों का स्पष्ट प्रकीर्ण तथा (५) निवृत्यङ्कुर—दो अभिनेताओं के पारस्परिक संवाद में होने वाले घन प्रतिघातों से पारस्परिक प्रतिक्रिया का सकेत मिलना ।

यही वह लक्ष्मी है जिसके लिए मागरमन्थन करने पर मन्दरा-
चल की बाजुओं की रगड़ से तुम्हारा वस्त्र स्थल काला और ऊँचा-
नीचा हो गया था ।

सूत्राभिनयः—

पूर्वमंघ्रचितानर्थान् प्रतिपादयितुं पुनः ।

प्रयुज्यते हि यद् गम्यं सा सूत्रा कथ्यते पुनः ॥ १४२ ॥

सूत्राभिनय—एक बार सूचित अर्थ या तथ्य को फिर से बतलाने
के लिये जब वाक्य का प्रयोग किया जाए तो उसे 'सूत्राभिनय' ममकता चाहिए ।

यथा—

दृष्टुं तामुत्सुकं चक्षुः श्रवणं श्रोतुञ्च तद्विर ।

चेतश्चिरोपित नस्त्वां प्रसुरस्मि न चाल्मन ॥

जैसे—

मेरी आँखें उसे देखने को लालाषित हैं, मेरे कान उसी की धाणी
सुनने को उत्सुक हैं, मेरा मन चिरकाल से इसी में रम गया है और
मैं अब अपने बस का नहीं रहा हूँ ।

अङ्कुराभिनयः—

नान्यैरन्यापदिष्टैर्यत् कथ्यते हृदयस्थितम् ।

यथाप्रदर्शनायोग्यं सोऽङ्कुराभिनयः स्मृतः ॥ १४३ ॥

अङ्कुराभिनय—यदि दूसरों के कथन को उद्धृत करते हुए छिपी हुई
मन की बात का दर्शाया जाए तो उसे 'अङ्कुराभिनय' ममकता चाहिए ।

यथा—दद्याधरेव धुन्वाना पाणिपद्मवपल्वलम् ।

सभृङ्गारापमीत्कारा शुग्ध्यने मरुता लता ॥

अधर के दशन से वृषित होने जैसी, नरपल्लवरूपी हाथों को
भटके देने जैसी और मृद्गों की गुनार को मीत्कार करने जैसी प्रकट
करते हुए यह लता वायु के द्वारा चुम्बन की जा रही है ।

शारसाभिनयः—

हस्तपादमभृतिभिः शारसाभिनयः । यथा—

पादास्फालस्नलद्भूमिं वेष्टदोर्गहिरुद्धदिक् ।

जटाक्षिप्तद्यु व पायाच्छम्भोस्ताण्डवदम्बरम् ॥

नाम्नाभिनय—हाथ-पैर आदि की चाल या चेष्टाओं में होने वाला कार्य ‘शान्वाभिनय’ कहलाता है। जैसे :—

भगवान् शिवजी का यह ताण्डव नृत्य आपकी रक्षा करे जिसमें पैरों के दबाव के कारण नभ पर पृथ्वी गिरकर रही है, भुजाओं के फैलाव के कारण दिशार्थ अवरुद्ध हो गयी है तथा जटाओं के उड़लने से आकाश बिखरा भा दिग्वार्त हो रहा है।

यथा ना—

ऊर्वाय प्रेरितैकैकपादस्फारीभवत्तनुम् ।

वन्दे त्रिविक्रमाक्रान्तमूर्मुवम्बन्नयं हरिम् ॥

तथा—

अरुनी तीन डगों में भू, नुब और स्वर्गलोक को लांघने के अरुनर पर अपने एक एक पैरों का ऊपर नीचे की ओर फैलाने के कारण जिन्हें अपने गरीर को फैलाना पड़ रहा है उन श्री भगवान् विष्णु को मेरा प्रणाम।

निवृत्यङ्कुरः—

यत्रान्येन प्रयुक्तन्तु कगेन्यन्यश्च कश्चन ।

पूर्वानुभूतमंवाटं न निवृत्यङ्कुरो भवेत् ॥ १४४ ॥

(ना० शा० २४।५०)

निवृत्यङ्कुर—अभ्यासवशात् एक पात्र के द्वारा किये हुए अभिनय या नाय का इसी प्रकार दूसरे पात्र के द्वारा अनुकरणात्मक आवर्तन [या दोहराया जाना] ‘निवृत्यङ्कुर’ ममकत्वा चाटिम्। जैसे :—

यथा—

उद्यन्मन्जरीकोटी तर्जन्या कुपितेव सा ।

एता मा तर्जयत्येषा स्फुरिताघरपल्लवा ॥ इति ।

यद लता अपने फटकने हुए पल्लवरूपी अघरों तथा मञ्जरीरूपी नेत्रों को तर्जनी के रूप में दिखला कर कुपित मानिनी स्त्री के समान मुझे धनका रही है।

लक्षणाणि—

अथ लक्षणाणि व्याख्याम्यामः । तत्र पटुत्रिराङ्गोपेतं नाटकं

नाट्यसिद्धिमधिरोहति यथा लक्षणैरुपेतो राजा राज्यश्रियमिव । तच्च
यथा—

लक्षण—अब हम लक्षणों को बतलाएंगे। क्योंकि कहा भी है कि राज्य चिह्नों के धारण करने पर राजा के समान ही लक्षणों से युक्त नाटक की पूर्णता या सिद्धि मानी जाती है। जैसा कि निम्न कथन से स्पष्ट है —

लक्षणैर्बहुविशेषहेतुभिः नाटकं व्रजति नाट्यसम्पदम् ।

मद्वुणैरिव शुभानुरन्धिभिश्चक्रवर्तिपदवीं महीपतिः ॥१४५॥

अनेक विशेषताओं के आपादक लक्षणों से नाटक उसी प्रकार श्रेष्ठता प्राप्त कर शोभित होता है जैसे कन्याणसूचक चिह्नों और उनमें गुणों के धारण करने से राजा चक्रवर्ती पद प्राप्त करे।

तान्यमूनि लक्षणानि नामत एवाह भरताचार्यः । यथा—

‘भूषणाक्षरसङ्घातां शोभोदाहरणे तथा ।

‘हेतुमंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥ १४६ ॥

प्राप्तिरप्यभिप्रायश्च निदर्शनं निरुक्तम् ।

सिद्धिर्विशेषणश्चैव गुणातिपातातिशयो ॥ १४७ ॥

दिष्टं तथोपदिष्टश्च विचारोऽथ विपर्ययः ।

भ्रंशश्चातुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥ १४८ ॥

अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ।

मनोरथश्च लेशश्च सङ्क्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १४९ ॥

ज्ञेया ह्यनुक्तमिद्विश्च प्रियं वचनमेव च ।

[षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यग्रन्थेषु निर्दिशेत् ॥१५०॥]

(ना० शा० १७।१५)

१ नाट्यशास्त्रं तु अत्र भिन्नपाठकम् परित्यज्यते । तत्र हि—‘हनुमन्-परिचयः’ इति नाम्ना प्राप्ताभिप्राय एव च । निदर्शनं निरुक्तञ्च सिद्धिर्वाच्य विशेषणम् । गुणातिपातातिशयो शयी तुल्यतर्कः पदोच्चयः । दिष्टं चैकोपदिष्टश्च विचारस्तद्विपर्ययः ।’ इति—‘मनोरथश्च लेशश्च सङ्क्षेपो गुणकीर्तनम् ।’ इति च पाठः समुपलभ्यते । (सम्रा०)

आचार्य भरत ने इन लक्षणों के नाम इस प्रकार बतलाए हैं।
 यथा—(१) भूषण, (२) अक्षरसघात, (३) शोभा, (४) लदाहरण,
 (५) हेतु, (६) सराय, (७) दृष्टान्त, (८) तुल्यतर्क, (९) पदोच्चय,
 (१०) प्राप्ति, (११) अभिप्राय, (१२) निदर्शन, (१३) निरुक्त,
 (१४) मिद्धि, (१५) प्रिणेषण, (१६) गुणातिपात, (१७) अतिशय,
 (१८) दिष्ट, (१९) उपदिष्ट, (२०) पिचार, (२१) विपर्यय (२२)
 भ्रश, (२३) अनुनय, (२४) माला, (२५) दाक्षिण्य, (२६) गर्हण,
 (२७) अर्यापत्ति (२८) प्रमिद्धि, (२९) प्रच्छा, (३०) साम्य,
 (३१) मनोरथ, (३२) लेश, (३३) मत्तैष, (३४) गुणकीर्तन,
 (३५) अनुत्तमिद्धि तथा (३६) प्रियोक्ति (प्रियवचन)।

भूषणम्—तत्र भूषणम्। आह कार्यायनः—‘सौन्दर्य-
 मलङ्कारः।’ शब्दार्थयो सुन्दरत्व नाम अलङ्कार शोभाकरो धर्म इत्यर्थः।

यथाह—

भूषण—अब भूषण का स्वरूप बतलाते हैं। जैसा कि कार्यायन
 ने कहा है—अलङ्कार या भूषण सौन्दर्य को कहा जाता है। अर्थात्
 शब्द और अर्थ का सुन्दर रहना भूषण (या अलङ्कार) समझना
 चाहिए। यही इनका शोभाग्रयक धर्म कहलाता है। जैसा कि आचार्य
 दण्डी ने कहा भी है —

‘काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

ते चाद्यापि विरूपन्ते कस्तान् क्रास्तेन वक्ष्यति ॥’ इति।

(काव्यादर्श २।१)

काव्य की शोभा के आधायक धर्मों को अलङ्कार कहा जाता है।
 इनके स्वरूप तथा भेदप्रभेदों के विषय में आज भी विविध रूप में
 ऊनापोह चलता रहता है अतएव इनका सामर्थ्येण स्वरूप कौन
 बतला सकता है ?

(ते च) स्वभावाग्यानोपमादयश्चतुर्भिः शब्दलङ्काराः । ये च
 शब्दस्य चार्थस्य च दश गुणा कीर्तिना । यथा—

१ कार्यायन का उल्लेख अलङ्कारशास्त्र के आचार्य के रूप में प्राप्त
 नहीं होता परन्तु उपर्युक्त उद्धरण वामन के काव्यालङ्कार सूत्र का है निमम
 स्पष्ट है कि कार्यायनगोत्र वामन का रहा होगा। आचार्यों की गोत्र के द्वारा
 सूचना सम्भृतमाहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है जैसे पतञ्जलि को
 गोत्रदीप्य, लोहट को अपराजिति आदि।

इन्मे स्वभावोक्ति (अथवा स्वभावाख्यान) उपमा आदि चौंतीस अलङ्कार हैं । शब्द और अर्थ के त्रस गुण बतलाए गए हैं । ये इस प्रकार हैं —

‘श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिस्फुटारत्वमोज कान्तिसमाधि ॥’ (का० दर्श १।४१)

(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) माधुर्य, (५) सुकुमारता, (६) अर्थव्यक्ति (७) स्फुटारता, (८) ओज, (९) कान्ति तथा (१०) समाधि ।

तत्र श्लेषोऽस्पष्टशैथिल्यम् । शिथिलमल्पप्राणाक्षरयोग । प्रसादः प्रसिद्धार्थ प्रसादवत् । समता चतुष्पधा समानार्णविन्यासजन्मा बन्ध । माधुर्यं वाग् वस्तुनो रसपदग्राभ्यत्व सानुप्रासत्वम् । सुकुमारता स्निग्धराक्षरमायम् । अर्थव्यक्तिनेयार्थत्वम् । उदारतां यदुक्तौ गुणोत्कर्ष । ओजश्च—‘ओज समासमूयस्त्व तद्धि गद्यस्य जीवितम् । यद्यप्याख्यायिनास्वेव दाक्षिणात्या प्रयुज्यते ।’ (का० दर्श १।८०) इत्युक्तलक्षणम् । कान्तिलक्षिकार्थाविरोधेन वर्णना । समाधिः अन्यधर्मस्यान्यत्र सम्यगारोपणम् ।

इन्मे ‘श्लेष’ उस कल्पते हैं नहीं रचना में शिथिलता का स्पर्श न होता हो । शिथिलता कहते हैं अल्प प्राण अक्षरों का रहना । सुप्रसिद्ध अर्थ को सरलता में प्रकट कर देना ‘प्रसाद’ गुण समझना चाहिए [अथवा अर्थ को सरलता में पूर्ण रखना प्रसाद समझना चाहिए ।] पण ये चारों पाठों में समान रचना शैली के द्वारा एकलपता रखता ‘समता’ समझना चाहिए । विषयवस्तु ग्राभ्यत्प्रदोष से रहित तथा अनुप्रास से युक्त शब्दरचना का भरम एवं निगमन हुआ स्वरूप ‘माधुर्य’ कहलाता है । कठोर पदावली को बचाते हुए शब्दों का प्रयोग करना ‘सुकुमारता’ समझना चाहिए । नेयार्थत्व दोष से रहित [निमग्न किसी अर्थ की ऊपर से कल्पना न करनी पड़े] गुण ‘अर्थव्यक्ति’ कहलाता है । उक्ति या पदरचना में गुणा का प्रतिक उर्ध्व या निस्तार होना ‘उदारता’ कहलाता है । रचना में लम्बे समासों का प्रयोग करना ‘ओज’ कहलाता है । यद् गद्यरचना का प्राण माना जाता है तथा दाक्षिणात्या तत्पर इसका प्रयोग आद्यायिना में किया करते हैं । यथार्थ या लौकिक वर्णनों का यथातथ्य प्रस्तुत

करना ‘नान्ति’ समझना चाहिए। एक वस्तु के धर्म (गुण या स्वरूप) को दूसरे में आरोपित करना ‘समाधि’ समझना चाहिए।

तत्र भूषणम्—

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम् ।

भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ॥ १५१ ॥

(ना० शा० १७।५)

भूषण—अतएव चिन अलङ्कारों और गुणों को हमने पहिले बतलाया था उन्हीं अलङ्कारों [उपमा आदि] तथा गुणों [श्लेष, प्रसाद आदि] से युक्त अर्थ को ‘भूषण’ समझना चाहिए। यह शरीर को गहनों से सजाने पर होने वाली शोभा के समान अर्थ की विशेष शोभा बढ़ाता है।

अत्रोदाह्रियते—

आक्षिपत्यरविन्दानि मुग्धे तत्र मुस्तम्रियम् ।

कोशदण्डसमग्राणा किमेवामस्ति दुष्करम् ॥ (काव्या० २।३६१)

उदाहरण—हे मुग्धे, यह कमल तुम्हारे मुख की शोभा का तिरस्कार कर रहा है क्योंकि त्रिन्नके पास कोश (कलियों, निधि) तथा दण्ड (नाल, दण्डसामर्थ्य) हों उनके लिए कौन कार्य अशक्य हो सकता है।

एवंविधं भूषणोदाहरणम् ।

भूषण के इसी प्रकार उदाहरण है।

अक्षरसङ्घातः—

यत्राक्षरैः श्लेषैर्द्वयार्थवाचिमिरर्थः कश्चिदुपवर्ण्यते सोऽक्षरसङ्घातः ।

यथा—

अक्षरसङ्घात—जब किसी अर्थ को श्लेष युक्त वर्णों द्वारा बतलाया जाए तो उसे ‘अक्षरसङ्घात’ समझना चाहिए। जैसा कि कहा भी है:—

यत्रार्थं त्वत्सरैः श्लेषैश्चित्रार्थैरुपवर्ण्यते ।

तमप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणलक्षितम् ॥ १५२ ॥

(ना० शा० १७।६)

जब कोई विषय विचित्र अर्थों वाले श्लेष अक्षरों के द्वारा बतलाया जाता है तो उसे भी ‘अक्षरसङ्घात’ समझना चाहिए।

यथा—गौरीकान्ता तवाप्यस्ति तवाप्यस्ति धृषे गति. ।

कामं दातासि महत् स्थाने हरसि सद्गुणैः ॥

उदाहरण —

तुम्हारी पत्नी भी गौरी (गौर वर्णवाली, पार्वती जी) है, तुम्हारी भी धृष (धर्म, वृषभ) मे निष्ठा या स्नेह है, उत्सव के समय तुम भी काम [इच्छाओं के, कामदेव के] के दाता [देने वाले, लौटाने वाले] हैं अतएव अपने इन्हीं गुणों के कारण आप हमारे लिए हर [आकर्षण के स्थान, शिवजी] हो रहे हैं ।

शोभा—

सिद्धैरर्थैः समं यत्र त्वसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ।

क्षिप्वा श्रृङ्गणा विचित्रार्था या सा शोभाऽभिधीयते ॥१५३॥

(ना० आ० १७।७)

शोभा—जब किसी अज्ञात अर्थ को ज्ञाततत्त्वों या अर्थों के द्वारा बतलाया जाता है तो इस प्रकार की श्लेष, लोच और विचित्रतापूर्ण रचना को 'शोभा' कहा जाता है ।

यथा—कामं जनयिता कृष्णो मालाभरणमाश्रित ।

हरिषद् यायते तद्धि धम्मिलस्तवकैरयम् ॥

उदाहरण—काम को उत्पन्न करने वाला, कालाकल्टा यह अँघेरा आज [बनफूल की] मालाओं के आभरण से युक्त होने के कारण श्रीहरि [श्रीकृष्ण जी] के समान हो रहा है जो काम [प्रद्युम्न] के पिता तथा दनमाला को धारण कर श्री रुक्मिणी जी [लक्ष्मी जी] को प्राप्त करने के लिये युद्ध करने को जा रहे हैं और जो काले केशों के गुच्छों से अलङ्कृत हैं ।

[संकेत—श्रीकृष्णजी के यक्ष में अर्थ करने समय सन्धि रिच्छेद इस प्रकार होगा—

मा-लाम-रणम्-आश्रित अर्थान् मा = लक्ष्मी के, लाम = प्राप्ति के लिए; रणम् आश्रित = युद्ध करने के लिए वश होने वाला]

उदाहरणम्—

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।

माध्यतेऽभिमतवार्थस्तदुदाहरण

यथा ॥ १५४ ॥

(ना० शा० १७।९)

उदाहरण—जब किसी अभिमत या इष्ट अर्थ का समानता प्रदर्शक वाक्यों के द्वारा समर्थन करते हुए प्रस्तुतीकरण हो तो उसे ‘उदाहरण’ समझना चाहिए । जैसे —

यथा—अनुयान्त्या ज्ञातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।

का दिनश्रीर्विनाऽर्केण का निशा शशिना विना ॥

अपने लोकोत्तरगुणशाली स्वामी का अनुसरण कर तुमने उचित ही किया है क्योंकि सूर्य के बिना दिन की क्या शोभा और चन्द्र से हीन रात्रि की ही क्या शोभा हो सकती है ।

हेतु —

‘यः प्रयोजन सामर्थ्याद्विशिष्टार्थप्रकाशकः ।

नमासोक्तौ मनोग्राही स हेतु कथितो यथा ॥ १५५ ॥

(ना० शा० १७।१०)

हेतु—जब किसी अर्थ को किसी उद्देश्य की सिद्धि का ध्यान में रखते हुए संक्षेप में, आकर्षक रूप में तथा युक्ति पुरस्सर प्रस्तुत किया जाए तो उसे ‘हेतु’ समझना चाहिए ।

यथा—यदि हस गता न ते नत्तम् .

सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।

मदसेलपदं कथं नु तस्या .

सफलं चौरगत त्वया गृहीतम् ॥

(विक्र० ४।३२)

उदाहरण—अरे हँस, यदि तूने मेरी चोरी चितवनवाली प्रिया को नदी के सट पर नहीं देखा तो बता रे चोर, तूने उसकी मद से इठला कर चलने वाली यह सुन्दर चाल कहीं से प्राप्त कर ली ?

१. यद् प्रयोजनमिति समासोक्तमिति च नाश्वशास्त्रपम्पन पाठः ।

संशय.

अविज्ञातस्य तत्त्वार्थवाक्यस्य सन्निचारतः ।

क्रियते यत् समापनं संशय सम्मतो यथा ॥ १५६ ॥

मंशय—किसी अज्ञात तत्व वा अपूर्ण बात की विचारपूर्वक या निश्चयपूर्वक समाप्ति [न] कर दी जाए तो उसे 'संशय' समझना चाहिए ।

यथा गौरीगृहे जीमूतवाहन — 'स्वर्गस्ती यदि तत् कृतार्थमभवत्'
(नागा० १।१६) इत्यादि ।

जैसे—गौरीगृह नामक अङ्क में जीमूतवाहन—'यदि यह कोई दिव्य अगना है तो' [नागा० अङ्क १।१६] इत्यादि ।

दृष्टान्त —

सर्वस्य यन्मनोहारि पक्षसाधनहेतुना ।

निदर्शनं यत् क्रियते दृष्टान्त स उदाहृतः ॥ १५७ ॥

(ना० शा० १७।१२)

दृष्टान्त—यदि सभी के मनोनुकूल पक्ष को उदाहरण तथा कारण के साथ प्रस्तुत किया जाए तो इसे 'दृष्टान्त' समझना चाहिए ।

यथा वेणीसंहारे—

भीम —यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा । (वे० स० अं १) इति ।

यथा वा—

काष्ठ तन्तु फलं वीणा सा वदेदप्यचेतना ।

त्वं स्मिन्निश्वापलैर्मे न किञ्चिद्वदसि प्रिये ॥

जैसे वेणीमहार में

भीम—क्योंकि वह दुर्योधन की पत्नी जो ठन्री ।

तथा—

प्रिये, यदि लरड़ी, तात, फल या बीन जड़ होने पर भी जब कुछ कह देते हैं तो तुम चेतन और गतिशील होकर भी कुछ फयो नहीं बोलती ?

प्राप्तिः—

दृष्ट्वावयवं किञ्चिद्भावं यत्रानुमीयते ।

प्राप्तिं नाम विजानीयालक्षणं तद्यथोच्यते ॥ १५८ ॥

(ना० शा० १७।३३)

प्राप्ति—किसी [पदार्थ के] एक अंश को देखकर शेष भाग को अनुमान से समझ लेना ‘प्राप्ति’ कहलाता है । जैसे —

यथा—आक्षिपन्तीव चपलैर्द्रुमा पल्लवपाणिमि ।

मधुरैरन्यपुष्टाना व्याहरन्तीव च स्वनै ॥

ये वृक्ष अपने पल्लवरूपी चञ्चल हाथों को उठाकर मानो आक्षेप कर रहे हैं तथा कोकिलाओं की मधुर ध्वनि के द्वारा अपनी बात कह रहे हैं ।

अभिप्रायः—

अभूतपूर्वो यो हार्थः सादृश्यात् परिकल्पितः ।

लोकस्य हृदयग्राही सो अभिप्राय इति स्मृतः ॥ १५९ ॥

अभिप्राय—जब समानता बतलाते हुए किसी अपूर्व वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि उसे मभी समझ लें तो उसे ‘अभिप्राय’ समझना चाहिए । जैसे —

यथा—वापी सृज सुधारिण तल्लक्ष्मोत्पलकाननम् ।

स्नातस्तत्र विमोक्ष्यामि तापं किं मे जलाद्रया ॥

यदि चन्द्र की किरणों की वापी और उसके कलक को वापी में मिलने वाले नील कमलों में रखा जाए तो ऐसी वापिका में स्नान करने पर ही मेरा सताप दूर हो सकता है, इन जल से भिगोए पत्तों को मलने से कुछ न होगा ।

निर्दर्शनम्—

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।

परापेक्षान्युदासार्थं तन्निरदर्शनमुच्यते ॥ १६० ॥

(ना० शा० १७।१३)

निदर्शन—जब दूसरों के आक्षेप को हटाने के लिए प्रसिद्ध घटना या अर्थों का उल्लेख किया जाए तो उसे 'निदर्शन' समझना चाहिए।

यथा—क्षत्रधर्मोचितैर्धर्मैस्तु शत्रुवधे बुधाः ।

किं न बालिनि रामेण मुक्तो बाण पराङ्मुखे ॥

जैसे :—

विद्वज्जन, शत्रुओं के नाश के लिए क्षत्रियोचित धर्मों का मिथ्यान्ततः पालन आवश्यक नहीं है। क्या श्रीरामचन्द्रजी ने छिप कर बाण से बाली को नहीं मारा।

निरुक्तम्—

निरवयस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।

पदस्य वा तथाभूतं निरुक्तमिति निर्दिशेत् ॥ १६१ ॥

(ना० रा० १७/१४)

निरुक्त—अपने उद्दिष्ट अर्थ को सिद्ध करने के लिये किसी शब्द या वाक्य का व्युत्पत्ति प्रदर्शनपूषक प्रयोग करना 'निरुक्त' समझना चाहिए। जैसे :—

पदे यथा—

क्षत्रिय सम्मतो राजन् यो वै त्राणकरः सताम् ।

क्षतात् त्रायत इत्येष क्षत्रियो हि निरुच्यते ॥

पद का उदाहरण :—

हे राजन्, जो सम्मतों का रक्षक हो उसे ही क्षत्रिय कहा जाता है क्योंकि क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति है कि जो क्षत से रक्षा करे वही 'क्षत्रिय'।

यथा (वा)

याति लघवमयीति मिथ्या व्याचक्षिरे बुधाः ।

सममर्थेन लब्धेन यात्यसौ गौरव त्वपि ॥

तथा (वाक्य का उदाहरण)—

जो याचना करे वह छोटा हो जाता है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि माँगने पर जब इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाए तो फिर उसे गौरव भी मिल ही जाता है।

सिद्धि.—

यहूनां तु प्रधानानां नाम यत्रानुवर्ण्यते ।

अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं सा सिद्धिरिति गीयते ॥ १६२ ॥

(ना० शा० १७।१८)

सिद्धि—जहां अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक प्रसिद्ध नामों का आख्यान किया जाए तो उसे ‘सिद्धि’ समझना चाहिए । जैसे —

यथा—यत्स्थैर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रम ।

पृथिव्या रक्षणे राजनेकत्र त्वयि तत्स्थितम् ॥

हे राजन्, कूर्मराज की स्थिरता और शेषनाग का जो पराक्रम है ये दोनों ही पृथ्वी की रक्षा करने के कारण आप में एक साथ समाविष्ट हो गए हैं ।

विशेषणम्—

सिद्धान् यहून् प्रधानार्थानुक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।

विशेषणं वचनं ज्ञेयं तद्धि विशेषणम् ॥ १६३ ॥

(ना० शा० १७।१६)

विशेषण—यदि अनेक प्रसिद्ध एवं साधारण अर्थों को मतलाते हुए वाद में (किसी की) विशेषताओं को दर्शाया जाए तो उसे ‘विशेषण’ समझना चाहिए । जैसे :—

यथा—तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रिय ।

हृद पद्माकर किन्तु बुधस्त्व स जहाशय ॥

यह तालाब अपने तृष्णापहारी [तृष्णा को दूर करने, इच्छा के पूरक] द्विजों के आवासस्थल । पक्षियों के या ब्राह्मणों के विश्राम-स्थल] तथा पद्माकर [कमलों के या पद्माया = लक्ष्मी के स्थान] होने रूपी गुणों में आपकी समानता चाहे कर लेता हो किन्तु फिर भी दोनों में यही अन्तर है कि तुम बुध [देवस्वरूप, ज्ञानी] हो और यह जहाशय [जलाशय, मूर्ख] है ।

गुणातिपात —

गुणाभिधानैर्विधिर्विपरीतार्थयोजितैः ।

गुणातिपात स बुधैर्निष्ठुरालापकृद् भवेत् ॥ १६४ ॥

(ना० शा० १७।१७)

यथा जानकीराघवे पण्डिते—राम

जातस्य द्रुहिणान्वयादधिगतज्ञेयस्य लोकत्रयी—
त्रासोत्पादि वपुर्धस्य भवत कोऽयं दशास्योचितः ।
दूरस्थे मयि लक्ष्मणे प्रचलिते कुत्रापि शून्ये वने
वैदेहीहरणे प्ररूढकपट-प्रौढक्रमो विक्रमः ॥

गुणातिपात—जब निन्दुर शब्दों में विपरीत पदावली के द्वारा अनेक गुणों का उल्लेख किया जाए तो उसे 'गुणातिपात' कहा जाता है। जैसे जानकीराघव के पण्डित में—श्रीराम—हे रावण, तुमने मर्यादा के कुल में उत्पन्न होकर, सभी शास्त्रों का विधियत् ज्ञान प्राप्त कर तथा तीनों लोकों को अपनी शक्ति से कम्पित करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मेरी अनुपस्थिति में तथा लक्ष्मण के दूर वन में चले जाने पर अकेली सीता का हरण कर अपने कौन विशिष्ट पराक्रम को बतलाया।

यथा वा—

रागैकामिजनोऽधर कचभर कृष्णो विलोमाळिक
वाचो नार्जवभूमयः कुचयुग स्तब्धं दुराढ्यादपि ।
एभिर्दुष्टतरैर्वृतासि यदि तत् को विस्मय कल्पतां
युक्तस्तेऽनपराधकारिणि मयि क्रूरोऽपहेलक्रमः ॥

अथवा—

हे सुन्दरि, तुम्हारे अधर राग के [रंग या नेह के] उत्पादक [स्रष्टा, चद्रमरूप] हैं, तुम्हारे केश काने घने घुघराते [कुदिल] और बिखरे हुए हैं। तुम्हारी वाणी सदा वक्रता से युक्त [ठेढ़] रहती है और तुम्हारे बरोज किसी कृपण धनाढ्य के समान बड़े बठार हैं। ये सभी दुष्ट तुम्हें घेरे रहते हैं अतएव दुष्टसगति के प्रभाव के कारण तुम निर्दयता से बिना किसी अपराध के भी दण्ड देने के लिए उपेक्षित समझ कर मुझ पर ध्यान न दो तो इसमें क्या आश्चर्य है।

अतिशय —

वदन् गुणान्निन्तयित्वा सामान्यजनसम्भवाम् ।

विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधः ॥१६५॥

(ना० शा० १७।२०)

अतिशय—जब साधारण मनुष्यों में विद्यमान रहनेवाले गुणों से

समानता बतला कर किसी एक विशेष या असाधारण गुण को बतलाया जाए तो वह ‘अतिशय’ कहलाता है । जैसे —

यथा—हरन्तु हृदय नाम लीला काम मृगीदृशाम् ।

त्रासोत्कम्पकृतस्त्वेक कोऽप्याश्लेषमहोत्सवः ॥

मृग के समान नेत्रों वाली सुन्दरियों की सभी चेष्टाएँ चाहे मन को हरण कर लेती हों पर उस सुन्दरी का भय से कापने हुए एक आलिंगन मात्र से तो अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

यथा च—

तामुद्दिश्य मृगीदृश तरुणिमस्फूर्जन्मनोज्ञाकृतिम्
जात्यैव तरणे जनेऽद्य विविधावस्थान्तर यास्यति ।
दत्तेर्ष्याभ्युदयो रते स जनिताधैर्य सहाये मधौ
स्वस्मिन्नेव शर पतिष्यति निज शङ्के मनोजन्मनः ॥ इति

अथवा और भी—

नयवीचन के कारण सुन्दरतम आकृति को धारण कर लेनेवाली तम मृगानयनी (बाला) को देखकर आनन्द युवकों के मन में अनेक दशाएँ उत्पन्न होंगी । उसे देखकर कामदेव अपना पत्नी रति से दाह करने लगेगा और अपने मित्र वसन्त की सहायता को न लेकर अवीरतावश अपने बाणों में हृदय स्वयं को ही बनाते हुए बाण चला देगा ऐसी मुझे सम्प्रति आशंका हो रही है ।

तुल्यतर्क —

रूपवैरूपमामिश्र ह्यप्रत्यक्षस्य वस्तुतः ।

तुल्यार्थत्वेन संस्पर्शस्तुल्यतर्कः प्रदर्शितः ॥ १६६ ॥

(ना० शा० १७।१९)

तुल्यतर्क—किसी अप्रत्यक्ष वस्तु की तुल्यता प्रदर्शन के लिए जब उपमा या रूपक का सहारा लेकर वर्णन किया जाए तो उसे ‘तुल्यतर्क’ सम्मन्ना चाहिए । जैसे —

यथा—

विटपसुकुमारनाहु पल्लवपाणिस्तनुत्वमापना ।

कुसुमस्थित दधाना कान्तेवाभाति मे वल्ली ॥

यह लता अपनी टहनीरूपी बाहुओं, पल्लवरूपी हाथों और पुष्पों जैसी मुसकान को धारण करने के कारण मेरी प्रिया के समान लग रही है।

पदोच्चय —

बहुनान्तु प्रयुक्तानां पदानां बहुभिः पदैः ।

उच्चयः सदृशार्थो यः स निज्ञेयः पदोच्चयः ॥ १६७ ॥

(ना० शा० १७।२२)

पदोच्चय—जब अनेक पदों के द्वारा अनेक विषयों या वस्तुओं की समानता बतलाते हुए प्रयोग किया जाए तो उसे 'पदोच्चय' समझना चाहिए।

यथा चैत्रावली नामक अङ्क —

कुसुमसुवृण्मरुतिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।

आभाति मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥

जैसे चैत्रावली नामक अङ्क में।

राजा—इसका शरीर फूलों जैसा कोमल है और इसका कटिप्रदेश अत्यन्त पतला है। इसलिए यह सुन्दरी कामदेव की एक कोख में रखी हुई चापयष्टि के समान प्रतीत हो रही है।

यथा वा—

जह्वाक्ताण्डोरुदण्डं निजनसरशित्वाकेमरं प्रान्तमज्ज

नीलाब्जश्रेणि भृङ्ग बलिविजयसर मोत्थित दैत्यशत्रो ।

पायाद्वा पादपद्म यदुपरि विधिना न्यस्तमर्घ्याय गार्ह

तोय मध्वेव चैतत्स्वलदलिविवरआभ्यदुष्णाशुविम्बम् ॥

तथा—

दानवों के शत्रु भगवान् श्रीविष्णु का बलि ने निजयरूपी मरोवर से निबला हुआ वह चरणमल थापनी रक्षा करे जिसकी जघा दण्डवत् (सीधी) ऊपर टो रनी है, जिसकी नयकिरणों का शित्वाकेशी चेमर से अग्रभाग व्याप्त हो रहा है और जिसका नीलमल जैसा प्रान्तभाग भृङ्ग के समान प्रतीत हो रहा है, जिस पर श्री मल्लिकार्जुन द्वारा अर्घ्य के लिये चढ़ाया हुआ गगाजल मधु जैसा है और जघ वही श्वर-उग्र घूमता है सो समस्त मण्डपनी छिद्रों में घूमने वाले सौरा मा सूर्य विम्ब विसरता हुआ दिगार्द दे रहा है।

दिष्टम्—

यथादेशं यथाकालं यथारूपञ्च वर्ण्यते ।

प्रत्यक्षञ्च परोक्षञ्च तदिष्टमिति कीर्तितम् ॥ १६८ ॥

(ना० शा० १७।२१)

यथा सुग्रीवाङ्के—‘मध्येतल्प सरलितमुजस्तम्भम्’ इत्यादि ।

दिष्ट—जब किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु का अपने देश, काल और स्वरूप के अनुसार सही वर्णन किया जाए तो उसे ‘दिष्ट’ समझना चाहिए। जैसे सुग्रीवाङ्क में—‘बिछौने के बीच अपनी भुजाओं को सीधी या घुमाती हुई’ इत्यादि ।

यथा च—

दिक्षु दिक्षु मसीश्यामा ग्रीष्मच्छेदे पयोधरा ।

उत्तन्धुर्मथिलीमर्तुर्नलोद्धूमपल्लवा ॥

तथा—ग्रीष्मऋतु के अन्तिम भाग में प्रत्येक दिशा में स्याही जैसे काले बादल उठने लगे जो सीतापति श्रीराम को आग से उठे हुए धुएँ जैसे लग रहे थे ।

उपदिष्टम्—

परिसंगृह्य शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।

विद्वन्मनोहरं सन्तन्मुपदिष्टं तदुच्यते ॥ १६९ ॥

(ना० शा० १७।२४)

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्के—‘शुश्रूषस्व गुरून्’ (अभि० शा० ४।१७) इत्यादि ।

उपदिष्ट—शान्त्र या व्यग्रहार के आधार पर कहा जाने वाला निद्रदनुमोदित और परिणाम में सुख दायी कथन ‘उपदिष्ट’ कहलाता है । जैसे शाकुन्तल के चतुर्थाङ्क में—‘तुम अपने पूज्य गुरुजन की सेवा करना’ इत्यादि (४।१७) कथन ।

यथा वा—

सत्यप्रमादशङ्काभिर्वाग्मिनोऽपि महात्मनः ।

यथेष्टारपितप्रभ्यां नाधिरोहति भारती ॥

तथा—

मत्स्य धीर प्रमाद की आशका के कारण अन्धै यत्ना और पिद्वान् पुत्र की वाणी भी यथार्थ कथन से विरत हो जाती है ।

विचार —

युक्तिनाम्यस्नेहैश्च अप्रत्यक्षार्थमाधनः ।

अनेकोपायसंयुक्तो विचार इति कीर्तितः ॥ १७० ॥

(ना० शा० १७।२३)

यथोत्तर (राम) चरिते—

विचार—अनेक युक्तियुक्त वाक्यों तथा अनेक उपायों के कथन द्वारा किसी अदृष्ट या अप्राप्य वस्तु की सिद्धि बतलाना 'विचार' कहलाता है । जैसे उत्तररामचरित में—

यदृच्छा सवाद किमु गुणगणानामतिशय

पुराणो वा जन्मान्तरनिविडवद् परिचय ।

निजो वा सम्बन्ध किमु विधिवशात् कोऽप्यविदितो

ममैतस्मिन् दृष्टे हृदयमवधान रचयति ॥ (उक्त० ५।१६)

मुझे इस [कुमार चन्द्रनेतु] के देखने पर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि क्या यह कोई आकस्मिक मिलन है या इसके इन अतिशय गुणों के कारण मन आकृष्ट हो रहा है या इससे कोई पूर्वजन्म का परिचय है या दुर्भाग्यवश न जाना गया कोई अन्य सम्बन्ध है जो मेरे हृदय में अन्तर्धान आनन्द उत्पन्न कर रहा है ।

विपर्यय —

विचारस्यान्यथाभावास्तथा द्रिष्टोपदिष्टयोः ।

सन्देहात् कल्प्यते यत्र न विज्ञेयो विपर्ययः ॥ १७१ ॥

(ना० शा० १७।२६)

यथा सङ्केताङ्के—

विपर्यय—यदि कलाओं या भीखे हुए तथ्य के विपरीत परिणाम की सन्देहवश कल्पना की जाए तो उसे 'विपर्यय' समझना चाहिए । जैसे मंथनार में—

मम कण्ठगताः प्राणाः पाशे कण्ठगते तव ।

अतः स्वार्थं प्रयत्नोऽयं त्यज्यता साहसं प्रिये ॥ (रत्ना० ३।१६)

राजा—हे प्रिये, जब तुम्हारे गले में पाश पड़ी हो तो मेरे प्राण गले तक आने लगते हैं । इसलिये तुम अपना यह (आत्मघात रूपी) साहस छोड़ दो क्योंकि मेरा उद्योग अपनी रक्षा करना ही है [जो तुम्हारी रक्षा करने से ही होगा]

अंशः—

वाच्यमर्थं परित्यज्य दिष्टादिभिरनेकधा ।

अन्यस्मिन्नेव पतनादाशु अंश उदाहृतः ॥ १७२ ॥

अंश—जब किसी कथ्य अर्थ को दुर्भाग्य आदि कारणवश किसी दूसरे ही अर्थ में लगा दिया जाए तो वह ‘अंश’ कहलाता है । जैसे भानुमत्यङ्के—

यथा भानुमत्यङ्के—

सहभृत्यगणं सवान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।

स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥

(वे० सं० २।५)

सुयोधन—पाण्डुनन्दन अपने पराक्रम से भाई, बन्धु, पुत्र, मित्र तथा सेवक आदि के साथ सुयोधन का शीघ्र वध करेगा ।

अनुनयः—

उभयोः प्रीतिजननोर्विरुद्धामिनिवेशिनोः ।

अर्थप्रसाधकश्चैव विज्ञेयोऽनुनयो युधेः ॥ १७३ ॥

अनुनय—एक दूसरे के विरुद्ध रहने वाले दोनों पक्षों को प्रसन्न कर अपना कार्य सिद्ध करनेवाला कथन ‘अनुनय’ कहलाता है ।

यथा सङ्केताङ्के—‘आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष’ (रत्ना० ३।१४) इत्यादि । यथा च—

एष बद्धाञ्जलिपुटो मौलिर्मे त्वत्पदानतः ।

निगृह्णात्यनुगृह्णाति तुल्यमेवानुय प्रभु ॥

जैसे संकेतांक में—

राजा—देवि, मैं बिना किसी लज्जा के तुम्हारे चरणों पर लगी हुई महावर की लाली को तो अपने मस्तक से पोंछ रहा हूँ (पर मैं तुम्हारे चन्द्र जैसे मुख पर होनेवाली क्रोध की लालिमा भी हटाना चाहता हूँ यदि तुम मुझ पर थोड़ी दया दिखलाओ तो ?)

अथवा—

मैं अपने दोनों हाथ जोड़ कर तुम्हारे पैरों पर अपना सर झुका देता हूँ क्योंकि स्वामी की अपने सेवकों पर कृपा या नाराजी दोनों ही हो सकती है।

माला—

ईप्सितार्थस्य सिद्धयर्थं क्रियन्ते यत्र सूरिभिः ।

प्रयोजनान्यनेकानि ता मात्सेय्यभिधीयते ॥ १७४ ॥

(ना० शा० १७।२७)

माला—अभीष्ट कार्य की पूर्ति के लिये जब अनेक उद्योग किये जायें तो उसे 'माला' सम्मकना चाहिए।

यथा सीतानिर्वासे—

तुभ्यान्वयेत्यनुगुणेति गुणोन्नतेति

दु खे सुखे च सुचिरं सहवासिनीति ।

जानामि केवलमहं जनवादभीत्या

सीते त्यजामि भवतीं न तु भावदोषात् ॥ (कुन्द० १।१२)

जैसे सीतानिर्वासन नामक अङ्क में—

लक्ष्मण—हे पूज्य सीता जी, तुम मेरे ही वंश के समान (परित्रय प्रसिद्ध) वंश में उत्पन्न हो तथा हमारे ही समान गुणों से युक्त भी हो, हमारे सुख और दुःखों में चिरकाल से साथ रही हो पर फिर भी केवल तुम्हारा परित्याग लोकापवाद के भय के कारण हो रहा है इसमें आपके प्रति रहनेवाला दुर्भाव कारण नहीं है।

दाक्षिण्यम्—

यद्दृष्ट्या चैष्टया जाचा प्रसन्नयदनेन च ।

परानुवृत्तिः क्रियते तदाक्षिण्यमिति स्मृतम् ॥ १७५ ॥

(ना० शा० १७।२८)

दाक्षिण्य—अपनी दृष्टि, चेष्टाएँ, वाणी और प्रसन्नमुख के द्वारा की गयी चाटुकारिता को ‘दाक्षिण्य’ समझना चाहिए।

यथा कदलीगृहे राजा—‘अमृते सहस्रोद्वते च वदनं नीतं परां नम्रताम्’ (रत्ना० २।२०) इत्यादि । यथा वा—

अपयान्त्यापि ते भीत्या दाक्षिण्यं नोजिज्ञतं तया ।

व्यावर्त्य यन्मुखं चक्षुस्त्रिभागो मयि पातितः ॥

जैसे कदलीगृह नामक अंक में—

राजा—प्रियतमा के अनुकूल होने के कारण भ्रुकुटी के अकस्मात् चढ़ जाने पर भी इसका मुँह झुका हुआ है; केवल मुझे देख कर क्रोध के कारण मुसकुराना बन्द कर लिया है; कठोर शब्द नहीं कहे जा रहे हैं तथा क्रोध से आँखों के आंसू रुक जाने के कारण नेत्र खुल नहीं पा रहे हैं। इस प्रकार (इसका) मेरे प्रति कोप तो प्रकट हो रहा है पर (इसके द्वारा) सहज विनय का परित्याग नहीं दिखलाई दे रहा है।

तथा—

तुम्हारे भय से दूर चले जाने पर भी उसने अपना विनय धनाये रखा और केवल मुँह घुमाकर नेत्रों को तिरछा करते हुए मुझे देख भर लिया।

गर्हणम्—

यत्र सङ्कीर्तयेदोषं गुणश्च विनिपातयेत् ।

भर्त्सनाद् बहुशो ज्ञेयं गर्हणं नाम स्वरिभिः ॥ १७६ ॥

(ना० शा० १७।२९)

गर्हण—जहाँ गुणों की भर्त्सना कर उन्हें गिराते हुए केवल दोषों का ही उल्लेख किया जाए तो उसे ‘गर्हण’ समझना चाहिए।

यथाऽधत्तामाङ्गे—

कृप.—पिक्सानुजं पुरुषति धिगजातशत्रुं

धिगमूषतीन् विफलशत्रुभूतो धिगस्मान् ।

केशप्रहः खलु तदा दुपदात्मजाया

द्रोणस्य चाथ लिखितैरिव वीक्षितो यैः ॥

(वे० सं० ३।१३)

जैसे अश्वत्थामाक में—

कृपाचार्य—अपने भाइयों के साथ कौरवराज दुर्योधन को धिक्कार है और धिक्कार है युधिष्ठिर को तथा निष्प्रयोजन शस्त्र धारण करने वाले राजाओं एवं हम सभी को जिनने पूर्व में पाञ्चाली के और आज द्रोणाचार्य का केशमहण देखा ।

अर्थापत्तिः—

अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।

वाक्यमाधुर्यसम्मिश्राऽसावर्थापत्तिरुच्यते ॥ १७७ ॥

(ना० शा० २७।३०)

अर्थापत्ति—जब माधुर्य से सम्मिश्रित वाक्यों के द्वारा किसी एक बात के कहने से किसी अर्थ की प्रतीति हो जाए तो उसे 'अर्थापत्ति' समझना चाहिए ।

यथा राघवाम्बुदये—

रामोऽसौ जगतीह विक्रमगुणैर्यात. प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाम्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जनाति तम् ।

वन्दीवैष यशासि गायति मरुघस्यैकवाणाहति—

श्रेणीमूतविशालतालविबरोद्गीर्णे स्वरैः ससभिः ॥

जैसे राघवाम्बुदय^१ में—

यह राम अपने पराक्रम तथा गुणों के कारण ससार में अतिशय प्रसिद्ध हो गया परन्तु यदि आप एक बाण के प्रहार से पत्तिबद्ध सात विशाल तालवृक्षों के छिद्रों से निकलते हुए सात स्वरों से वायु द्वारा यशोगान किये जाने वाले उस (वीर श्रीराम) को नहीं जानते तो यह हमारा ही दुर्भाग्य है ।

१. अर्थापत्ति के उदाहरण में दिये गये 'रामोऽसौ' इत्यादि पद्य की भोज ने अपने 'शस्त्रप्रकाश' में अर्थापत्ति के ही उदाहरण में उद्धृत किया है । भोज ने इसे राघवाम्बुदय का पद्य न बतला कर राघवानन्द से उद्धृत लिया है । (गृ० प्र० ११।५३५) सहस्रिकर्णामृत में यही श्लोक विशाखदत्त की रचना बतलायी गयी है [दृष्टव्य—सहस्रिकर्णामृत, सम्पा० रामावतारशर्मा-छाहौर संस्करण] । यह पद्य अति प्रसिद्ध है तथा वाक्यप्रकाश (४।१०९) तथा साहाय्यदर्पण आदि में उद्धृत भी है ।

प्रसिद्धिः—

वाक्यैः सातिशयैर्युक्ताः प्रधानार्थप्रसाधकैः ।

लोकप्रसिद्धैर्वह्यैः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ॥ १७८ ॥

(ना० शा० १७।३१)

प्रसिद्धि—मुख्य उद्देश्य के प्रतिपादक अनेक लोकप्रसिद्ध तथ्यपूर्ण वाक्यों से युक्त रचना ‘प्रसिद्धि’ कहलाती है ।

यथा सम्पात्यङ्गे माल्यवान्—

जातो मुनेर्विश्रवसः समस्त-

विद्यास्वषीती परमो विविक्तः ।

निपात्यसे वत्स किमेभिस्त्यै-

स्तट्टुमः सिन्धुजलैरिवायैः ॥

जैसे—सम्पाति अङ्ग में—

माल्यवान्—हे वत्स, तुम विश्रवस मुनि के पुत्र हो । तुमने सारी विद्याओं का विधिवत् अध्ययन किया है । अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण तुम सभी से अपनी विभिन्नता भी रखते हो । इतना सब होने पर भी तुम इन छत्र कार्यों को करते हुए अपने आपको इसी प्रकार गिरा रहे हो जैसे किनारे पर रहनेवाला वृक्ष नदी के प्रवाह के द्वारा स्वयं को गिरा लेता है ।

पृच्छा—

यत्रान्वेषणमर्थानां वाक्यैरभ्यर्थनापरैः ।

जिज्ञासुः पृच्छति परं सा पृच्छा स्वभिधीयते ॥ १७९ ॥

(ना० शा० १७।३२)

पृच्छा—जब कोई जिज्ञासु-भाव से अपनी अभीष्ट वस्तु की तलाश करते हुए अनुनय-विनयपूर्वक कुछ पूछता हो तो उसे ‘पृच्छा’ समझना चाहिए ।

ययोन्मत्तमाधवे—

भवद्भिः सर्वाङ्गप्रकृतिरमणीया कुलवधू-

रिहस्थैर्दृष्टा वा विदितमथवाऽस्याः किमभवत् ।

वयोऽवस्थां तस्या शृणुत मुहुरदो यत्र मदन
प्रगल्भव्यापारश्चरति हृदि मुग्धश्च वपुषि ॥

(माल० मा० ९।२९)

जैसे उन्मत्त—माधव नामक अंक (मा० माध० अङ्क ६) में .—

माधव—क्या आपने सहज सलोने अङ्गवाली उस कुलीन सुन्दरी बाला को कहीं देखा है ? या आपको यह मालूम है कि उसकी क्या दशा हुई ? मैं आपको उसकी अवस्था और क्या बतलाता हूँ, जरा ध्यान से सुनिये—जब काम अपने बरकट व्यापारों के साथ चित्त में संचार करने लगता है तथा जिसके कारण शरीर के सारे हावभाव मनोहर बन जाते हों—बस उस सुन्दरी की यही अवस्था है ।

अन्यस्त्याह—

‘यत्र भाबरसोपेतमात्मात्मानमथवा परम् ।
पृच्छन्निवामिषत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्पुच्यते यथा ।’
समाश्वसिहि मे चेत त्यजताज्ञानि वेपितम् ।
सञ्जीवनीष सम्प्राप्ता सेय वो हृदयज्ञमा ॥

दूसरे आचार्यों का मत है कि जब कोई व्यक्ति स्वयं से या दूसरे से प्ररन करते हुए किसी भावना एवं रस से पूर्ण तथ्य को कहता हो तो उसे ‘पृच्छा’ सम्झना चाहिए । जैसे —

(स्वयं प्ररन करते हुए तथ्य कथन करना)—

हे मन, अब तुम धीरज धरो और अपने कापनेवाले अङ्गों को रोको । इस समय मेरी प्रियतमा आ गई है जो मेरे मन में बसी थी और जो मेरे प्राणों के लिये संजीवनी औषधि के समान है ।

परे यथा—

बहुधा दार्यमाणापि त्वं तथानुगता सती ।
कथं गौद्रसावर्तगर्तमग्न ब्रह्मसि माम् ॥

तथा (दूसरों से प्ररन करते हुए तथ्य कथन का उदाहरण)

हे सती, जब तुम अनेक बार मना करने पर भी मेरा [उचित रूप में] अनुसरण करती रही तो फिर आज इस भयंकर जलायत के गढ़ में मुझे अकेला क्यों छोड़ रही हो ?

सारूप्यम्—

अन्यथिन्तयतश्चान्यद्विरुद्धमुपतिष्ठते ।

मादृश्यात् क्षोभजननं सारूप्यमभिधीयते ॥ १८० ॥

सारूप्य—जब किसी सोची हुई बात के विरुद्ध पदार्थ समानता के कारण गड़ड़ा होकर मानसिक क्षोभ उत्पन्न करने लगे तो उसे ‘सारूप्य’ समझना चाहिए ।

यथा केकयीभरते—‘उत्सर्पति स्थिरतडिञ्जलदः किमेव’ इत्यादि ।

जैसे केकयी-भरत नामक अङ्क मे :—

क्या यही वह बादल है जो स्थिर बिजली को साथ लेकर ऊपर बढ़ रहा है ।

अन्यत्त्वाह—

‘दृष्टेनैकेन रूपेण वस्तुनोऽन्यत्र निश्चयः ।

भवेत्तुल्यगुणालम्बाद्यत्तु सारूप्यमुच्यते ॥’

दूसरे आचार्यों का मत है कि :—

एक बार पूर्व में देखी गयी वस्तु की समानता के आधार पर अन्यत्र भी वैसी ही कल्पना कर लेना ‘सारूप्य’ समझना चाहिए ।

यथा—

कृष्णसारस्य यच्छृङ्गं हृदयं तच्च कल्प्यताम् ।

उष्माकरस्य कालस्य यथाहः शर्वरी तथा ॥ इति ।

जैसे :—

जो मृग का सींग है उसे उसका हृदय समझो और जैसा ग्रीष्मकाल का दिन [षष्ठकारक] होता है उसी प्रकार [यह] रात्रि भी जानो ।

मनोरथः—

हृदयस्यस्य भावस्य गूढार्थस्य विभावकम् ।

अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥ १८१ ॥

(ना० शा० १७।३८)

मनोरथ—जब मन की गुप्त बात को किसी दूसरे बहाने से बतलाया जाए तो उसे ‘मनोरथ’ समझना चाहिए ।

यथा प्रस्थानाङ्गे—‘स्वपति पुलिने शय्याशुभ्रे’ इत्यादि ।

जैसे प्रस्थानाङ्ग मे—

वह शुभ्रवर्ण बालु की सेज पर सो रही है इत्यादि ।

लेशः—

यद्वाक्यं वाक्यकुशलैः सुस्तिष्ठार्थं प्रयुज्यते ।

निपुणेनोद्घाटयते यस्तु स लेश इति कीर्तितः ॥ १८२ ॥

(ना० शा० १७।३५)

लेश—चतुर शक्ता के द्वारा प्रयुक्त किसी श्लिष्ट वाक्य के आशय को जब अपने बुद्धिकौशल से प्रस्तुत किया जाए तो उसे ‘लेश’ समझना चाहिए ।

यया शकुन्तले—

प्रियंवदा—जह् अज्ज तादो सण्णिहिदो भवे । (यद्यत्र तात सन्निहितो भवेत्)

शकुन्तला—तदो किं भवे ! (तत् किं भवेत् ?) इत्यादि ।

जैसे शकुन्तल के प्रथमाङ्क मे—

प्रियवदा—यदि आज यहाँ पिताजी होते ।

शकुन्तला—तो क्या होता ? इत्यादि ।

सङ्क्षेपः—

परदोषैर्विचित्रार्थं यत्रात्मा परिकीर्त्यते ।

सदृक्षानुभवे कैश्चित् स सङ्क्षेप इति स्मृतः ॥ १८३ ॥

(ना० शा० १७।३६)

सङ्क्षेप—जब दूसरों के कष्टों या दोषों की समानता के कारण स्वयं भी वैसी ही विचित्रता का अनुभव करे तो ‘सङ्क्षेप’ समझना चाहिए ।

१. लेश का यही उदाहरण आद्यात्मप्रकाश में भी मिलता है ।

२. भोज के अनुसार सङ्क्षेप के रयान पर ‘सचोम’ प्राप्त होता है । पर वस्तुतः इसे ‘दोष’ समझना चाहिये । सम्भवतः यह लेखक-प्रमाद से सङ्क्षेप हो गया होगा । सायनरन्दी ने नाट्यालङ्कारों में ‘सोम’ को आगे लिखा है अतएव भरतोक्त ‘दोष’ का ही यहाँ ग्रहण हुआ उचित होगा । भोज के अनुसार कथित ‘सोम’ भी इसी लेखक प्रमाद का परिणाम प्रतीत होता है ।

यथा मायालक्षणाद्धे—

रावण —

साकृष्टा कशिमानमेति मदनायासैर्वयं दुर्बलाः
सा पत्युर्विरहेण रोदिति वयं तस्या. कृते साश्रव ।
सा दुःखेऽस्ति धनैर्विना वयममी तत्सङ्गमे दुःखिता.
सीतास्मासु तथाप्यहो न दयते तुल्यास्ववस्थास्वपि ॥

जैसे मायालक्षण नामक अष्टक में :—

रावण—वह रोते हुए [कुदून के कारण] दुर्बली होती जा रही है और हम कामासक्ति के कारण कमजोर हो रहे हैं। वह अपने स्वामी को पाने के लिए रो रही है और हम उसे पाने को आँसू बहा रहे हैं। वह स्वामी के बिना दुःखी हो रही है और हम उसका मिलन न पाकर दुःखी हैं। इस प्रकार समान दुःख रहने पर भी सीता हम पर क्यों नहीं पसीजती।

गुणकीर्तनम्—

लोके गुणातिरिक्तानामर्थानां यत्र कीर्तनम् ।

अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं तदिष्टं गुणकीर्तनम् ॥ १८४ ॥

(ना शा० १७।३७)

गुणकीर्तन—जब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति या उद्देश्यसिद्धि के लिए संसार के गुणशाली पदार्थों का बरतान किया जाए तो उसे ‘गुणकीर्तन’ समझना चाहिए।

अयायोध्यामरते—‘मन्त्रं येन धनु’ इत्यादि ।

जैसे अयोध्या-मरत नामक अष्टक में :—जिसने धनुष तोड़ा तथा ... इत्यादि ।

अनुक्तसिद्धिः—

प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।

वचनेन विनाऽनुक्तसिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥ १८५ ॥

(ना० शा० १७।१०)

यथा गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्येते तद्धि यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।

प्राहे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ॥ इति ।

अत्र पुनान्नोर्नक्षत्रयोः ऋतुकालान्तरनिषेकप्रदाने पुमानपत्यं स्यादित्यागमार्थोऽकथितोऽपि सिद्धयतीत्यनुक्तसिद्धिः ।

अनुक्तसिद्धि—बिना कहे जहाँ [थोड़े से] आरम्भ करने मात्र से शेष बात का ज्ञान हो जाए तो उसे 'अनुक्तसिद्धि' समझना चाहिए ।

जैसे—'गृहवृक्ष' वाटिका [नामक अङ्क] में—

प्रातःकाल [उषःकाल के समय तथा सूर्योदय के पूर्व] ये जो चन्द्रमा के पास दो नक्षत्र दिखाई दे रहे हैं इन्हें तिष्य और पुनर्वसु कहते हैं ।

यहाँ 'पुरुषवाचक नक्षत्रों में ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाधान करने पर लड़का उत्पन्न होता है' इस शास्त्रीय तथ्य को बिना कहे सूचित किया गया अतः यह 'अनुक्तसिद्धि' का उदाहरण है ।

प्रियोक्तिः—

यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः ।

हर्षप्रकाशनायोग्यं प्रियोक्तिः साऽभिधीयते ॥ १८६ ॥

(ना० शा० १७।४१)

प्रियोक्ति—प्रसन्न चित्त से पूज्यजन का सम्मान करते हुए तथा बिना उपरी प्रसन्नता बतलाते हुए जब कहा जाए तो उसे 'प्रियोक्ति' समझना चाहिए ।

यथा नागानन्दे गौरी—

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः ।

परितुष्टास्मिते वत्स जीव जीमूतबाहन ॥ (नागा० ५।१४)

जैसे नागानन्द में—गौरी—तुमने अपना जीवन देकर भी संसार का उपकार किया अतः हे वत्स जीमूतबाहन, तुम जी उठो । मैं तुम से प्रसन्न हूँ ।

यथा वा—

दधत्यानन्दकं देहं नितम्बश्च सुदर्शनम्

कम्बुकण्ठि त्वया नूनमजितोऽपि जितो भवेत् ॥ इति ।

तथा—जिसकी गर्दन शख के समान है, जिसका शरीर आनन्द-प्रद है तथा जिसके नितम्ब गोल एवं सुन्दर हैं उससे क्या नहीं जीता जा सकता है ?

अथवा जिसकी गर्दन शख, जिसका शरीर श्रीविष्णु की मन्वक भामक तलवार और जिसका नितम्ब सुदर्शन चक्र हो तो फिर निश्चय ही भगवान् विष्णु पर भी उसे विजय प्राप्त करने में कौन कठिनाई रहेगी ?

लक्षणान्यप्यलङ्काराः कात्स्न्येनैकत्र दुर्लभाः ।

एतेषामप्यसाकल्यं शोभां सृजति नाटके ॥ १८७ ॥

सभी लक्षण और (नाट्य के) अलंकार एक साथ एक रचना में मिलना कठिन है पर इनके यथोचित अंश की नाटक में योजना करने से भी (उसकी) शोभा बढ़ जाती है ।

अङ्गानि सालङ्कति लक्षणादि

कार्याणि कार्याणि हि नाटकेषु ।

अतोऽन्यथावृत्तिषु पण्डितेषु

न दण्डमाकर्षति शास्त्रकारः ॥ १८८ ॥

नाटक में लक्षणों तथा अलंकारों की अङ्गरूप में स्थापना अवश्य करनी चाहिए । यदि इन लक्षणों के विपरीत भी कोई रचना करे तो शास्त्रकार उस पर दंड नहीं उठा सकता है या उसे दण्ड प्रदान करता है । [क्योंकि केवल नियम बतलाना ही शास्त्र का उद्देश्य है]

अथालङ्काराः—

लक्षणान्यभिधायालङ्कारा कथ्यन्ते । यदुक्तं—‘सालङ्कारं तु नाटकम्’ इति । यद्यप्युपमादय एव काव्यस्य शोभाऽनुबन्धिनोऽलङ्काराः कथितास्तथाप्येते नाट्यालङ्कारा नाट्य-शोभां जनयन्तोऽलङ्कारा इति व्यपदिश्यन्ते । के पुनस्ते । तद्यथा—आशीः, आक्रन्दः, अभिमानः, कपटः, याव्वा, प्रवर्तनम्, स्पृहा, क्षेमः, अर्थविशेषणम्, प्रोत्साहनम्, नीतिः, आख्यानम्, विसर्पः, उल्लेखः, उत्तेजनम्,

निवेदनं, परीवाद, उपपत्ति, परिहार, उद्यमः, आशय, युक्तिः, अनु-
वृत्ति, साहाय्यम्, अक्षमा, प्रहर्षः, पश्चात्तापः, आशंसा, अहङ्कारः,
अध्यवसाय, उत्कीर्तनं, गर्व, गुणानुवादश्च । अलङ्काराण्येतानि नाटकस्य ।
तद्यथा—

नाट्यालङ्कार—लक्षणों के निरूपण के पश्चात् हम नाट्यालङ्कार
बतला रहे हैं । जैसा कि कहा भी है कि 'नाटकों में नाट्यालङ्कारों का
सन्निवेश रखा जाना चाहिए' । यद्यपि काव्य के शोभाधायक उपमा
आदि अलङ्कारों का अन्यत्र वर्णन मिलता है परन्तु ये नाट्य शोभा के
सबद्धक होने से नाट्यालङ्कार कहलाते हैं । ये कितने तथा कैसे हैं
इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हम पहिले इनके नाम और बाद में
स्वरूप बतला देंगे । इनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) आशी, (२) आक्रन्द, (३) अभिमान, (४) कपट, (५)
याच्चा, (६) प्रघर्तन, (७) स्पृहा, (८) क्षोभ, (९) अर्थविशेषण,
(१०) प्रोत्साहन, (११) नीति, (१२) आख्यान, (१३) विसर्प, (१४)
उल्लेख, (१५) उत्तेजन, (१६) निवेदन, (१७) परिवाद, (१८)
उपपत्ति, (१९) परिहार, (२०) उद्यम, (२१) आशय, (२२) युक्ति,
(२३) अनुवृत्ति, (२४) साहाय्य, (२५) अक्षमा, (२६) प्रहर्ष, (२७)
पश्चात्ताप, (२८) आशंसा, (२९) अहङ्कार, (३०) अध्यवसाय, (३१)
उत्कीर्तन, (३२) गर्व तथा (३३) गुणानुवाद । ये ३३ नाट्यालङ्कार
कहलाते हैं । इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं :—

आशीः—इष्टावधारणमाशीः । यथा—सीते, श्रेयसा वर्धस्व ।

आशीः—उद्दिष्ट वस्तु का निश्चयपूर्वक कथन 'आशीः' कहलाता
है । जैसे :—'हे सीते तुम्हारा कल्याण हो' ।

आक्रन्दः—शोकसमुत्थमुक्तधैर्यमाग्नेहितमयमवनीपातपूर्वकमाक्र-
न्दनमाक्रन्दः । यथा—वत्स तिष्ठेति शक्तौ रामः ।

१. भोज ने अपने ग्रन्थ में लक्षणों की दो सारिलियाँ दी हैं तथा इनकी
६४ कुल संख्या बतलाई है जिनमें नाट्यालङ्कार भी विद्यमान हैं । शाकुन्तल की
राघवमठ व्याख्या (नि० सा० संस्करण पृष्ठ ९) से विदित होता है कि मानसुत
ने जिन्हें नाट्यविभूषण कहा था वे ही बाद में नाट्यालङ्कार के रूप में प्रचलित
हो गए होंगे । सागरलन्दी ने ३३ नाट्यालङ्कार स्वतन्त्र माने हैं जो विश्वनाथ के
साहित्यदर्पण में भी इसी क्रम से प्राप्त होते हैं ।

आक्रन्द—शोक के कारण रोना और घबै-हीन होकर बार-बार गिर कर पृथ्वी पर लोटने लगना ‘आक्रन्द’ समझना चाहिए। जैसे शक्ति नामक श्वक में—

श्रीराम—यत्स लक्ष्मण, जरा ठहरो।

अभिमानः—आरब्धात्यागः अभिमानः। यथा (वेण्याम्) दुर्योधनः—‘मात किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते’ (वे० सं० ५।३) इति।

अभिमान—एक बार स्वीकार किये हुए कार्य को न छोड़ना ‘अभिमान’ कहलाता है। जैसे [वेणीमंहार ५।३] में] दुर्योधन—माँ, ये दीनवचन तुम्हारे योग्य नहीं हैं— इत्यादि।

कपटः—रावणस्य कुलपतिवेषेण रामवधनाय सीतापहारः कपटः।

कपट—श्रीराम को घोरता देने के लिए रावण का कुलपति-वेश धर सीता को हर ले जाना ‘कपट’ कहलाता है।

याच्चा—प्रसिद्धैव। यथा—सीता (राम प्रति) अणुमणस्स मं अणुगच्छेन्तीं। [अनुमन्यस्थं मामनुगच्छन्तीम्।]

याच्चा—अनुनय करना ‘याच्चा’ होती है। जैसे—सीता [राम के प्रति] तो आप मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिए।

प्रवर्तनम्—संशयव्युदासे प्रवृत्तिः प्रवर्तनम्। यथा शाकुन्तले दुष्यन्त—आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्। इत्यादि

(शाकु० १।२४)

प्रवर्तन—सन्देह को दूर करने के लिये किया जानेवाला कार्य ‘प्रवर्तन’ कहलाता है। जैसे—[अभि० शाकु० में] दुष्यन्त—तुम जिसे देखकर अग्नि की शका करते थे वह तो स्पर्श के योग्य मणि है।

स्पृहा—अमीष्टार्थे प्रवर्तनं स्पृहा। यथा श्मशाने माधवः—‘तत्पश्ये-यमनङ्गमङ्गलगृहं म्रूयोऽपि तस्या मुक्तम्।’ (माल० माघ० ५।९) इत्यादि।

स्पृहा—इष्टवस्तु को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ना ‘स्पृहा’ समझना चाहिए। जैसे श्मशानांक में :—माधव—कामदेव के मंगल-सदन के समान उमके मुँह को क्या मैं फिर देख पाऊँगा ?

क्षोभः—अनिष्टदर्शनाच्चारतम्यं क्षोभः। यथा रत्नावल्याम् वत्सराजः—

(सागरिकां प्रति) वयस्य अक्षिप्यतामयं पाशः। (रत्ना० अ० ३)

क्षोभ—किसी आपत्ति को उपस्थित देख मन में चंचलता या

घबड़ाहट पैदा हो जाना 'क्षोभ' समझना चाहिए। जैसे रत्नावली (१ अङ्क) में वत्सराज—(सागरिका को देखकर) मित्र, तुम इसके बन्धनों को तो छोड़ो ।

अर्थविशेषणम्—अर्थस्य विरूपतया प्रतिपन्नस्य पुनः पुनः शिरःकम्पहुङ्कारैर्विशेषणमर्थविशेषणम् । यथा कैकेयीभरते—हनुमान्—'कैकेयीजननी न यस्य न कथं विघ्नं समाधास्यति ।' इति ।

अर्थविशेषण—किसी विचार या भाव को उल्टे रूप में (विपरीत रूप में) लेकर उसके अनुरूप कार्य देखते ही मस्तक हिला कर हुंकार करते हुए अनुमोदन करना 'अर्थविशेषण' समझना चाहिए। जैसे कैकेयीभरत नामक अंक में :—हनुमान—जिसकी माता कैकेयी जैसी न हो वह किन्हीं का निवारण कैसे कर लेगा ?

प्रोत्साहनम्—कुतश्चित्कारणान्निवर्तमानस्य प्रवर्तनं प्रोत्साहनम् । यथा (विक्रमोर्वशीये) पुरुवरसम्—

मन्दारपुष्पैरधिवासिताया यस्याः शिखायामयमर्पणीयम् ।

सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमश्रूपहतं करोमि ॥

(विक्र० ४।६३) इति (उक्तवन्तः) सङ्गममणिं त्यजन्तं (पुरुवरसः)

प्रति आकाशवचनम् 'गृह्णता सङ्गमनीयोऽयं मणि'रिति ।

प्रोत्साहन—किसी कारणवश अपने लक्ष्य से हट जानेवाले पुरुष को फिर अपने कार्य में लगा देना 'प्रोत्साहन' कहलाता है। जैसे पुरुषाव के द्वारा सङ्गममणि को यह कह कर छोड़ देना—

जिम मणि को मेरी प्रिया की मन्दार के पुष्पों से सुवासित पेंणी (चोटी) में गूथना उचित था जब आज वही दिखाई नहीं दे रही है तो मैं इस मणि को अपने आंसुओं से मैला करते हुए क्यों रठाऊँ ।

और तब आकाशवाणी द्वारा 'इसे ले लो, यह सङ्गमनीय मणि है' कहना प्रोत्साहन कहलाता है ।

नयः—नीतिर्नयः । यथा (शाकुन्तले) दुष्यन्त —विनीतवेपथुः प्रवेशनीयानि तपोवनानि नाम । (शाकु० अ० १)

नीति—यथायोग्य व्यवहार करना 'नीति' कहलाता है। जैसे :—[अधिष्ठान शाकुन्तल अ० १ में] दुष्यन्त—तपोवन में नम्रतापूर्वक प्रवेश करना चाहिए ।

आख्यानम्—आख्यानमितिहास तस्य कार्याय कीर्तनम् । यथा कीचकभीमे—द्रौपदी—घण्टा सा सीता जा सत्तुअण णिज्जिअ एक्केण मत्तुणा आसासिदा । मम उण पचमत्तुणो भविअ वि एसा केसहदआणं अवत्था । [धन्या सा सीता या शत्रुजनं निर्जित्य एकेन भर्त्रा आश्रासिता । मम पुन पञ्चमर्तुमूर्त्वापि एषा केशहतकानामवस्था ।]

आख्यान—किसी कार्य या उद्देश्य की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास का कथन ‘आख्यान’ कहलाता है । जैसे कीचकभीम (नामक अट्ट) में :—द्रौपदी—सीता ही धन्य है जिसे उसके स्वामी ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर आश्रय दिया । यहाँ तो पाँच पति होने पर भी इन अभागि केशों की यही अवस्था हो रही है ।

विसर्पः—रभसोक्तमनिष्टफलं स्यात् विसर्पः । यथा दशरथाङ्गे—कञ्चुकी—

सामान्येन वरं दत्तं किं विशेषे मति स्थिता ।

सर्वथा नृपतेरेष घोर. शापो बिजुम्भते ॥

विसर्प—शीघ्रतावश अनिष्टकारी बात का ‘स्पष्ट’ कथन ‘विमर्प’ कहलाता है । जैसे दशरथाङ्ग में :—

कञ्चुकी—जब धरको साधारण रूप में दिया गया था तो उससे आज विशेष कार्य करने की कल्पना क्यों की जा रही है ? निश्चय ही राजा को दिया हुआ घोर शाप आज किसी प्रकार प्रकट हो रहा है ।

उल्लेखः—

कर्तव्योपदर्शनमुल्लेखः । यथा उन्मत्तचन्द्रगुप्ते—‘लोको लोचनन्दनस्य रतये चन्द्रोदये सौत्सुक’ अत्र कृतस्नेहमादं चन्द्रगुप्त परित्यज्य कर्तव्यमाह—‘भवत्त्वेन जयशब्देन राजकुलगमन साधयामि ।’ इति ।

उल्लेख—कर्तव्य को बतलाना ‘उल्लेख’ कहलाता है । जैसे उन्मत्तचन्द्रगुप्त^१ (नामक थक) में—सत्तार आज अपने नेत्रों के आनन्द के लिए चन्द्रोदय की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है ।

१. उन्मत्तचन्द्रगुप्त—विशालदत्त प्रणीत ‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ के पञ्चमाङ्क का नाम ।

यहाँ चन्द्रगुप्त ने बनाबटी पागलपन को छोड़कर कर्तव्य का निर्देश करते हुए कहा—‘सो मैं इसी विजय के प्रसंग को लेकर राजमहल में जाकर अपना कार्य सिद्ध करूँ ।

उत्तेजनम्—स्वकार्यसिद्धये परस्मिञ्छत्रुवधायानक्षरेण प्रेरणावाक्यं यत्तदुत्तेजनम् । यथा कीचकमीमे—

द्रौपदी—सो वि कीचको मं पिअत्ति आलवदि तुमं पि पिअत्ति आलवसि । ता ण जाणे मंदभाइणी कस्स पिआ भविस्सं । [सोअपि कीचको मा प्रियेत्यालपति त्वमपि प्रियेत्यालपसि । तन्न जाने मन्द-भागिनी कस्य प्रिया भविष्यामि ।]

उत्तेजन—अपने वरेण्य की पूर्ति के लिए शत्रुनारा की अस्पष्ट शब्दों में प्रेरणा देना ‘उत्तेजन’ कहलाता है । जैसे कीचकमीमे में :—

द्रौपदी—यह कीचक भी मुझे प्रिया कहकर बुलाता है और आप भी मुझे प्रिया कहते हैं । पर मैं बेचारी दुर्भाग्य के कारण किसकी प्रिया रहूँगी यह खुद नहीं जानती ।

निवेदनम्—कर्तव्यस्यावधारितस्य कथनं निवेदनम् । यथा राघवाम्युदये सेतुद्वे—

लक्ष्मण—आर्य, समुद्राम्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि । तद् किमेतत् :

निवेदन—निश्चित किये गए कार्य को करने के लिए बह देना ‘निवेदन’ कहलाता है । जैसे राघवाम्युदय के सेतु नामक अंक में :—

लक्ष्मण—आर्य, आप इस समुद्र की प्रार्थना कर पार जाने के उत्सुक हो रहे । यह क्या बात है ?

परीवादः—भर्त्सना परीवादः । यथा सुन्दराङ्के—दुर्योधन—
चिक् सूत, किं कृतवानसि ।

‘वत्सस्य मे दुर्ललितस्य पाप’ (बेनी स० ४।५) इत्यादि ।

परीवाद—हांड डपट देना ‘परीवाद’ कहलाता है । जैसे ‘सुन्दरांक’ में :—**दुर्योधन**—धिकार है ! अरे सारथी, तुमने यह क्या कर डाला । यह भीच मेरे द्वारा प्रेम से पाले हुए भाई के वध की चेष्टा कर रहा है—**यादि** ।

उपपत्तिः—धृत्स्याकृत्य निष्कलत्वाद् त्याग उपपत्तिः ।

यथाश्वत्थाङ्के—**कर्ण**—अश्वत्थामा मया पृथ्वीराज्येऽभिषेकव्यस्तम्य

चाभावाद वृथाशस्त्रग्रहणमिति शस्त्रपरित्यागं कृतवानाचार्यः। इत्यादिकम् ।
(वे० सं० ३)

उपपत्ति—धारण किये हुए शस्त्र-अस्त्र आदि को व्यर्थ मानकर छोड़ देना ‘उपपत्ति’ कहलाता है। जैसे अश्वत्थामाङ्क में :—

वर्ण—आचार्य की भावना यह थी कि मैं अश्वत्थामा को सम्पूर्ण भूमण्डल का स्वामी बना कर उसका राज्याभिषेक करूँगा परन्तु वैसा न बनने के कारण अपना शस्त्रग्रहण बेकार मानकर ही उनसे शस्त्रों का त्याग कर डालता। इत्यादि।

परिहारः—उक्तस्य परिहरणं परिहारः। यथा तत्रैव—

अश्वत्थामा—दुःस्त्रितोऽहं व्रीमि न पुन वीरजनाधिकेपेण। इति।

(वे० सं० ३)

परिहार—एकबार अपने द्वारा कहे गए शब्दों को अन्यथा कर देना ‘परिहार’ कहलाता है। जैसे इसी अङ्क में—अश्वत्थामा—मैंने दुःख के कारण यह सब कहा। मैं किन्हीं वीरों पर आक्षेप करने के लिये यह नहीं कह रहा हूँ।

उद्यमः—दुष्करोऽध्ययसाय उद्यमः। यथा कुम्भे—रावण—
‘पश्यामि शोकविवरोऽन्तरुमेव तावत्’ इत्यादि।

उद्यम—किसी कठिन कार्य को करने के लिए प्रस्ताव करना ‘उद्यम’ कहलाता है। जैसे कुम्भजंक में :—रावण—अब शोक से अभिभूत होने के कारण मैं मृत्यु को ही देख लूँ !

आश्रयः—गुणवद्ग्रहणमाश्रयः। यथा विभीषणनिर्मत्सनाङ्के—
विभीषण—राममेवाश्रयिष्यामीति।

आश्रय—किसी शक्ति या गुणशाली पुरुष का सहारा प्राप्त करना ‘आश्रय’ कहलाता है। जैसे विभीषणनिर्मत्सना नामक अङ्क में :—
विभीषण—अब तो मैं श्रीराम का ही आश्रय पाऊँगा।

१. उपपत्ति का यहाँ लक्षण नहीं दिया गया प्रतीत होता है किन्तु उदाहरण पर लक्षण-ममन्वय जैसा अवश्य प्रतीत होता है। अन्यत्र उपपत्ति का लक्षण है—‘उपपत्तिर्माता हेतोरपन्यासोऽर्थसिद्धये—अर्थात् अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कारण को प्रस्तुत करना ‘उपपत्ति’ कहलाती है। [सा० २० पृष्ठ परि० ५० ३४२ लाट्टीर सरकरण]

२. परिहार का लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही अधिक स्पष्ट नहीं दिये गये हैं।

युक्तिः—असूयया भाव्यस्यार्थस्य घटनावचनं युक्तिः । यथा भानुमत्यङ्के दुर्योधन—अतएवास्याः प्रातरेव विविक्ताश्रयणमित्याद्युक्तिः । (वे० सं० अ० २)

युक्ति—किसी घटना को जलन के कारण घटित रूप में बतला देना 'युक्ति' कहलाता है । जैसे भानुमत्यङ्क में :—

दुर्योधन—इसी लिए यह प्रातःकाल एकान्त में बैठी है । इत्यादि कथन ।

अनुवृत्तिः—आक्षेपेण चलितस्यानुगमनमनुवृत्तिः । यथा—सहेदेवेनानुगम्यमानो भीम इत एवाभिवर्तते इति । (वे० सं० अ० १)

अनुवृत्ति—रूठकर या कुपित होकर जानेवाले पुरुष का अनुसरण करना 'अनुवृत्ति' समझना चाहिए । जैसे वेणीसंहार में—सहदेव के साथ भीमसेन इधर ही आ रहे हैं इत्यादि (कथन अनुवृत्ति है) ।

साहाय्यम्—सङ्कटेऽनुगुणभाव साहाय्यम् । यथा कुलपतिवेष-घरस्य रावणस्य चित्रमायस्य राक्षसस्य मित्रवसुतापसरूपोपपत्तिः ।

साहाय्य—संकट के समय सहायता करना 'साहाय्य' कहलाता है । जैसे कुलपति का वेष घर रावण के मीताहरण के लिए चलने पर चित्रमाय राक्षस का मित्रवसु नामक तपस्वी का रूप धारण कर लेना ।

अक्षमा—परस्य दर्पासहिष्णुताऽक्षमा । यथाश्वत्थामाङ्के—'कर्ण—द्रोणात्मज किमत्र क्रियते' इत्यादिकलहे अश्वत्थामा कर्णोत्तमाङ्गे पादप्रहारारम्भ ।

अक्षमा—दूसरे के तेज या घमंड को सहन न करना 'अक्षमा' समझना चाहिए । जैसे अश्वत्थामाक में —

कर्ण—द्रोणपुत्र, अब क्या किया जा सकता है । कह कर जब अश्वत्थामा से झगड़ा करता है तब अश्वत्थामा द्वारा कर्ण के मर पर लात मारने को उद्यत हो जाना ।

प्रहर्षः—मूढस्योद्धोषलब्धो हर्षः प्रहर्षः । यथा—

लक्ष्मण—अये उच्छ्वसितमार्येण इत्यादि ।

प्रहर्ष—मूर्खों के परचात् चेतनता प्राप्त कर लेनेपर होनेवाला

आनन्द ‘प्रहर्ष’ कहलाता है। जैसे लक्ष्मण—अरे ! पूज्य आर्ष सांस लेने लगे ।

पश्चात्तापः—मोहादवधीरितस्यार्थस्य पश्चात्परित्यागः पश्चात्तापः । यथानुतापाङ्गे राम—‘किं देव्या न वितुम्बितोऽसि बहुशो मिथ्याप्रसुप्तस्य ते ।’ इत्यादि

पश्चात्ताप—पहिले अनजाने में ठुकरा दी जानेवाली वस्तु या व्यक्ति के विषय में बाद में पछताना ‘पश्चात्ताप’ समझना चाहिए। जैसे अनुतापाक में :—

राम—क्या जब तुम बहाना बना कर सो जाते थे तब कई बार देवी ने पुत्रवत् तुम्हारा चुम्बन नहीं किया था। इत्यादि ।

आशंसनम्—आशंसनमाशंसा । यथा मालतीमाधवे स्मरणे—माधव—‘तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्’ (मा० माघ० ५।९) इत्यादि ।

आशंसा—किसी की आशा या अपेक्षा करना ‘आशंसा’ कहलाता है। जैसे स्मशानाक में :—

माधव—तो कामदेव के मंगलसदन जैसे उस प्रिया के मुँह को मैं फिर कभी देख पाऊँगा !

अहङ्कारः—कार्ये क्षमत्वमहङ्कारः । यथा कीचक—बाढं व्याहृता द्रौपदी प्रियेति ।

अहङ्कार—किसी कार्य को ठीक से करने की पात्रता रखना ‘अहङ्कार’ कहलाता है। जैसे कीचकाङ्क में—

कीचक—हाँ, हाँ ! मैंने ही द्रौपदी को प्रिया कहा है ।

अध्यवसायः—अध्यवसायः स एव । यथा तत्रैव भीम—‘एतन् प्रियेति वचनं न ददामि तावत् ।’ इत्यादि ।

अध्यवसाय—अध्यवसाय का उदाहरण भी इसी अंक में है—भीम—अच्छा अब इस प्रिया शब्द को मैं न भोळूँ इत्यादि ।

उत्कीर्तनम्—कर्तव्यकार्योपक्षेप उत्कीर्तनम् । यथा प्रतिज्ञा—भीमसहदेव—नेदगायुधागारम् । पाञ्चाख्याश्चतुःशालक्रमिदम् । भीम—आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली । (वे० सं० १)

उत्कीर्तन—अपने उद्दिष्ट कार्य का सफेद या उसे आरम्भ करने का उद्योग करना 'उत्कीर्तन' कहलाता है। जैसे प्रतिज्ञार्थी नामक अंक में—

सहदेव—आर्य, यह शस्त्रागार नहीं है। यह तो द्रौपदी का आराम भवन है।

भीम—हाँ हाँ, मुझे द्रौपदी से भी तो बात करना है।

गर्गः—वैशारद्यवचनं गर्गः । यथाऽश्वत्थामाङ्घ्रे अश्वत्थामा—'यो य शस्त्रं विमर्त्ति' (वे० स० ३।३२) इत्यादि ।

गर्ग—अपनी चतुराई बतलाते हुए कथन करना 'गर्ग' समझना चाहिए। जैसे अश्वत्थामाङ्घ्रे—अश्वत्थामा—पाण्डवों के सेना में जिसे अपनी मुजाओं पर गर्व हो या जो शस्त्र लिए हों। इत्यादि।

गुणानुवादः—दोषपरेण दर्पादवधीरितस्य व्याहारगुणस्य प्रतिपादनं गुणानुवादः । यथा रावणे विभीषणस्य वाक्यम्—

गुणानुवाद—दोष दृष्टि के कारण अहंकारवश उपेक्षित निचे गए गुणों की फिर से स्थापना करना 'गुणानुवाद' कहलाता है। जैसे रावण के प्रति विभीषण का निम्न कथन :—

अष्ट. पदात् द्रुतजटाग्रहणस्तपस्वी रामो बनेऽस्ति भवता ध्रुतमेतदेव ।
नाकर्णितं हरधनुर्दलनं भृगोर्वा भद्र. कथं तद् भ्रा न मयुर्बदेहान् ॥

आपने केवल यही सुना है कि राव्याभिषेक से द्रुत टाया गया जटाधारी तपस्वी राम वन में रहता है पर यह क्यों नहीं सुना कि सभी ने शिवजी के धनुष को तोड़ा था और परशुराम के गर्व को भग कर दिया था। क्या यह सब तुम्हारे गुप्तचर निदेह जाकर नहीं जान पाये थे ?

रामस्य घातितवतो युधि ताडका तामारीचनेन शिशुतात्वयि युक्तमुक्ता ।
तत्कोशकाण्डपतनत्राणगर्मस्य दृष्टं त्वया न वदत कथमक्षि क्वाणम् ॥

क्या मारीच ने आपको यह ठीक तरह से नहीं बतलाया कि युद्ध में जब राम ने ताडका का वध किया था तब वह धन्वा था। उस समय भी उसके तरकम से निरने हुए बाणों की चोट में अपनी आर गैरा देने वाले मारीच के नेत्र में पड़े हुए गटे को आप क्यों नहीं देख रहे हैं ?

चापम्य नन्दयसि दन्दुमिपूतिगन्वि कङ्कालचालनविधिं रघुनन्दनस्य ।
किं स्तौषि नातिविपमास्थितमसतालनिर्मदलाघवमिषोर्महदेकस्य ॥

इत्यादिदशहरणम् ।

तुम श्रीराम के धनुष की इसलिए प्रशंसा करते हो कि उसने दन्दुमि रामस के दुर्गन्धियुक्त कंकाल को चठा कर दूर फेंक दिया था, परन्तु ममी धनुष के द्वारा छोड़े गए एक ही बाण से हस्तलाघव के द्वारा देदे मेदे स्थानों पर लड़े हुए सात ताल के घृशों को भीघने की प्रशंसा क्यों नहीं करते ? इत्यादि दशहरण है ।

एवमस्य नाटकस्य स्वकीयास्वययस्त्रिगुणद्वारा । अन्येषामज्ञान्येवालङ्कारत्वेनैतस्य कविमि कार्याणि । तथा—शिल्पकस्य उत्कण्ठादिसप्तविंशत्यङ्गानि, माणकस्य गेयपदादि दस । वीथिकाया उद्घात्यकादि त्रयोदश । भाणिकाया विन्यासादि सप्त । एव सप्तपञ्चाशदप्यङ्गानि नाटकेऽलङ्कारत्वेन कार्याणि । उक्तान्येतानि च स्वस्थाने ।

इन प्रकार ये तैत्तिरीय अलङ्कार नाटक के कहजाते हैं रूपकों के अंगभूत दूसरे अलङ्कारों को भी कवि गण इन अलङ्कारों के अतिरिक्त या इन अलङ्कारों के साथ रख सकते हैं । जैसे :—शिल्पक के उत्कण्ठा आदि तेरह अंगों को, माण के गेयपद आदि दस अंगों को, वीथी के उद्घात्यक आदि तेरह अंगों को या भाणिका के विन्यास आदि सात अंगों को [रखा जाना चाहिए] । इस प्रकार कुल मिला कर सत्तावन अंगों को नाटक में अलङ्कार के रूप में रखा जा सकता है । शिल्पक आदि के अङ्गों के लक्षण यथावसर दिये जाएंगे ।

अतएवोच्यते—

पञ्च पञ्च चतुःषष्टिश्चतुरष्टैकविंशतिः ।

पट्विंशन्नवतिर्यत्र तदाहुर्नाटकं घुषाः ॥ १८९ ॥

इसीलिए कहा गया है कि—जिममें पांच, पाँच, चौंसठ चार, आठ, इक्कीस, छत्तीस तथा नब्बे अंग हो उसे ही ‘नाटक’ समझना चाहिए ।

१. पाँच = अवस्थाएँ । पांच = अर्थ प्रकृति । चौंसठ = मन्त्रपद । चार = वृत्तिर्यो । आठ—नायक गुण (तथा रस) । इक्कीस = सङ्गमन्त्र या

अथ रसाः कथ्यन्ते ।

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतमित्येवमष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १९० ॥

रसनिरूपण—अब हम रसों को बतलाएँगे । नाटक में आठ रस माने जाते हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स तथा (८) अद्भुत ।

चत्वार एव वा । यतः—शृङ्गारानुगुणो हास्य करुणो रौद्रकर्मज ।

अद्भुत कर्म वीरस्य बीभत्सस्य भयानक । इति ।

अथवा ये रस (मुख्यतः) चार ही होते हैं । जैसा कि कहा भी है :—शृङ्गार का अनुगामी हास्य रस, रौद्ररस का फल या कार्य करुण रस, वीर रस का कार्य अद्भुतरस तथा बीभत्स का परिणाम भयानकरस हो जाता है । [अतएव मुख्य रस चार तथा उनके अनुगामी गौण रस भी चार होने से कुल आठ रस माने जाते हैं] ।

विभावस्यानुभासस्य व्यभिचारिण एव च ।

संयोगादुन्मिषेद् भावः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥ १९१ ॥

अब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारो भावों के पारस्परिक संयोग द्वारा स्थायी भाव विकास प्राप्त करे तो वही रस हो जाता है ।

अथवा रसाश्च भावाश्चैतेऽन्योन्योपकारात् सहभावेनैव प्रवर्तमानाः सिद्धिमपिरोहन्ति । यथा—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसयजितः ।

परस्परकृता सिद्धिरनयोः रसभावयोः ॥ १९२ ॥

(ना० शा० ६।३७)

अथवा रस और भाव परस्पर मिल कर एक दूसरे को पुष्ट करते हुए अपना निर्वाह करते हैं । जैसा कि कहा भी है :—

अन्तरसन्धिर्योः । छत्तीस = छठ्ठण । तथा—नट्ये = नाट्यालङ्कार (२३), शिष्यकाङ्ग (२७), भाग के अंग (१०), घोषी के अंग (१३) तथा भागिका के अंग (७) का सम्पूर्ण योग (यथा—२३ + २७ + १० + १३ + ७ = ९०) ।

रस भाव से रहित तथा भाव रस से विहीन नहीं होता है तथा इन दोनों का निर्बाह परस्पर सहयोग के द्वारा ही होता है ।

अत्रव्यञ्जनवत् । यथा भोक्तुरन्नं व्यञ्जनमुपकुरुते व्यञ्जनमन्नं ततो रसः स्यात्तथैव भावान् रसा रसांश्च भावा उपकुर्युः । परस्परं सर्वदा सम्बद्धाः प्रेक्षकान् मनसि प्रमोदेनोपश्लिष्यन्तो रसा इति व्यदिश्यन्ते । अन्ये तु कार्यकारणत्वमनयोः सत्कार्यवादिदर्शनेनाङ्गीकुर्वन्ति । यत्र भावाः कार्यं रसाः कारणं द्वयमप्येतत्तुल्यकालावस्थित्याऽन्योन्योपकारात् परस्परकृता सिद्धिः साधयति ।

उदाहरणार्थ यह पारस्परिक सहयोग पकाये हुए अन्न और व्यंजन [साग, चटनी] के जैसा समझना चाहिये । जैसे भोजन कर्त्ता को पकाया हुआ व्यञ्जन साग, चटनी आवि अन्न की और अन्न व्यञ्जन की आस्वादनीयता को परस्पर बढ़ाते हुए रसनीयता या उपभोग (को) सम्पन्न करते हैं । इसी प्रकार भाव रस को तथा रस भाव को पुष्ट करते हुए परस्पर सहयोग रखकर या सम्बद्ध होकर प्रेक्षकों के चित्त में आनन्द का संचार करवाते हुए रसत्व की स्थिति [भूमि] प्राप्त कर लेते हैं । अन्य विद्वान् सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार रस और भाव का कार्य कारण भाव मानते हैं । इनके मतानुसार भाव फल तथा रस कारण है और ये दोनों एक समय में (तथा) एक साथ रहते हुए एक दूसरे का मवर्द्धन या पुष्टि करते हुए रसत्व की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं । अब क्रमशः रसों का लक्षण बतलाते हैं ।

तत्र शृङ्गारः—

उत्तमप्रकृतिप्रायः स स्त्रीपुरुषहेतुकः ।

सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधो मतः ॥ १९३ ॥

स्थायीभावो रतिश्चास्य श्रुतं नेपथ्यमुज्ज्वलम् ।

वापीवरगृहोद्यानगमनेष्टाङ्गनादयः ॥ १९४ ॥

१. सत्कार्यवाद=माध्यमदर्शन सत् से सत् की उत्पत्ति मानता है । इसकी आधारभूत कारिका निम्न है —

असद्वरणात् उपादानगृहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।

शून्यत्व शून्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ (सां० का०.....)

एतस्य विभावाः रसोपादानहेतव इत्यर्थः । तस्य लोचनचातुर्य-
 ऋक्षेपप्रभृतयोऽभिनयाः अनुभावाः । अनुपश्चाद् भावयति प्रापयतीत्यर्थः ।
 अस्मिन् व्यभिचारिणो भावाः व्याधिस्तम्भजडताप्रबोधोन्मादनिद्रानिर्वेद-
 ग्लानिचिन्तौत्सुक्यापस्मारशङ्काऽसूयाश्रमवैवर्ण्याश्रुप्रभृतयः । वृत्तिस्तु
 कैशिकी । करुणवद् विप्रलम्भ स्यादिति करुणे यावान् भावस्ता-
 धानित्यर्थः ॥ १ ॥

शृङ्गाररस—उत्तम प्रकृति के पुरुष और स्त्रियों के पारस्परिक अनुराग
 के कारण 'शृङ्गार रस' उत्पन्न होता है। इसके दो प्रकार माने जाते
 हैं—संयोग [सम्भोग] शृङ्गार तथा विप्रलम्भ शृङ्गार। इस रस का
 स्थायी भाव रति होता है और इसमें उज्ज्वल वेष भूषा रंगी जानी है।
 इसके विभावों में बापी, भवन तथा उपवन में इष्ट ललनाओं के साथ
 विहार करना (आदि कार्य) होते हैं। ये रस के विभाव हैं अर्थात्
 रस के उपादान कारण हैं। इसके अनुभाव हैं—अवलोकन, चातुर्य,
 कटाक्षपात आदि का अभिनय करना। अनुभाव का अर्थ है जो अनु-
 अर्थात् बाद में भावयति=लाते या प्रस्तुत करते हैं वे अनुभाव [कार्य]
 कहलाते हैं। इस रस के संचारी भावों में व्याधि, स्तम्भ, जडता,
 प्रबोध, उन्माद, निद्रा, निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, अपस्मार,
 शङ्का, असूया, श्रम, वैवर्ण्य तथा अश्रु आते हैं। इसमें कैशिकीवृत्ति
 होती है। 'विप्रलम्भ शृङ्गार करुण रस के समान होता है' इस नियम
 के अनुसार करुणरस में रहने वाले सभी मञ्जारीभावों को विप्रलम्भ
 शृङ्गार में भी रसा जा सकता है।

हास्यः—

सावहित्यः मविकृतैर्नेपथ्यैर्व्यङ्गदर्शनैः ।

असम्बद्धैस्तथालापैर्हासः स्यात् कुहकादिभिः ॥१९५॥

स्वप्नालस्यावहित्याः स्युस्तन्द्राद्या व्यभिचारिणः ।

हासः स्यापी च भावोऽस्य पटुभेदा च प्रकीर्तिताः ॥१९६॥

हास्य—अपने आकार को छिपाने, मित्र न बाणों तथा वेष के
 प्रयोग, अङ्ग विकलता, असम्बद्ध वदनास तथा कोम, गला आदि के
 गुदगुदाने (कुहक) से 'हास्य' रस उत्पन्न होता है। इस रस के
 संचारी भाव हैं—स्वप्न, आलस्य, अवदित्या तथा तन्द्रा आदि।

इसका हास स्थायीभाव होता है जिसके [स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अतिहसित तथा अपहसित नामक] छः प्रकार होते हैं ।

उत्तमस्य स्मितं विहसितम् । यथा—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्टवान्धितैः ।

अलक्षदशनं धीरं स्मितमिच्छन्ति स्त्रियः ॥ १९७ ॥

(ना० शा० ६।५५)

उत्तम पुरुषों का गम्भीरता लिये हुए हँसना [मुसकुराना] ‘स्मित’ कहलाता है । जैसा कि कहा भी है —

कुछ फूले हुए कपोल, सुन्दर कक्षों से युक्त अबलोकन तथा दांत न दिखलाई दें ऐसी मन्द और गंभीर मुसकान को ‘स्मित’ समझना चाहिए ।

किञ्चिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितम् ।

आकुञ्चितकपोलाक्षं सस्वनं निस्वनं तथा ।

प्रस्तावोत्थं सानुरागमाहुर्विहमितं बुधाः ॥ १९८ ॥

उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।

निकुञ्चिताङ्गशिरसरं तद्योपहसितं स्मृतम् ॥ १९९ ॥

(ना० शा० ६।५७-५८)

जिसमें दांतों का थोड़ा हिस्सा दिखलाई दे वैसे ‘हसित’ समझना चाहिए ।

जिसमें गाल और आँखें सिकुड़ जाएँ कभी मुँह से थोड़ी आवाज निकलती हो या कभी न निकले तो पारस्परिक संभाषण या स्नेह के अवसर पर होने वाले ऐसे हास को ‘विहमित’ समझना चाहिए ।

जिसमें नाक के नथुने भर जाए, तिरछी दृष्टि से अबलोकन किया जाए और अंगों को सिकुड़ा कर सर को तिरछा करले तो ऐसे हास को ‘उपहमित’ समझना चाहिए ।

अस्थानहमितं यच्च मायुनेत्रं तथैव च ।

उत्कम्पिताङ्गकशिरस्तच्चातिहमितं स्मृतम् ॥ २०० ॥

(ना० शा० ६।६०)

अनुचित या बेर्माके ऐसे हँसना कि आँखों में आँसू आ जाए और

कन्धे और सिर हिलने लगे तो ऐसे हास को 'अतिहसित' समझना चाहिए।

संरब्धगश्रुनेत्रान्तं विक्रुष्टस्वतमुद्धतम् ।

हस्तोपगूढपार्श्वं यत्तच्चापहसितं विदुः ॥ २०१ ॥

(ना० शा० ६।५९)

आँखों के कोनों में आँसू आ जाएँ, जोरों की शब्द हों और दोनों हाथों से पसलियों को दबा कर हँसा जाए तो इस प्रकार का हास 'अपहसित' समझना चाहिए।

करुणः—

दृष्टनाशधनापायवधव्यसनताडनैः ।

शापक्लेशोपघाताद्यैर्जायते करुणो रसः ॥ २०२ ॥

अश्रुनिध्वासवैवर्ण्यसस्ताङ्गत्वस्मृतिक्षयैः ।

परिदेवित्तशोपाद्यैरभिनेयः स सूरिभिः ॥ २०३ ॥

स्वरभेदाश्रुनिर्वेदविषादावेगमृत्यवः ।

मोहापस्मारजडता चिन्तात्सुक्यञ्च वेपथुः ॥ २०४ ॥

दैन्यं वैवर्ण्यमालस्यं व्याधिर्लानिस्तथा श्रमः ।

स्तम्भाद्याश्च चरा भागा स्थायी शोकोऽस्य च स्मृतः ॥ २०५ ॥

करुण—प्रियजन के मरण, वैभव के अवसान, प्रियजन के बध, विपत्ति, ताडन, शाप, क्लेश, अग्नि आदि से जल जाना (उपघात) आदि विभावों के द्वारा 'करुणरस' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय आँसू गिराने, मुँह उतर जाने (वैवर्ण्य), अगों में शिथिलता आ जाने, स्मृति के नाश हो जाने, रोने और मुँह के सूख जाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इस रस के सात्विक तथा सचारी भाव हैं—स्वरभङ्ग, अश्रु, निर्वेद, विषाद, आवेग, मृत्यु, मोह, अपस्मार, जडता, चिन्ता, औत्सुक्य, वेपथु, दैन्य, वैवर्ण्य, आलस्य, व्याधि, लानि, श्रम तथा स्तम्भ (आदि)। करुणरस का स्थायी भाव 'शोक' होता है।

रौद्रः—

शस्त्रगगङ्गचेष्टाभिरुग्रकर्मक्रियात्मकः ।

समुद्धतनरप्रायो रौद्रः सद्भ्रामहेतुकः ॥ २०६ ॥

सर्वाधिक्षेपमात्सर्यैरधिक्षेपैश्चघर्षणैः ।
 उपघातानृतालापवाक्पारुष्यादिभिर्भवेत् ॥ २०७ ॥
 तस्य दन्तोष्ठसन्दंशभुजास्फोटनपाटनैः ।
 शस्त्रघातशिरोवाहुकण्ठस्कन्धवर्तनैः ॥ २०८ ॥
 ताडनैः पीडनैश्छेदैर्भेदैः शोणितकर्षणैः ।
 भ्रुकुटीहस्तनिष्पेपैः कार्याभिनयनक्रिया ॥ २०९ ॥
 उग्रतामर्परोमाश्चवेपथुस्वेदचापलाः ।
 मोहावेगादयश्चात्र भावाः स्युज्येभिचारिणः ।
 क्रोधः स्थायी च भावोऽस्य दृष्टिश्चालोहिता भवेत् ॥ २१० ॥

रौद्र—जिसमे मूलतः युद्ध कारण हो और उद्धत प्रकृति के व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले शस्त्र क्षेप, कठोर शब्द और अंगों की उद्धत चेष्टाओं से निर्दय या भयंकर कार्य किये जाएँ तो ‘रौद्ररस’ उत्पन्न हो जाता है । इसकी उत्पत्ति सभी व्यक्तियों को तिरस्कृत करने, द्वेष करने तथा उनसे लड़ने, चन पर चोट करने, झूठ बात कहने, मारने की धमकी देने आदि कार्यों से होती है । इसका अभिनय अपने ही दाँतों से ओठों को काटने, भुजाओं को ठोकने, चौर फाड़ करने, शस्त्र प्रहार करने, मस्तक, भुजा, कण्ठ और कन्धों को हिलाने, मारने, पीटने, काटने, टुकड़े कर डालने, खून निकालने, भौंहें चढ़ालेने, हाथ मलने आदि अनुभावों [क्रियाओं] के द्वारा किया जाता है । इसमे होने वाले संचारी भाव हैं—उग्रता, अमर्प, रोमाञ्च, वेपथु, स्वेद, चपलता, मोह तथा आवेग । क्रोध इसका स्थायीभाव होता है तथा इसके आश्रित की आँखें लाल रहती हैं ।

वीरः—

उत्तमप्रकृतिर्वीरः उत्साहस्थायिभावजः ।
 विभावास्तस्य विनयप्रतापलविक्रमाः ॥ २११ ॥
 गुर्गराधनसद्भृत्तिधर्मसम्पदशक्तिभिः ।
 अभिनेयः स च त्यागवैशारद्यादिभिस्तथा ॥ २१२ ॥
 आक्षेप शुचितात्यागशौर्यधैर्यादिभिर्भवेत् ।

स्मृतिर्गर्वोऽपि रोमाञ्चामर्षसंहर्षबुद्धयः ।

धृतिरित्यादयो ज्ञेया भावाश्च व्यभिचारिणः ॥ २१३ ॥

वीर—उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में स्थित उत्साह नामक स्थायीभाव से उत्पन्न होने वाले रस को 'वीररस' समझना चाहिए। इसके विभावों में—विनय, प्रताप, बल तथा शौर्य (विक्रम) रहते हैं। इस रस का अभिनय पूज्य गुरुजन की सेवा श्रुश्रूषा या आज्ञावर्तिता, सशस्त्रिता-पूर्ण जीवन, धर्म लाभ, शक्ति प्रदर्शन, त्याग, चातुर्य, आक्षेप करना, पवित्रता, निस्वार्थ भाव, शौर्य तथा धैर्य आदि के प्रदर्शन के द्वारा किया जाता है। वीर रस के संचारी भाव हैं—स्मृति, गर्व, रोमाञ्च, हर्ष, मति [बुद्धि] तथा धृति आदि।

भयानकः—

उच्चैर्मैरवसम्बाधरक्षः प्रेतादिदर्शनः ।

शून्यागारमहारण्यवधरन्धनवीक्षणैः ॥ २१४ ॥

ग्रासायासकृतोद्वेगशिवोलूकरुतादिभिः ।

विभावैर्जायते स्त्रीणां नीचानाञ्च भयानकः ॥ २१५ ॥

तं सर्वाङ्गाभिभेदाद्यैस्तालुरुण्ठनिशोषणैः ।

हृत्पाणिचरणोत्कम्पैरुरुस्तम्भैश्च दर्शयेत् ॥ २१६ ॥

वैवर्ण्यं दैन्यमालस्यं ग्रासापस्मारमृत्यवः ।

धेपधुस्वेदरोमाञ्च स्मरभेदास्तथैव च ॥ २१७ ॥

तद्गतायेगशङ्काया भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ।

भयश्च स्थायिभाषोऽस्य स्मरिभिः समुदाहृतः ॥ २१८ ॥

भयानक—स्त्रियों और भीरु प्रकृति के छोटे मनुष्यों में दैत्य, राक्षस या भूतप्रेतों की डरावनी आवाजों के सुनने, दैत्य भूत आदि के दिग्माई पड़ने, सुनसान मकानों या खनों में जाने, अपने इष्ट पुरुष के वध या बन्धन को देख लेने, ग्राम और श्रम (आयाम) में होने वाली घमड़ाहट और स्यार या उल्लू की चीत्कारों को सुनने के कारण 'भयानकरस' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय हाथ पैर आदि शरीर के सभी भागों को कपाने, आँखों को (इधर-उधर) घुमाने, कंठ और तालु

के मूखने, हाथ, पैर तथा दिल के घबकने और पैरों के जकड़ जाने आदि अतुभागों के द्वारा किया जाता है। भयानक रस के संचारी भाग हैं—वेपथु, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरसंग, आवेग तथा शंका। भयानकरस का ‘भय’ स्थायी भाव माना जाता है।

यथा—

पूजा नान्यकृतां विधातुमभिना मूर्ध्नो निजान् कृन्तति
द्राक्षावुत्स्यपशो मयि त्रिनयनस्याग्नेऽधिजन्मुर्गणा ।
ते नन्दिप्रमुखा. प्रकम्पिवपुष स्वेदच्छटाम्भोधरा
शुष्कौष्ठा मयमिश्रयोत्प्लुतदरा स्तम्भव्यवस्थामुहु ॥

उदाहरण —

हे काकुस्थ वश मे उत्पन्न नासमक राम, सुन। जब मैं भगवान् शिवजी की आज तक न की गयी पूजा को करने की ठान कर तलवार से अपने ही मस्तको को काटने लगा तो शिवजी के नन्दी आदि गणों के शरीर कापने लगे, उनके शरीर पसीने से लथपथ होकर भावलो के समान दिग्माई पड़ने लगे, आँठ सूख गइ, डर से उनकी निगाह ऊपर चारों ओर उठने लगी और वे वही कडे होकर जड़वत् स्थित हो गए।

वीमत्सः—

शुगुप्ता स्थायिभागे यो वीमत्सोऽवीरसंश्रयः ।
निकृतोत्पूतिमांसाददर्शनश्रुतकीर्तनैः ॥ २१९ ॥
दुर्गन्धप्रयतापिष्टैर्मिमांसाज्जायते हि सः ।
तस्य सर्वाङ्गसङ्कोचघ्नीरनास्यनिकुञ्चनैः ॥ २२० ॥
नासाप्रच्छादनाव्यक्तपादपाताक्षिकृणनैः ।
हृष्टेऽपेक्षेजनायैश्च तज्ज्वरमिनयो मतः ॥ २२१ ॥
अपस्मारश्च मोहश्च मरणं व्याधिरेव च ।
तथाग्निगादयश्चास्य भावास्त्युर्व्यभिचारिणः ॥ २२२ ॥

वीमत्स—शुगुप्ता स्थायी भाग वाला ‘वीमत्सरस’ भीरु स्वभाव के

मनुष्यों में रहा जाता है। 'अवितर्क' । इसकी उत्पत्ति नष्ट और दुर्गन्धि में भी नाप के स्थानों में किसी मृत प्रेय को देखने, सुनने, दुर्गन्धि या अवितर्क में घूमने जाने पदार्थ या पुरुषों के विचारों में, सुनने या उनके वर्णन करने जाति विचारों में होती है। उनका अभिप्राय (अर्थ) सभी जगहों के निरुद्धाने, घूमने, नष्ट, फेर लेने, नाक, दृष्टि, ज्ञान में अनुरोधों की परीक्षा के फलने, ज्ञान के देना करने जाति अनुमात्रों के द्वारा जगत्ता वादि। उनके संवर्तों का है—अवितर्क, नष्ट, नष्ट, अवितर्क तथा अवितर्क ।

— 124 —

अद्भुतो विष्णुर्वापिमात्रप्रभव इत्यने ।

प्राज्ञादोषान्नैकादिपन्नैर्दिव्यदर्शनैः ॥ २२३ ॥

समाविमानभाषेन्वातन्निन्वादिद्वयैः ।

हृदयं पितृभार्यया विभवेन न्य रुन्मवः ॥ २२४ ॥

दन्तलोचनविभ्राज्यभादोपगमादिभिः ।

गोदाश्रमद्वर्षाष्टमाध्यायः ॥ २२५ ॥

अथ भवतु तदा

ब्रह्मप्रत्यक्षाद्यै मात्रान्मूर्त्यनिवाग्निः ॥ २२६ ॥

[illegible]

१ कर्त्तव्यमर्थः=जीवनार्थः इति नानुगतः । (अर्थः-जीवनार्थः)
 टीका मांसं व्याख्या T. S. S. Ed. Vol I. पृ ११३)

बहुतरसमवाये एक एव रसः स्थायी । अन्ये तदुपकारागता
ज्यभिचारिणो भवन्ति । तत्र च—

यदि अनेक रसों का समुदाय हो तो उसमें एक रस ही मुख्य या
स्थायी होता है तथा शेष रस उसके सहायक हो जाने के कारण
संचारी रस कहलाते हैं । इनमें भी—

आक्षिप्य सन्याजमतिप्रसक्तं रसं रसज्ञः पुनराददीत ।

न चातिगाढं च न चातिमन्दं सन्दीपनं दृष्टमिदं रसानाम् ॥२२७॥

किसी कारण वश रोके या धन्य किये गए रस को कलाकार या
विद्वान् फिर से ला सकता है । ये रस न अधिक गहरे और न उथले
रहने चाहिये । रसों को फिर उद्दीप्त या प्रस्तुत करने की यही उचित
विधि है ।

एषु च रसेषु शृङ्गारकारुण्यहासा मृदवः भारतीकैशिकीवैदर्भ-
रीतिभाजः । रौद्रवीरमत्समयानका दीप्ता भारत्यारभटीविषयाः
गौडरीतिभाजः । मध्यमौ वीराद्भुतौ भारतीसात्वतीविषयौ पाञ्चालरीति-
भाजाविति ।

इन रसों में शृङ्गार, करुण तथा हास्य मृदुरस कहलाते हैं तथा
इन रसों में भारती तथा कैशिकी वृत्ति को तथा वैदर्भी रीति को रखा
जाता है । रौद्र, वीरमत्स और भयानक दीप्त-रस कहलाते हैं । इन
रसों में भारती तथा आरभटी वृत्तियों और गौडी रीति को रखा जाता
है । वीर तथा अद्भुतरसों को मध्यमरस कहा जाता है । इन रसों में
भारती तथा सात्वती वृत्तियाँ और पाञ्चाली रीति को रखा जाता है ।

अथ विभावा अनुभावाश्च भावा कथ्यन्ते ।

भाव आदि का निरूपण—अथ हम भावों, विभावों और अनुभावों
का वर्णन करते हैं—

वागङ्गसत्त्वभिनयैराहार्यभिनयैरपि ।

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥ २२८ ॥

(ना० शा० ७।२)

जो वाणी, अङ्ग, सत्व और आहार्य अभिनय के द्वारा कवि के
आन्तरिक आशय को प्रकट करता हो उसे ‘भाव’ समझना चाहिए ।

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भागो रसोद्बहः ।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ २२९ ॥

(ना० शा० ७।७)

जो विचार या आशय हृदय को छूने वाले हों और जिससे रस उत्पन्न हो जाए उन्हें भाव समझना चाहिए । ये भाव सूखी लकड़ियों में आग के समान शीघ्र व्यापने वाले होते हैं ।

ग्रहणां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।

स भावः कथ्यते स्थायी शेषास्तु व्यभिचारिणः ॥ २३० ॥

अनेक संचारी भावों के इकट्ठे होने पर जिस भाव का स्वरूप विस्तृत या घुष्ट होता हो उसे स्थायी भाव तथा शेष (अस्थायी) भावों को व्यभिचारी भाव समझना चाहिए ।

सत्त्वभेदाः भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः ।

भावयन्ति रसान् यस्मात्तस्माद् भावाः प्रकीर्तिताः ॥ २३१ ॥

ये मानसिक भावों के प्रकार [सत्त्वभेदाः] हैं जो सहज रूप में शरीर में रिचमान रहते हैं । जब ये रसों का भावन या आस्वादन करवाने में सहायक होते हैं तो उन्हें 'भाव' कहा जाता है ।

तत्र स्थायिन एते—

हासो रतिश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ २३२ ॥

इन भावों में निम्न स्थायीभाव हैं—(१) हास, (२) रति, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा तथा (८) विस्मय ।

विभाव्यन्तेऽधिगम्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।

एभिरर्था यतस्तस्माद् विभावाः समुदाहृताः ॥ २३३ ॥

वाचिक या आङ्गिक अभिनयों के द्वारा बतलाए जाने वाले मकेतो या भावों को जो ठीक तरह से अभिव्यक्ति करते हैं अतएव [विशेष रूप से अभिव्यक्त करवाने के कारण] ये 'विभाव' कहलाते हैं ।

वागङ्गाभिनयैरेभिर्यस्मिन्नर्थोऽनुबद्धयते ।

सर्वाङ्गोपाङ्गमयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ २३४ ॥

(ना० शा० ७।५)

वाचिक या आद्विक अभिनय के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थों को जो पाद में संवेद्य बनाते हैं तथा जो अपने स्वरूप, अंग और उपाहों से युक्त रहते हैं उन्हें ‘अनुभाव’ समझना चाहिए ।

अन्यस्त्वाह—रसोपादानहेतुर्विभावः, रसाभिव्यञ्जकोऽनुभावः, रसप्रापयिता भावः, भावोपकारिणः चराः सात्त्विकाश्च भावा भवेयुरिति । चरा भावास्त्रयास्त्रिंशत् कथ्यन्ते । यथा—

कुछ आचार्यों का मत है कि विभाव रस के उपादान कारण होते हैं । रस को अभिव्यक्त करने का कार्य ‘अनुभाव’ [तथा] रसत्व की भूमि तक ले जाने [पहुँचाने] का कार्य भाव करते हैं और भाव की सहायता कर उन्हें गतिशील रखने वाले संचारी भाव और सात्त्विक [भाव] होते हैं ।

निर्वेदग्लानिशङ्काश्च तथासूयामदश्रमाः ।

आलस्यश्चैव दैन्यश्च चिन्ता मोहस्मृतिर्मतिः ॥ २३५ ॥

ग्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता धृतिः ।

गर्वो विषाद औरसुख्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥ २३६ ॥

त्रासोऽमर्षः प्रबोधश्च अवहित्यं तथोग्रता ।

वितर्को व्याधिरुन्मादो मरणं शौचमेव च ॥

प्रयत्तिशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ २३७ ॥

संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है । इनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) मति, (१३) ग्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) धृति, (१९) गर्व, (२०) विषाद, (२१) औरसुख्य, (२२) निद्रा, (२३) अपस्मार, (२४) त्रास, (२५) अमर्ष, (२६) प्रबोध, (२७) अवहित्य, (२८) उग्रता, (२९) वितर्क, (३०) व्याधि, (३१) उन्माद, (३२) मरण तथा (३३) शौच ये तैंतीस संचारी भाव हैं । अब हम इनके लक्षण बतलाते हैं ।

तत्र निर्वेदः—व्याधिरद्विग्लानिन्दाक्रोशादिभिर्विभावैर्जायते ।

स चाभिनेयः सम्प्रधारणनिश्वासध्यानादिभिरनुगायैः । तद्यथा—

निर्वेद—लम्बी बीमारी, निर्धनता, निन्दा तथा आक्रोश [आभयों लगाना, दोषारोपण करना] आदि विभागों से 'निर्वेद' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सावधानी से विचार करना, लंबी उमासें लेना तथा ध्यानकरना आदि अनुभावों से करना चाहिए। जैसे निम्न उदाहरण में—

दृष्ट्वा सीतेति जल्पन्तं हनुमन्तं रघूद्वह ।

नार्चन्ति सनिश्वासमधिचिक्षेप केकयीम् ॥

'मैं सीता को देख आया' कहने वाले श्री हनुमान् की बातों को सुनकर भी हृदय से अनुसोदन न करने हुए श्रीराम विचारों में डूब कर सिर्फ कैकयी का ध्यान कर लंबी सांस लेने लगे।

इति निर्वेद शोकमुपवृत्ते । एवमन्येऽपि ।

(प्रस्तुत उदाहरण में) निर्वेद (भाव) शोक [करुण के स्थायी भाव] का सहायक भाव हो रहा है। दूसरे अन्य सचारी भाव भी इसी प्रकार स्थायी भावों की सहायता करते हुए उन्हें पुष्ट करते हैं।

ग्लानि — सन्तापव्याधिक्षुन्नियमादिभिः ग्लानिर्जायते । तस्यां तानववैदर्ष्यमन्दतादिरनुभावा । तथा—

ग्लानि—सन्ताप, व्याधि, क्षुब्ध और परिमित आहार के नियम आदि विभागों से 'ग्लानि' उत्पन्न होती है। इसमें दुबलापन हो जाना, मुँह बतर जाना, जड़ हो जाना या ढीलापन आ जाना अनुभाव रहते हैं। जैसे :—

उदधति नगम्गोधे सीतादुस्सामितापित ।

जग्राह ग्लानिमिक्ष्वाकु कृष्णपक्षेन्दुबिम्बवत् ॥

सीता की विरहान्नि से सन्तप्त श्रीराम ने जब आकाश में फले बादलों को उठने देखा तो वे कृष्णपक्ष के चन्द्रबिम्ब के समान एतद्गम ग्लानि मुख्य हो गए।

शङ्का—शङ्का स्त्रीनीचविषया पाषाणराधाचरणैः जायते । तामभि-
नयेदिशावलोकरुम्पादिभिः । शृङ्गारे एतामुत्तमोऽप्यवलम्बते इति केचित् ।
तथा—राजा विदूषकमवदत्—

शक्ता—श्री और नीच नाति या नीच प्रकृति के मनुष्यों में ‘शक्ता’ देखी जाती है तथा इसकी उत्पत्ति पाप या अनुचित आचरण करने आदि विभावों से होती है। इसका अभिनय चारों ओर देखने, कांपने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि शृङ्गाररस में उत्तम पात्र में भी शक्ता को रखा जा सकता है। जैसे राजा की विदूरक के प्रति निम्न उक्ति में [उत्तम पात्र तथा शृङ्गाररस होने से ‘शक्ता’ की योजना उचित रूप में रखी गयी है]—

गृहे मानुमती क्रुद्धा मामनामन्य यद्वता ।

इन्दुमत्या गुणालाप कृतो मौख्यान्मया हि स ॥

जब मैंने अज्ञानवश इन्दुमती के गुणों का वर्णन किया था तभी बिना पूछे ही मानुमती रुठकर चली गयी ऐसी मुझे आशंका हो रही है।

अमूया—परैश्वर्यापराधाधैरमूया । ता गुणपद्मतिविद्वेष-निन्दा-दिभिर्निदिशेत् ।

अमूया—दूमरों के वैभवं या सम्पत्ति को देख कर या किसी अपराध के करने आदि विभावों से ‘अमूया’ उत्पन्न होती है। इसका अभिनय दूमरों के गुणों को दबाने, द्वेष या निन्दा करने आदि अनुभावों से करना चाहिए।

मदः—मद. मद्यपानेन । तमुत्तम स्वापेन, मध्यमो गीतहासै-रथमश्चाप्रियालापरोदनै ।

मद—मद्यपान से ‘मद’ उत्पन्न होता है। इसको उत्तमपात्र निद्रा लेते हुए, मध्यमपात्र गीत और हास्य के द्वारा और अधमपात्र गाली, बकवास और रुठन के द्वारा अभिनीत करे।

श्रमः—

श्रमोऽवमेवाया. । त स्वयग्नमर्दनादिभिः । तद्यथा—

श्रम—लग्नी चात्रा या मेहनत करने से ‘श्रम’ उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अपने शरीर को स्वयं दबाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे—

कठोरगर्भपीडार्त्ता रथं सन्त्यज्य मैथिली ।

सौमित्रम्यस्तदस्नाठ्ठा ययौ गद्गावगाहने ॥

पूर्ण गर्भ के कारण रिक्त सीता जी रथ को छोड़ श्री लक्ष्मण के हाथ का सहारा लेकर गंगा को पार करने के लिए आगे बढ़ी ।

आलस्यम्—

आलस्यं स्त्रीनीचविषयं खेदव्याधिश्चमरौकादिभिर्जायते ।

तदाहारस्यागारब्धत्यागै ।

आलस्य—स्त्री और नीच प्रकृति के मनुष्य में 'आलस्य' देखा जाता है । इसकी उत्पत्ति थकावट, बीमारी, परिश्रम करने और शोक करने आदि विभागों से होती है । इसका अभिनय मोचन न करने और आरम्भ किये हुए कार्य को छोड़ देने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए ।

दैन्यम्—

दैन्यं विरहदौर्गत्यपराभवमनस्तापै । तमचेष्टागात्रसंस्कारवर्जनै ।

दैन्य—विरह, दुर्गति, अपमान तथा मानसिक सताप से 'दैन्य' उत्पन्न होता है । इसका अभिनय निश्चेष्ट पड़ कर, शरीर की सफाई न रखने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है । जैसे —

तद्यथा—

दुःशासनकराकृष्टकेशेन्मुक्तविमूषणा ।

दुनोति भीममात्मानमपि कृष्णा दिने दिने ॥

दुःशामन के हाथों से रींचे गये अपने केशों को न सजाराती हुई द्रौपदी दिन रात भीम को और स्वयं को कोसते हुए दुःखी रहने लगी ।

चिन्ता—

चिन्ता ऐश्वर्यप्रियजनापायं । तांघ्यानाघोमुसक्तानिश्वाससन्तापै ।

तद्यथा—

चिन्ता—अपनी सम्पत्ति की या किसी प्रिय जन की हानि जैसे विमादों से 'चिन्ता' उत्पन्न होती है । इसका अभिनय ध्यान घटने, मुँह झुका लेने, ऊँचे साँसें लेने और कुट्टन [सन्ताप] आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए । जैसे —

अकर्णद्रोणगात्रेयसिन्धुराज रणाङ्गणम् ।

दृष्ट्वा दुर्योधनाश्चिन्ता निधमन् दीर्घमाविशत् ॥

दुर्योधन ने वर्ण, द्रोण, भीष्म और जयद्रथ से हीन युद्धभूमि देखकर ऊची सास ली और (फिर) किसी गहरी चिन्ता में डूब गया ।

मोहः—

मोहः व्यसनावेगवैरानुस्मरणादिभि । तमघ पातनिश्चैतन्यधूर्ण-
नादिभि । तद्यथा—

मोह—आनेवाली विपत्ति, आवेग और शत्रु के स्मरण आदि विभावों से ‘मोह’ की उत्पत्ति होती है । इसका अभिनय नीचे गिर जाने, बेहोश हो जाने, चक्कर खा कर गिरने आदि अनुभावों से करना चाहिए । जैसे —

शक्त्या हत दशास्येन लक्ष्मण वीक्ष्य राघव ।

पपातावेगवान् भूमौ शास्त्रीवाशनिना हत ॥

राघव के द्वारा फेंकी गयी शक्ति की चोट खा कर गिरे हुए लक्ष्मण को देख कर श्रीराम ब्रम्हाहत वृक्ष के समान वेग से पृथ्वी पर गिर पड़े ।

स्मृतिः—

स्मृतिः स्वास्त्येन । ता ऋक्षेपरि कम्पादिभि ।

स्मृति—ठीक से या स्वस्थचित्त हो बैठने से ‘स्मृति’ उत्पन्न होती है । इसका अभिनय आँखों को इधर-उधर घुमाने और सर को हिलाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

मतिः—

मतिः शास्त्रावबोधेन । ता तत्त्वोपदेशेन ।

मति—शास्त्र-परिशीलन या तत्त्वज्ञान से ‘मति’ उत्पन्न होती है । इसका अभिनय तत्त्वज्ञान या सत्य के उपदेश देने आदि अनुभावों से किया जाए ।

व्रीडा—व्रीडा प्रतिज्ञाभङ्गपापाचरणगुर्वतिक्रमै । ता वैलक्ष्य-
नम्वनिस्तोद-भूलेखनादिभि । तद्यथा—

व्रीडा—अपनी प्रतिज्ञा के भंग हो जाने, पापाचरण तथा पुण्यजन की आशाओं को न मानने से ‘व्रीडा’ उत्पन्न होती है । इसका अभिनय सर झुका धर लाने, नखों के कुरेदने या अँगुलियाँ दबाने तथा भूमि को कुरेदने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए । जैसे :—

वस दग्धा न सीतामनौ रङ्गा . . . लवम् ।

रज्जेर्हास्तिहि मद्भ्रातु क्षमस्वार्थे सुदुर्नयम् ॥

हे वत्स, सीता आग में नहीं जली और लज्जा . . . यह कथन मेरे भाई के लिए लज्जा की बात है । इस दुर्व्यवहारमय अपराध को हे देरि तुम क्षमा कर दो ।

चपलता—

चपलताऽमर्षप्रद्वेषेर्ष्यादिभि । ता ताडनसम्प्रमान्यतोगमनादिभि ।

चपलता—क्रोध, द्वेष और डाह के कारण 'चपलता' उत्पन्न होती है । इसका अभिनय किसी को पीटने, चराने दूसरी ओर चलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

हर्षः—

हर्षः मनोरथावासि-तोषादिभि । तं नेत्रवस्त्रप्रसादपुलकगद्गदालपै ।

हर्ष—अपनी कामनाओं के पूर्ण हो जाने तथा सन्तोष प्राप्त हो जाने के कारण 'हर्ष' उत्पन्न होता है । इसका अभिनय आँख और मुँह को खिलाने हुए, रोमाञ्च या रक रक कर अस्पष्ट संभाषण के द्वारा किया जाए ।

आवेगः—

आवेगः वह्निमरुद्वृष्टिक्षोभगजादिसम्प्रमानिष्टदर्शनश्रवणै । तं

सहस्रोत्थानशब्दादानदिशावलोकनै । तद्यथा—

आवेग—आग लग जाने, तूफान उठने, बरसात में लगातार होने, विघ्न उत्पन्न हो जाने, हाथी के झूट कर भागने और किसी अनिष्टकारी वस्तु को देखने या उससे आने की खबर लग जाने आदि से 'आवेग' उत्पन्न हो जाता है । इसका अभिनय घबड़म उठ कर भागने, शब्द छटाने, चारों ओर देखने आदि अनुभावों से करना चाहिए । जैसे—

पितुर्वधे पतित्वाग्ने रक्षेतुद्वाचि सारथी ।

अश्वत्थामासिमादाय दिक्षु दिक्षु दृष्ट ददौ ॥

पिता द्रोणाचार्य के वध हो जाने पर जब उनका सारथी षचाओ षचाओं करते हुए अश्वत्थामा के सामने गिर गया तो उसने जन्दी से अपनी चलनार खींच ली और चारों ओर (घबरा कर) देखने लगा ।

जडता—

जडता इष्टानिष्टाम्याम्, तां तूष्णीम्भावेन ।

जडता—इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति के होने से ‘जडता’ उत्पन्न हो जाती है। इसका अभिनय बिना किसी चेष्टा को करते हुए चुपचाप हो जाने आदि अनुभाव के द्वारा किया जाता है।

धृतिः—

धृतिः सुखदुःखेषु समत्वेन, तामचापलत्वादिभिः ।

धृति—सुख और दुःख की दशा में समभाव रखना ‘धृति’ कहलाता है। इसका अभिनय स्थिर रहने, चपलता न करने आदि के द्वारा किया जाए।

गर्वः—

गर्वः यौवनैश्वर्यविद्यादिभिर्मध्यमानां, तमाधर्पणावज्ञानादिभिः ।

गर्व—यौवन, सम्पत्ति तथा विद्या आदि रहने के कारण मध्यमपात्रों में ‘गर्व’ उत्पन्न होता है। इसका अभिनय दूसरे का अपमान करने, घृणा करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।

विपादः—

विपादः विपद्योगकर्तव्यानिस्तरादिभिः, तं सहायान्वेषणशून्यता-
भावनोद्देगात्मनिन्दादिभिः । तद्यथा—

विपाद—किसी आपत्ति के आ जाने तथा अपना कर्तव्य ठीक से न करने आदि विभागों से ‘विपाद’ उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सहायक हूँदने, शून्यता का अनुभव करने, शब्दाने तथा स्वयं की निन्दा करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे :—

गच्छन्त्यां निशि नायाति मारुतौ द्रोणममृतम् ।

सौमित्रिजीवनानास्यो विपसाद रघूद्वहः ॥

द्रोणापल पर्वत से औषध लेकर रात्रि में हनुमान के न लीटने पर श्रीराम लक्ष्मण के जीवन की आशा छोड़ कर विनम्र हो बैठ गए।

औत्सुक्यम्—

औत्सुक्यमिष्टवियोगस्मरणादिभिः, तं दीर्घनिश्वासनिद्राच्छेद-
चिन्तादिभिः । तद्यथा—

औत्सुक्य—प्रियजन से दूर हो जाने या चमकी स्मृति आ जाने पर 'औत्सुक्य' भाव उत्पन्न होता है। इसका अभिनय जोरों से सांस लेने, जाग चठने तथा चिन्ता करते हुए किया जाए। जैसे :—

सीताया विरहे रामो निद्रा भेजे न रात्रिपु ।

लक्ष्मणास्यो रुद्धपुटस्त्वलङ्घ्याप्यविलोचनः ॥

सीता के विरह में श्रीराम को रात्रियों में नींद नहीं आती थी वे बैयल लक्ष्मण की ओर निहारते हुए वसांसे लेते और आँखों से आँसू बहाते रहते थे।

निद्रा—

निद्रा दौर्बल्यालस्यविषचिन्ताभिः, तं मुखगौरवजम्भास्वप्नायितैः ।

निद्रा—दुर्बलता, आलस्य, आपत्ति की चिन्ता से 'निद्रा' उत्पन्न होती है। इसका अभिनय सर मारी हो जाने, जंभाई लेने और नींद में धकने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है। जैसे :—

तद्यथा—

भीमो निद्रां गतो हन्मि कीचक त्वां क्षणादिति ।

स्वप्नायितेन कृष्णाया पाणिरेवाग्रमक्षिपत् ॥

'अभी भीमसेन सो रहे हैं। अरे कीचक, मैं तुझे मार डालूँगी' इस प्रकार नींद में बड़बड़ाने वाली द्रौपदी ने अपना हाथ आगे बढ़ाकर घृथवी पर पटक दिया।

अपस्मारः—

अपस्मारः परक्षोमसत्त्वदोषादिभिः, तं स्वेदस्तम्भप्रश्वासकम्पैः ।

अपस्मार—अतिशय बिछनों के या किसी स्वयं के दोष के हो जाने के कारण 'अपस्मार' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय पसीना आ जाने, जहबत् हो जाने, जमोन पर गिर जाने, जोरों से सांस लेने तथा फांपने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

प्रबोधः—

प्रबोधः दुःस्वप्ननिद्राच्छेदवशादिभिः, तं चमत्कारशय्यापरित्यागेन ।

प्रबोध—किसी अनिष्टकारी स्वप्न (दुःस्वप्न) के दिखाई देने, नींद टूट जाने या धक्का हो जाने आदि के कारण 'प्रबोध' उत्पन्न होता

है। इसका अभिनय आश्चर्य प्रकट करने, अपना बिस्तर छोड़ने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

अमर्षः—

अमर्षः विद्वैश्वर्यवतामाक्षेपेण, तं शिर कम्पोत्साहस्वेदध्यानादिभिः ।

अमर्ष—विद्याशाली तथा धनवान् पुरुषों को चुनौती देने से ‘अमर्ष’ उत्पन्न होता है। इसका अभिनय मस्तक को हिलाने, उत्साह बढ़ाने, पसीने से (शरीर के) छर हो जाने, बार बार खाद करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

अवहित्थम्—

अवहित्थं—लज्जाभयादिभिः, तदात्मगुण्या । तद्यथा—

अवहित्थ—लज्जा और भय आदि के कारण ‘अवहित्थ’ उत्पन्न हो जाता है। इसे अपने आन्तरिकभाव को छिपाने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनीत करना चाहिए। जैसे :—

धृतराष्ट्रे समायाति दुःशासनवधाकुले ।

जुगोपात्मानमुत्सङ्गे रथस्यैव सुयोधनः ॥

दुःशासन का वध सुन कर घबराये हुवे धृतराष्ट्र को आते देख कर सुयोधन ने लज्जा के कारण स्वयं को अपने रथ के बीच ही छिपा लिया।

उग्रता—उग्रता वाक्पारुष्यापराधाद्यैः, तां ताडनवधबन्धनमर्त्सनैः ।

उग्रता—तीखे बचनों के बोलने तथा अपराध करने आदि के कारण ‘उग्रता’ उत्पन्न होती है। इसका अभिनय पीटने, हत्या करने, कैद करने तथा डांटने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

व्याधिः—

व्याधिर्धातुक्षोभेन शोकेन वा, तमङ्गविक्षेपादिभिः ।

व्याधि—शरीर में विद्यमान धातुओं में विकार आ जाने या शोक आदि के कारण ‘व्याधि’ उत्पन्न होती है। इसका अभिनय हाथ-पैर आदि को पटकने आदि के द्वारा किया जाए।

उन्मादः—

उन्मादः इष्टवियोगादिभिः, तमचेतनमुघाग्रमणैः । तद्यथा—

उन्माद—अपने इष्ट जन के वियोग आदि के कारण 'उन्माद' उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिनय वेहोश होने, व्यर्थ के चकर लगाने आदि अनुभावों से किया जाता है। जैसे—

इय सा सेयमित्येव जल्पंस्तुल्येषु वस्तुषु ।

उन्मत्त इव कक्रुत्स्थः सीता मृगति कानने ॥

वन में सीता की याद में श्रीराम उसी के समान किसी भी वस्तु को देख कर पागल के समान 'यही मीठा है, वही यह है' चिल्ला चढते और पागल होकर उसे ढूँढ़ने लगते थे।

मरणम्—मरणं व्याध्यभिघाताभ्यां, तद्विकाश्रासप्रमीलास्कन्ध-भङ्गदाहफेनवान्तिभिः ।

मरण—बीमारी या किसी सांघातिक चोट के लगने से 'मरण' हो जाता है। इसका अभिनय दिक्की लेने, सांस लेने, शक्तिहीन हो जाने, कंधों के ढीला करने या टूट जाने, शरीर से अधिक संताप अनुभव करने, मुँह में फेन आ जाने तथा उन्टी करने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

व्रासः—

व्रासः भयात् पृथग् उद्वेगस्वरूपः सत्त्वाशनिखादिभिः, तं कम्प-स्तम्भसर्वाङ्गपिण्डनाद्वदोक्तिभिः ।

व्रास—केवल घबराहट के कारण 'व्रास' उत्पन्न होता है अतएव इसे 'भय' नामक स्थायी-भार से भिन्न समझना चाहिये। यह किसी खूबकार जगली जानवर को देखने, चित्तली के बड़कने आदि के कारण उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सांपने, जड़गत् एडे हो जाने, सारे अंगों को (फपाने या) सिकुड़ा लेने, मुँह से दूढ़े हुए शब्दों को निकालने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

वितर्कः—वितर्कं सन्देहेन, तं प्रभविचारप्रक्षेपश्चिरकम्पैः ।

वितर्क—सन्देह के कारण 'वितर्क' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय प्रभ करने, विचार करने, भीहो को घुमाने, सिर को फपाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए।

शोभ—

नीद दृष्ट जानत्तमानां श्रुतिश्रावविरोधैः, तदमशममन्यादिभिः ।

शौच—वेद तथा शास्त्रों के ज्ञान के कारण उत्तमपात्रों में ‘शौच’ की उत्पत्ति होती है। इसका अभिनय शम, दम, सत्य आदि को प्रदर्शित करते हुए किया जाता है। जैसे—

जनकः—

दान्तोऽहं गुरुणा हरेण विहिता राज्येऽपि लोके दया
नैवान्त पुरयोपितामनुन्यालापेऽपि सत्यं क्षतम् ।
सम्प्राप्तोऽस्मि वने स्थितं प्रियमुद्वृत्तमीकिपूर्वाश्रिते
सीताया न भवन्त्युदन्त इति मे हा विड् मनस्ताम्यति ॥

जनक—भगवान् शंकर के समान गुरु से मैंने समय की शिक्षा प्राप्त की, अपनी प्रज्ञा और सम्पूर्ण भूमितल पर सदा दया-भाव रखा और रन्यास की स्त्रियों के साथ परिहास में भी असत्य बात नहीं कही। आज मैं उस वन में आया हूँ जहाँ मेरे प्रिय मित्र वाल्मीकि ऋषि रहते हैं। (इतना होने पर भी) अपनी पुत्री सीता के किसी समाचार के न मिलने से मेरा मन सन्तप्त हो रहा है अतएव मुझे धिक्कार है।

इत्युक्ता व्यभिचारिणो भावा । सात्त्विका अष्टौ कथ्यन्ते ।

सात्त्विक भाव—इस प्रकार सचारीभावों के लक्षण बतलाए गए। अब आठ सात्त्विकभावों के लक्षण बतलाए जा रहे हैं।

सत्त्वं नाम प्रकाशनी गुण तेन निर्धृता. सात्त्विकाः । ते च—

सत्त्व’ का अर्थ है वह गुण जिसमें प्रकाश हो। इस गुण से युक्त रहने वाले भावों को ‘सात्त्विक’ भाव कहा जाता है।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः ।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २३८ ॥

इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभेद, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु तथा (८) प्रलय।

१. सत्त्व—यहाँ सांख्यदर्शन के सत्त्व गुण के लक्षण का सामान्यतः ने अनुसरण किया है। अभिनवगुप्तवाद ने सत्त्व की व्याख्या की है—‘सत्त्वज्य मनःसमाधानव्रतम् (ना० शा० G. O S Ed Vol III. पृ० १५०) अर्थात् मानसिक स्थिरता या किसी भावावेक में देर तक लीन रहना ‘सत्त्व’ है।

तत्र स्तम्भः—

स्तम्भः हर्षव्याधिमदत्रासरोषशोकादिभिः । स्तब्धनिश्चेष्टगात्रत्व-
शून्यादिभिस्त निर्दिशेत् । तद्यथा—

स्तम्भ—हर्ष, रोग, मद, त्रास, रोष तथा शोक आदि के कारण 'स्तम्भ' उत्पन्न होता है । इसका अभिनय स्तब्ध रहना, शरीर की निश्चेष्टता या शून्य हो जाने आदि अनुभागों के द्वारा किया जाता है ।
जैसे :—

विकासि कमलं दृष्ट्वा पम्पासरसि राघव ।

स्मरम् सीतामुखश्चासीदामृष्टमकलक्रियः ॥

पम्पा सरोवर में खिने हुए कमलों को देख कर सीता के मुख का स्मरण करते हुए श्रीराम अपने सारे काम भूल कर वहीं खड़े हो गए ।

यथा च हर्षे—

जयति विहितभृद्द्व्यायतैकातपत्र—

प्रतिघृतघनजालोत्तालवृष्टिर्भुरारिः ।

प्रतिमयसमलम्नद्वयदृष्टगोपीसहस्र—

स्तनतटपरिरम्भानन्दजस्तम्भमातः ॥

हर्ष के द्वारा स्तम्भ का उदाहरण :—

उन भगवान् श्रीकृष्ण की जय हो जो गोरक्षन पर्यंत का छत्र ऊपर फैला कर मेघों की घनघोर वृष्टि से गोकुल की रक्षा कर रहे हैं और वर्षा के भय से त्रस्त सोलह हजार गोपियों के घरोज तटों के आलिंगन से प्राप्त आह्लाद के कारण जिनका शरीर निश्चेष्ट हो रहा है ।

स्वेदः—

स्वेदो धर्मः, स च रज्जाश्रमर्षोर्धसम्बाधै । तं व्यजनालिक्रमम्मा-
र्वनगातेच्छामि ।

स्वेद—शरीर से पसीना निकलना 'स्वेद' कहलाता है । यह लज्जा, (अधिक) परिश्रम, क्रोध या भीड़ भाड़ के कारण उत्पन्न होता है । इसका अभिनय पसीना मलने, सर पोछने, शीतवात सेवन की अपेक्षा प्रकट करने आदि अनुभागों के द्वारा किया जाए ।

रोमाञ्चः—

‘इष्टस्पर्शसहर्षाद्यैः क्रोधशीतभयैरपि ।

तं गात्राणां कण्टकनैः’

रोमाञ्च—प्रियजन के स्पर्श हो जाने, प्रसन्नता आदि होने तथा क्रोध, शीत या भय के कारण (शरीर में) ‘रोमाञ्च’ उत्पन्न हो जाता है । इसका अभिनय शरीर पर रोंगटे खड़े होने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए ।

स्वरभेदः—

स्वरभेदः भयक्रोधमदहर्षशोकैः, त गद्गदालापेन ।

स्वरभेद—भय, क्रोध, मद, आनन्द तथा दुःख के कारण ‘स्वरभेद’ (स्वरभङ्ग) उत्पन्न हो जाता है । इसका अभिनय गद्गदवाणी से सम्भाषण करने आदि के द्वारा किया जाए ।

वेषधुः—

वेषधुः रोपत्रासजराप्रियाभिनवसङ्गमैः, तं हरणैर्गङ्गानाम् ।

तद्यथा—

वेषधु—क्रोध, त्रास, घुड़ापा तथा प्रिय के प्रथम स्पर्श या मिलन के कारण ‘वेषधु’ उत्पन्न हो जाता है । इसका अभिनय शरीर के भागों को हिलाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है । जैसे :—

कण्टकैः पद्मनालैश्च किं बाले पुलकैर्वृता ।

कम्पसे कदलीवालमम्भोदानिलोत्थिता ॥

हे बाले, तुम कमल नाल के बंटकों जैसे इन रोमाञ्चों से पूर्ण अपना शरीर रसते हुए मेघ के पवन से कपित कदली लता के समान क्यों कांपने लगी हो ।

वैवर्ण्यम्—

वैवर्ण्यं शीततापभयक्रोधशोकैः, तन्मुखच्छायाविपर्ययेण । तद्यथा—

वैवर्ण्य—शीत, सताप भय, क्रोध तथा शोक के कारण ‘वैवर्ण्य’ उत्पन्न हो जाता है । इसका अभिनय मुँह का रंग उड़ जाना आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए । जैसे :—

अनसूयाकृतोऽप्यासीन्न हारी तिलकाङ्कुरः ।

सीताया विश्वे मर्त्यैर्वैवर्ष्यकलुषे मुखे ॥

सीता के विरह के कारण शोभाहीन हो जाने वाले श्रीराम के ललाट पर अनसूया जी के द्वारा किया हुआ चन्दन-तिलक सुन्दर नहीं दिखाई देता था ।

अथ—

अथु धूमाञ्जनामर्पहर्षानिमेपदर्शनशोकैः, तं लोचनयोर्मार्जनादिभिः ।

तद्यथा—

अथु—धुआँ लग जाने, काजल लगाने, क्रोध करने, पलक न गिरने, एक टक देखने तथा शोक के कारण आँखों में 'अथु' उत्पन्न हो जाने हैं । इसका अभिनय आँखों को पोंछने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाए । जैसे :—

पाण्डुराक्षिपुटमान्ता पक्ष्माप्यश्रूदबिन्दुभिः ।

जटिलान्यहरत् कृष्णा दुःशासनपराभवे ॥

दुःशासन के द्वारा अपमान किये जाने पर वीरपत्नी के नेत्रों के पट भाँसुओं से सफेद और चरोनिमों मोटी धूलों से जटिल दिखाई पड़ने लगीं ।

हर्षे यथा—

आनन्दजन्य अथु का (निम्न) उदाहरण :—

विश्व्योल्लसितप्राणमालिङ्गयोरसि लक्ष्मणम् ।

रामो बाष्पतरचारचक्षुः प्रैक्षत मारुतिम् ॥

लगी हुई शक्ति को हृदय से खींच कर निकालने के पश्चात् आराम से साँस लेते हुए श्रीलक्ष्मण को आलिङ्गन करते हुए श्रीराम ने हनुमान् को अपनी गीली आँखों से निहारा ।

प्रलयः—

प्रलयोऽभिघाताच्च, तं महीपातेन ।

प्रलय—चोट आदि लग जाने के कारण 'प्रलय' (उत्पन्न) होता है । इसका अभिनय पृथ्वी पर गिरने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए

एकोनपञ्चाशदमी हि भावाः

स्थिराश्चराः सत्त्वसमुद्बहाश्च ।

योज्यास्तथा वस्तुषु लक्षणै-

र्यथा स्वरूपामुपयान्ति शोभाम् ॥ २६३ ॥

इन उन्मत्तास स्थायी, संचारी और सात्त्विकभावों की नाटकीय कथा वस्तु में औचित्यपूर्ण संयोजना की जाने पर ये अपने स्वरूप के अनुरूप शोभा को प्राप्त करते हैं ।

स्थायिनामेव भावानामुपकाराय सर्वदा ।

प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥ २४० ॥

एवमेव स्थायिनां रसानामुपकाराय ये रसाः प्रवर्तन्ते उपकृत्य च निवर्तन्ते ते व्यभिचारिणो मन्तव्याः ।

सात्त्विक और संचारी भावों को गतिशील रहना सदा स्थायीभाव की पुष्टि के लिये ही रखा जाता है अर्थात् जो भाव रस या स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं तथा पुष्ट करने के पश्चात् समाप्त हो जाते या चने जाने हैं उन्हें संचारीभावा समझना चाहिए ।

अथ रूपकाणामारम्भकालः कथ्यते—

रूपकों के प्रयोग के समय—अथ हरकों [के आरम्भ करने आदि अनेक कार्यों] के लिए उपयुक्त समय का वर्णन करते हैं ।

रूपकैर्ष्वेव सर्वेषु कालो वाच्यः प्रवृत्तये ।

शरत् सद्वामविषये विवाहे ग्रीष्ममाघवौ ॥ २४१ ॥

रूपकों में रहने वाली घटना तथा कार्यों को समय के अनुरूप समय में रखा जाता है [ऐसा करने पर ये अधिक प्रभाप्रशालिता और उपयुक्तता धारण कर लेते हैं] ऐसे समय इस प्रकार समझना चाहिए ।]

संक्राम के लिये शरद् ऋतु तथा विवाह के लिये भीष्म और यशस्त ऋतु उपयुक्त होती है ।

प्रभातमपि कालस्य नामान्यात् कश्चिदिच्छति ।

एष क्षणः सहस्रांशोद्दयेन प्रशस्यते ॥ २४२ ॥

सामान्यतः सभी कार्यों के लिये प्रातःकाल को कुछ विद्वान् उपयुक्त मानते हैं क्योंकि यह समय सूर्योदय के कारण प्रशस्त माना जाता है।

देवार्चनोत्सवः स्वप्नो विहारः केलिकानने ।

परावस्कन्दनत्राणं क्षणाः कन्यान्ववेक्षणे ॥ २४३ ॥

कन्या को देखने के उपयुक्त अवसर हैं—(उसका) किसी देवता का पूजन के लिये निकलना, उत्सव के बीच, स्वप्न में या नपवन् में घूमना या किसी के द्वारा बलात् हरण या आक्रमण के समय उसकी रक्षा करने के अवसर पर ।

अनुरागपयोराशिकलोलोक्षासहेतवः ।

अमी क्षणाः प्रशस्यन्ते यूनः कन्यान्ववेक्षणे ॥ २४४ ॥

किसी युवक को प्रथम बार कन्या के देखने और प्रणय-समुद्र के कलोलों को उल्लसित करने में कारणीभूत होने के लिये उपयुक्त अवसर ही उपयुक्त तथा उत्तम माने गये हैं ।

उत्तमाः संस्कृतं नित्यं दिव्या वेश्याः कुमारिकाः ।

पठेयुः कर्हिचित् सर्वाः शौरसेनीं निरन्तरम् ॥ २४५ ॥

भाषा-विधान—उत्तम तथा दिव्य पात्रों के सदा संस्कृत भाषा में संवाद रखे जाते हैं । वेश्या तथा कुमारिकाओं के भी कभी कभी संस्कृत भाषा में संवाद रखे जाँए तथा वेश्या, कुमारिका-आदि स्त्री-पात्रों के संवाद सामान्यतः शौरसेनी में सदा रहने चाहिए ।

नृपोऽपि कार्यतः कोऽपि सेवकस्य वरायितः ।

शौरसेनीमथ प्राच्याभावन्तीं कर्हिचित् पठेत् ॥ २४६ ॥

यदि किसी परिस्थिति या कार्यवश राजा जैसे उत्तमपात्र को सेवक आदि की दशा में रहना पड़े तो उसके संवाद शौरसेनी, प्राच्या या अवन्ती प्राकृत में रखे जाँए ।

एतमेव वणिक्त्रेष्ठिवालकाश्च विदूषकाः ।

शकारयहला पाठ्या शकारस्य प्रयोऽन्तमिः ॥ २४७ ॥

चेटवामनरक्षांसि मागधीं तत्परेऽधमाः ।

पाठ्या वनौकसां भाषाऽऽभीरटकैः स्वदेशजा ॥ २४८ ॥

ये ही भाषाएँ वणिक्, भ्रेष्टो, बालक तथा विदूषक की रहनी चाहिए। जकार की भाषा में शकार वर्ण की बहुलता रखी जाए। चेट, वामन, राक्षस आदि अधम पात्रों के सजाद मागधी भाषा में रहने चाहिए। घन में रहने वाली जातियों की, आभीर तथा टक्क जाति के पात्रों के अपनी सहज देशी भाषा में सजाद रखें जाए।

सट्टके स्त्रीप्रधानत्वाद् रूपकस्यानुरोधतः ।

नृपः स्त्रीवत् पठेदेयः पाठस्य नियतो विधिः ॥ २४९ ॥

सट्टक में नाटिका के समान स्त्री पात्रों की बहुलता रहने तथा नाट्य शास्त्रीय लक्षण के अनुसार व्यवहार करने के कारण राजा (जैसे नायक तथा उत्तम पात्र) की भी स्त्री पात्र के समान प्रारुतभाषा ही रखी जाए। क्योंकि भाषा का यही प्रधान आचार्यों द्वारा मान्य है।

नाटकादिषु कीर्त्यन्ते संज्ञा नियमपूर्वकम् ॥

पूर्वरङ्गो भवेत्तेषामादौ देवार्चनाविधिः ।

तद्विधाता स विज्ञेयः सूत्रधारश्च सूत्रभृत् ॥ २५० ॥

अनुष्ठानं प्रयोगस्य सूत्रमाहुः सरीजकम् ।

तत्सहायस्तु विज्ञेयः पारिपार्थिकसंज्ञकः ॥ २५१ ॥

नाटकीय पात्रों के नाम तथा कार्य—अब हम नाटकादि (में रहने वाले उपकारण, पात्र आदि) की पारिभाषिक संज्ञाओं का स्वरूप बतलाते हैं —

अङ्गों के आरम्भ में सर्वप्रथम पूर्वरंग किया जाता है तथा पूर्वरंग के आरम्भ में देवताओं का पूजन-अर्चन किया जाए। इस धार्मिक पूजन आदि का अनुष्ठान पुरुष ‘सूत्रधार’ कहलाता है; क्योंकि यह सारे नाटकीय ‘सूत्र’ को अपने हाथ में रखता है। बीज से युक्त नाट्य-प्रयोग को ‘सूत्र’ कहा जाता है। सूत्रधार का सहायक ‘पारिपार्थिक’ कहलाता है।

तस्मिन् रङ्गाद् बहिर्भूते संविधायार्चनाविधिम् ।

ततस्तद्वेषमापन्नः काव्यप्रस्थापको विशेत् ॥ २५२ ॥

स नटो भाग आख्यातस्तस्यायेति कुटुम्बिनी ।

नाटकादिकमेतत्तु रूपकं समुदाहृतम् ॥ २५३ ॥

हरताल्लादिसामग्री मगी सैर तु वणिका ।

भूमिका स्थानमाख्यातं पात्राणां रङ्गचारिणाम् ॥ २५४ ॥

ये विशन्ति च कार्यार्थं निष्कामन्ति च रङ्गतः ।

ते सर्वे पात्रसंज्ञाभिर्व्यपदेश्याः प्रयोक्तृभिः ॥ २५५ ॥

जब यह सूत्रधार देवताओं की रंगमञ्च पर पूजन-विधि सम्पन्न करने के पश्चात् चला जाता है तब उसी के समान वेश धारी (स्थापक नामक) अन्य पात्र रंगमञ्च पर प्रवेश कर प्रस्तुत काव्य की स्थापना करता है। नट को भाव शब्द से तथा उसकी भार्या को आर्या या कुटुम्बिनी शब्द से परस्पर सम्बोधित किया जाता है। नाटक आदि दृश्य काव्य के भेद 'रूपरु' कहलाते हैं। हरताल, स्याही आदि [नेपथ्य रचना या रंग-संज्ञा के उपकरण] रंग बणिका कहलाते हैं। रंगमञ्च पर अभिनयार्थ अवतरित होने वाले पात्रों का अपने स्थानों के अनुसार वेश धारण करना 'भूमिका' कहलाता है। जो अभिनय करने के लिये रंगमञ्च पर अवतरित होते हैं तथा अपना कार्य पूर्ण हो जाने के पश्चात् रंगमञ्च से प्रस्थान कर जाते हैं वे सभी व्यक्ति 'पात्र' कहलाते हैं।

नाटकादि(दौ)विनिष्पत्ति(न्)फलयोगस्य भाजनम् ।

नायकः कथितः सद्भिस्तस्य भार्या च नायिका ॥ २५६ ॥

नाटक के फल का एक मात्र उपभोग करने वाला पात्र 'नायक' कहलाता है तथा इसकी भार्या 'नायिका' होती।

आख्यानमिति वृत्तं स्यादितिहासः स एव च ।

नाटकादिकथासूत्रप्रयोगाणां प्रपञ्चकः ॥ २५७ ॥

नाटक की कथाप्रस्तुति को 'इतिवृत्त' कहा जाता है यही इतिहास भी कहलाता है तथा नाटक के कथासूत्र तथा प्रयोग का यही विस्तार करता है।

आमिमुख्ये प्रविष्टाभिर्नटीभिर्यत् प्रगीयते ।

पुण्यार्थं नाटकार्यं वा तत् मङ्गीतकमिष्यते ॥ २५८ ॥

नाटक के आरम्भ में रंगमञ्च पर आकर किसी धार्मिक विधि की पूर्ति या नाटक के अग के रूप में नटियों के द्वारा जो गायन किया जाता है उसे 'मङ्गीतक' समझना चाहिए।

वीणावेणुमृदङ्गश्च कांस्यं भाण्डमुदाहृतम् ।

भाण्डवार्धः कृतं त्वेभिरातोद्यं वाद्यमुच्यते ॥ २५९ ॥

लासकः नर्तकः प्रोक्तो नटः शैलूप एव च ।
 स्त्रीजीवी भरतसुतो रङ्गाचार्यो महानटः ॥ २६० ॥
 अस्यैव कीर्त्यते भार्या लासिका नर्तकी नटी ।
 सैव रङ्गमुपारूढा वक्तव्या रङ्गनायिका ॥ २६१ ॥
 रङ्गस्तु नृत्य संस्थानं गोष्ठी परिपदुच्यते ।
 सामाजिकाः पारिपदाः सभ्याश्च प्रेक्षका मताः ॥ २६२ ॥
 रङ्गेषु पुष्पप्रकरः कृतः स्वस्त्ययनं भवेत् ।
 चन्द्रोदयो वितानन्तु पटी जवनिका स्मृता ॥ २६३ ॥
 अन्तर्यजनिकामाहुर्नेपथ्यस्थानवर्तिनीम् ।
 नृत्ये पादस्य विन्यासधारी सैवाभिधीयते ॥ २६४ ॥

वीणा, बासुरी (वेणु) मृदंग, म्हाक (कास्य) आदि को ‘माण्ड’ (वाद्यवृन्द) कहा जाता है। इन वाद्यों के द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला संयुक्त वादन ‘आतोद्य’ (विधान) कहलाता है। नृत्य करने वाला पात्र ‘नर्तक’ तथा अभिनय करने वाला पात्र ‘शैलूप’ कहलाता है। जो वियों की भूमिका लेता हो उसे ‘भरतसुत’ [अथवा जो अपनी जीयिका अपनी भार्या के नृत्य से होने वाली आय से चलाता हो उसे ‘भरतसुत’ कहते हैं]। ख्यातिप्राप्त और उत्तम अभिनेता को महानट या रगाचार्य कहा जाता है। इस महानट या रगाचार्य की भार्या को लासिका, नर्तकी या नटी कहते हैं। यह जब रगमञ्च पर अवतरित होती है तो इसे ‘रगनायिका’ [रगमञ्च पर सर्वप्रथम अग्रतीर्ण होने वाली नर्तकी] कहते हैं। जिस स्थान पर नाट्य प्रयोग खेला जाता है उस परिष्कृत वेदिका को ‘रगमञ्च’ कहते हैं। जहाँ सभी दर्शक बैठते हैं उस स्थान को ‘परिपद्’ तथा परिपद् में आसीन मनुष्यों को सामाजिक, पारिपद, सभ्य या प्रेक्षक कहा जाता है। रगमञ्च की छत को ‘चन्द्रोदय’ तथा पर्दों को [कनात को] ‘जवनिका’ कहा जाता है। नेपथ्य-गृह (के द्वार) पर लगाया जाने वाला पर्दा ‘अन्तर्यजनिका’ कहलाता है। नृत्य आदि में पैरों को नियमित प्रकार से पृथ्वी पर रखने हुए चलना ‘चारी’ कहलाता है।

सोमसूर्यान्वयध्रुवो नरेन्द्रा नायकाः स्मृताः ।
 महाराजाश्च देवाश्च वाच्या भट्टारकाश्च ते ॥ २५५ ॥
 तेषां भार्या महादेवी देवी च महिषी च सा । सम्पन्न करने
 युवराजो भवेत् पुत्रः कुमारो भर्तृदारकः ॥ एक नामक)
 सुता सङ्कीर्त्यते तेषां कविभिर्भर्तृदारिका । ना कता
 अपत्यकृतिका या च कृत्रिमातनया भवेत् ॥ १६७ ॥
 आवुकश्च पिता तात आवुचो भगिनीपतिः ।
 अम्बा माताऽञ्जुका श्वश्रूचिका भगिनी स्मृता ॥ २६८ ॥

सम्बोधन—सूर्य या चन्द्र वशा मे उत्पन्न होने वाले राजा को एक
 का नायक रखा जाता है । इन्हें महाराज, देव या भट्टारक शब्द से
 सम्बोधित किया जाता है । राजा की भार्या को महादेवी, देवी, महिषी
 शब्द से सम्बोधित किया जाता है । महाराजा के पुत्र को युवराज या
 भर्तृदारक शब्द से तथा राजकुमारी को भर्तृदारिका शब्द से सम्बोधित
 किया जाता है । यदि राजकुमारी औरस पुत्री न होकर बेट्टी बनायी गयी
 हो तो 'अपत्यकृतिका' कहलाती है । पिता को तात या आवुक शब्द से
 सम्बोधन दिया जाता है तथा बहिन के स्वामी (जीजा) को 'आवुचो'
 शब्द से सम्बोधित किया जाता है । माता को 'अम्बा' शब्द से, सास
 को 'अञ्जुका' शब्द से तथा बड़ी बहिन को 'अचिका' शब्द से सम्बोधित
 किया जाता है ।

ज्येष्ठो भ्राता भवेदार्यः आर्या तस्यैव बल्लभा ।

जातापत्यो च वत्सः स्यात् सचिवोऽमात्य एव च ॥ २६९ ॥

वयस्पकः चाटुपटुः स एव च विदूषकः ।

अन्तःपुरचरो राज्ञां नर्मामात्यः प्रकीर्तितः ॥ २७० ॥

वेश्यां प्रति सखा रा(प्र)ज्ञो मित्र इत्यभिधीयते ।

तदृत्ताचार्यकं प्राज्ञः पीठमर्दः प्रकीर्तितः ॥ २७१ ॥

बड़े भाई को 'आर्य' शब्द से तथा भाभी को 'आर्या' और (इनके तथा
 अपने) बच्चे को 'वत्स' शब्द से सम्बोधित किया जाता है । (राजा के
 द्वारा) मन्त्री को 'अमात्य' शब्द से, मित्र को 'वयस्प' शब्द से सम्बोधित
 किया जाता है । विदूषक राजा को और राजा विदूषक को 'वयस्प' शब्द से

लामकः मत करते हैं, क्योंकि यह राजा का चाटुकार और रनिवास में सीनीचेय होता है। वेश्या के साथ किये जाने वाले व्यवहारों का ज्ञाता मान राजा का मित्र ‘विट’ शब्द से सम्बोधित किया जाता है। अरौ को कला या शिल्प का शिक्षण देने वाला ‘पीठमर्द’ कहलाता है (?)।

सं कर्त्तव्या दत्तनामानः क्षमावतीनां प्रयोक्तृभिः ।
सेनापतिः प्रतीहार दण्डपाशिक रक्षिणः ॥ २७२ ॥
तद्वितापत्यपिहितैः प्रत्ययैर्ब्राह्मणादयः ।

राजो विदूषकामात्यमृतकञ्चुकिनस्तथा ॥ २७३ ॥

लतापुष्पक्रियादेशनाच्याख्यो दासिकाजनः ।

दासा अपि तथा कार्या भृगपक्ष्यादिकाह्वयाः ।

यथा कुरङ्गकुम्भीरकलहंसोत्पलादयः ॥ २७४ ॥

पात्रों का नाम निधान—राजाधिकृत सेनापति, द्वारपाल, अधिक (दण्डपाशिक) तथा अग रक्षकों के नामों के अन्त में ‘दत्त’ शब्द रखा जाए। राजा, विदूषक, अमात्य, बन्दीजन तथा ब्राह्मण आदि के नाम अपत्यार्थक प्रत्ययों के अनुसार रखे जाते हैं। दासियों के नाम किसी लता, पुष्प या उन्हीं के देश, व्यवसाय या कार्य के अनुरूप रखा जाए। दासों के नाम भृग या पक्षियों के नाम पर रखे जाए। जैसे :—कुरंगक, कुम्भीरक, कलहंसक, उत्पलक आदि ।

उत्पादित-रुधायोगे रूपके पृथिवीपतिः ।

आर्यकः पालकश्चेति नाम्नोच्चार्यः सुदर्शनः ॥ २७५ ॥

अस्य भार्या शशिकला चन्द्रलेखेन्दुमत्यपि ।

सुकुमारोचिताह्वाना मिधातव्ययवाः प्रयोक्तृभिः ॥ २७६ ॥

सखीजनस्तथैवास्याः प्रियम्बदादिनामभिः ।

वैभ्राननन्दनादीनां नामभिः केलिराननम् ॥ २७७ ॥

जिस रूपक में उत्पाद्य कथाग्रस्तु हो उसमें राजा का नाम आर्यक, पालक या सुदर्शन जैसा रखा जाता है। इस राजा की भार्या के नाम शशिकला, इन्दुमती जैसे सुकुमारता से पूर्ण अर्थ वाले रखे जाते हैं। रानी की परिचारिकाओं [तथा मदियों] के प्रियम्बदा आदि नाम रहते हैं। इनके विहार के लिए निर्मित उपरानों के वैभ्राज या नन्दन नाम रखे जाएँ।

फलजातिगुणाचारैः कपिचण्डालराक्षसाः ।

चौरा घृतकरा शिल्पि-नात्रिकारोहकादयः ॥ २७८ ॥

उग्रनाम्ना गृहीतव्या मुण्डव्रतनिपेयिणः ।

अघोर-भैरवाचार्य-कपाल-शिखरादयः ॥ २७९ ॥

धार्मिकाः श्रीगुरुस्कन्ददासादिकसमाह्वयाः ।

नन्द्युत्तरपदा वाच्या क्षपणा मिथुनादयः ॥ २८० ॥

वसुत्तरपदा निग्रा आचार्या नाट्यदेशकाः ।

दत्तदासभयैः सर्वैरुत्तरस्थैर्वणिग्जनः ॥ २८१ ॥

सेना लेखा पताका च दत्तेत्युत्तरवर्तिनी ।

सर्वेण सन्नियोक्तव्यं वेश्यानां नाम पेशलम् ॥ २८२ ॥

रामिलकामिलाह्वाना नागराः परिकीर्तिताः ।

घानर, चाण्डाल या राक्षस पात्र के नामों में अन्त में फल, जाति, गुण या आचार का उल्लेख रहना चाहिए। चौर, बदई, नात्रिक या सूत (रथचालक) पात्रों के नाम उग्रनामपूर्ण रहने चाहिए। शेर मत के सन्ध्यासी पात्रों के नाम अघोर, भैरवाचार्य, कपाल या शिखर आदि रखे जाते हैं। धार्मिक पात्रों के नाम श्रीगुरु, स्कन्ददास आदि रहने चाहिए। क्षपणक तथा मिथुओं के नामों में 'नन्दी' शब्द को अन्त में रखा जाय। ब्राह्मण या नाट्यकला के शिक्षक पात्रों के नामों में 'वसु' शब्द को अन्त में रखा जाना चाहिए। वैश्य पात्रों के नामों में 'दत्त' या 'दास' शब्द को अन्त में जोड़ा जाय। वेश्याओं के नामों के अन्त में सेना, पताका, लेखा आदि कोमलतापूर्ण तथा सुन्दर शब्दों को रखा जाय। तथा व्यवहार किया जाय। नगर के शिष्टजन के रामिल या कामिल जैसे नाम रहने चाहिए।

वारयोपिजनस्याख्या मृत्यैरुक्ता तथाञ्जुका ।

सर्वदेवाभिधातव्या सैत्र (वास्तिति) नागरैः ॥ २८३ ॥

रुद्धे सम्प्रोधनाकारे राजा सूते वदेत्यदा ।

आयेति च स चाप्यास्मिन्नायुष्मन्निति मन्त्रतः ॥ २८४ ॥

महादेवी परीवारसमाह्वाने समुत्सुका ।

हञ्जे चेटीं प्रति ग्राह हलाह्वाने सर्षा प्रति ॥ २८५ ॥

हण्डे नीचस्तु नीचेषु सौम्येति प्रियकारिणी ।
 भद्रमारिष हंहो हे भो भद्रमुखकादयः ॥ २८६ ॥
 अपि अङ्ग ननु प्रायो जाल्ममूढेति भर्त्सने ।
 अपेहीत्यपमानेषु धिक्पापे प्रयाहि च ॥ २८७ ॥
 विस्पर्धायामरेजे च क्रोधोक्ता स्मृतमाः पदम् ।
 अथ किं स्त्रीक्रियालापे अये स्यादवधारणे ॥ २८८ ॥
 शान्तं स्मृतमसम्भाव्यं साम्प्रतं युक्तमिष्यते ।
 यत्सत्यमात्मसम्भाव्यं वीजमेवानुभूयते ॥ २८९ ॥
 ही चित्रे स्मृतमां ज्ञाने हूँ क्रोधेष्वहहार्तिषु ।
 हन्त हर्षेऽनुम्पायामत्यर्थेऽति हि भोः पदम् ॥ २९० ॥
 हापदं खेदवाची स्याद् हाधिक् हा कष्टमेव च ।
 दिष्टयेत्यानन्दने दिष्ट्या वर्धतिरुत्सवे तथा ॥ २९१ ॥

पात्रों की सम्बोधनविधि—वेश्या मालकिन को संबोधित करने के लिये ‘अञ्जुका’ शब्द से सम्बोधित करें। नागरकजन वेश्या को ‘वासु’ शब्द से सम्बोधित करें। राजा अपने मारुति को ‘आर्य’ शब्द से तथा सारुति राजा को ‘आयुष्मन्’ शब्द से सम्बोधित करते हैं। महारानी अपनी दासियों को ‘हज्जे’ और सत्तियों को ‘हला’ शब्द से सम्बोधित करें। नीच जाति की दासी को ‘हण्डे’ शब्द से सम्बोधित करना चाहिए। किन्हीं प्रिय या कृपापात्र मनुष्यों को ‘सौम्य’ शब्द से सम्बोधित करना चाहिए तथा भद्र, मारिष, हंहो, हे, भो या भद्रमुख शब्दों द्वारा भी सम्बोधित किया जाए। सामान्यतः पात्रों को अयि, अङ्ग ननु आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। (किसी को) डाटने के अवसर पर जाल्म या मूढ़ शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अपमान करने के अवसर पर अपाधेधिक् या प्रयाहि शब्द का (अनुचित कार्य करने वाले पुरुष को प्रति) सम्बोधन रखा जाता है। स्पर्धा के समय अरे या रे रे शब्दों से सम्बोधन किया जाए तथा क्रोधावेश में कथन के अवसर पर ‘आ’ शब्द का प्रयोग किया जाए। किसी तप्य या कथन को स्त्रीकार करने के अवसर पर ‘अथ किम्’ तथा बहूतों में से एक का निश्चय करने के अवसर पर

‘अये’ शब्द का प्रयोग किया जाए। किसी अशोभन या अभगलकारी घटना के अवसर पर ‘शान्त’ शब्द का तथा उपयुक्त कार्य के अवसर पर ‘साम्प्रतम्’ शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यदि किसी के द्वारा स्वयं किसी मूल बात का अनुभव लिया जाता हो तो ऐसे अवसर पर ‘यन् सत्यम्’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। किसी आश्चर्यकारी कार्य या घटना के घटित होने पर ‘ही’ या ‘चित्र’ शब्द का प्रयोग किया जाए। किसी बात को समझने के अवसर पर ‘औ’ शब्द का, क्रोध के अवसर पर ‘हुँ’ शब्द का और पीडा के समय ‘अह्हा’ शब्द का प्रयोग किया जाए। आनन्द के अवसर पर ‘हन्त’ शब्द का, अनुकम्पा के समय ‘अति, ही तथा भो’ शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। कष्ट या खेद में हा, हा धिक् या हा कष्टम् शब्द का, आनन्द के समय दिष्टया शब्द का और शुभ या मंगल अवसर में ‘दिष्टया वर्धते’ शब्द का प्रयोग किया जाए।

साधयामीति गत्यर्थे मृतौ न भवसीति च ।
 निःपूर्वं पततिश्चैनं वर्द्धयामि महीमिति ॥ २९२ ॥
 प्राकृते हा धिगित्यर्थे हृद्धिं वीष्मापदान्विता ।
 अम्मोम्मेहे द्वयमिदं विस्मयद्योतनानिधौ ॥ २९३ ॥
 अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्तौ अविदाग्निदं भोः पदम् ।
 शकारस्यैव भाषायां बाम्ब बालाजने पदम् ॥ २९४ ॥
 अस्यैव सखु वाक्येषु पर्यापर्यस्तुकीर्तनम् ।
 यथाम्बुभिर्जलैस्तथैः स्नातोऽहं प्राह राष्ट्रियः ॥ २९५ ॥
 हेः स्मृतः क्रोधरिपये दुःखानुभवरर्षणि ।

प्रस्थान करने के अवसर पर ‘साधयामि’ शब्द का तथा मरण की संभावना या अग्रस्था होने पर ‘न भवसि’ शब्द का प्रयोग किया जाए। मरण के अर्थ में निपनति या ‘वर्द्धयामि महीम्’ जैसे शब्दों का प्रयोग लिया जाता है। प्राकृत भाषा में हाधिक शब्द को ‘हृद्धि’ शब्द में दुहराते हुए रखा जाए। आश्चर्य प्रकट करने के अवसर पर अम्मो या अम्महे शब्दों का प्रयोग लिया जाए। किसी न देखी या सुनी गयी बात को सुनने पर या ऐसे किसी व्यक्ति के देखने पर अविश, अरिदं भो’ जैसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। किसी तरुणों या बाला को

शकार (पात्र) ‘वासु’ शब्द से सम्बोधित करता है। राष्ट्रिय शकार के वास्त्यों में अनेक पर्यायवाची शब्दों का एक साथ प्रयोग रखा जाता है। जैसे मैंने अबु से, तोय से और जल से स्नान किया है। क्रोध या किसी कष्टपूर्ण अवस्था या किसी वेदना के अनुभव की दशा में ‘ई’ शब्द का प्रयोग रखा जाता है।

ऊढायां देवि दयिते पुमानाह प्रियां प्रति ॥ २९६ ॥

आर्यपुत्र च जीवेश नाथ साप्याह बल्लभम् ।

अपूर्णा प्रत्याह तरुणो महामागे वरोरु च ॥ २९७ ॥

सा चाह तं महाभाग—सुभगेत्यादिभिः पदैः ।

आर्येति नृपतिर्निप्रं तमायुष्मन्निति द्विजः ॥ २९८ ॥

भगवन्नाह राजा तं राजन्निति तपोधनः ।

भदन्त क्षपणे भिक्षौ धर्मोपासक तौ नृपम् ॥ २९९ ॥

पति विराहिता भार्या को देवि या दयिते शब्द से सम्बोधित करे और वह भी अपने स्वामी को आर्यपुत्र, जीवेश या नाथ शब्द से सम्बोधित करती है। किसी तरुण को अपूर्ण या अपरिचित कन्या को प्रथम बार देखने पर उसे महामागे या वरोरु शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए तथा ऐसी कन्या भी उस युवक को महाभाग या सुभग शब्दों से संबोधित करे। ब्राह्मण को राजा आर्य शब्द से तथा ब्राह्मण राजा को आयुष्मन् शब्द से सम्बोधित करे। राजा (किसी भी) तपस्वी को भगवन् शब्द से और तपस्वी को राजा राजन् शब्द से सम्बोधित करे। क्षपणक या भिक्षु को राजा ‘भदन्त’ शब्द से और वे भी राजा को धर्मोपासक शब्द से सम्बोधित करें।

परिक्रम्यादयः शब्दा ल्यप्ता नात्यसूत्र(च)काः ।

दिशन्ति नात्यपात्राणां ततः कार्यं यथागतम् ॥ ३०० ॥

मक्रोध—माश्रु—मन्त्राय—सोत्कम्प—सदयादिभिः ।

मन्त्रिधेयक्रियाजातं मिथिनष्टि गणो ह्ययम् ॥ ३०१ ॥

स्वगतमात्मगतश्चैव स्वयं त्रिपताकपाणिना ।

यः पठेच्च संयोज्यं द्वयमेतद् प्रयोक्तृभिः ॥ ३०२ ॥

प्रश्नयित्वैकमन्योन्यं द्वाभ्यां यत् सलु पठ्यते ।

जनान्तिकं तत् वर्तव्यं त्रिपताकैः पाणिना ॥ ३०३ ॥

अप्यारितकं तच्च परिवर्तकमुच्यते ।

स्वरूपादन्यरूपत्वमन्यरूपात् स्वरूपता ॥ ३०४ ॥

अभिनय तथा अन्य नाट्यक्रिया के सूचक शब्द तथा उनसे प्रयोगविधि—नाटक में त्यप् प्रत्ययान्त परिक्रम्य आदि शब्दों के प्रयोग अभिनेताओं के घन कार्यों का संकेत करते हैं जो नाटक में प्रस्तुत किये जाने वाले हों। इसी प्रकार मञ्च पर घटलाये जाने वाली त्रिषु अभिनय क्रियाओं को सक्रोध, साधु, सत्रास मोरम्प तथा मदय शब्दों में प्रयुक्त किये जाने पर ये अपने अर्थों के अनुसार निविष्ट या संकेतित कार्य करते हैं। यदि नाटक में स्वगत या आत्मगत शब्द का प्रयोग करते हुए सवाट रये गए हों तो उन्हें 'त्रिपताक' मुद्रा में हाथ को रक्ते हुए प्रस्तुत किया जाए तथा यदि दो पात्र एक दूसरे को न सुनाते हुए संभाषण करें तब भी 'त्रिपताक' मुद्रा में हाथ रहना चाहिए तथा ऐसी स्थिति में 'जनान्तिक' शब्द का प्रयोग रखा जाना चाहिए। 'जनान्तिक' का दूसरा नाम अप्यारितक भी है। किसी दूसरे पात्र के अनुसार स्वयं के या स्वयं को देखकर दूसरे पात्र के स्वरूप में होने वाले परिवर्तन को भी 'परिवर्तक' कहा जाता है।

स्तोरुस्तोरुपदारब्धं समाममसमागि वा ।

चूर्णकं न्यायिन्यस्तं वदनकं तदुच्यते ॥ ३०५ ॥

सम्प्रचार्य स्वयं पूर्णं यत् त्रिचिदभिधीयते ।

प्रकाशं तत्र कर्त्तव्यं यथा प्रस्तारयतिना ॥ ३०६ ॥

अल्पसमासवाले पदों से निमित्त गद्यरचना को जिमसे या तो समास न हो या छोटे समास हों—एक निश्चित क्रम में रखा जाए तो 'चूर्णक' नामक गद्य रचना का एक प्रकार बन जाता है। चूर्णक का दूसरा नाम वदनक भी प्रसिद्ध है। किसी मन्दर्भ रियेय में जब सोय विचार के बाद किसी बात को पात्र प्रकट रूप में कहता हो तो उसे अगम पर 'प्रकाशम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

गद्येनोत्पल्लिख्यमात्रा युद्धाट्म्यकीर्तने ।

या वलीनां पाठोऽयं प्रायः सद्भिर्निर्गध्यते ॥ ३०७ ॥

युद्ध तथा जनसम्मर्द या मनुष्यों की भौड भाड का अपनी स्थिति के अनुसार वर्णन करने में ‘उत्कलिनाप्राय’ गद्यरचना का प्रयोग किया जाए। प्राय अनुभवी लेखक इसे बली के नाम से अपनी रचना में रखा करते हैं।

अपकाशागतं वास्यमावकाशिकमुच्यते ।

न विशेष पात्रमपरं कार्यं स्यात्तेन तद्यथा ॥ ३०८ ॥

स्वरूपं कार्यमभिप्रेतं चकतुं पात्रेण किं फलम् ।

आकाशवाङ्मनेष्व्योक्तिलेखान् तत्रापकाशयेत् ॥ ३०९ ॥

आकस्मिक रूप में या अतर्कित अवस्था में जिन शब्दों या वाक्यों का प्रयोग किया जाए उन्हें ‘आवकाशिक’ कहा जाता है। इस समय किसी (नयीन) पात्र का प्रवेश नहीं होता। इसका कारण यह है कि थोड़े से उद्दिष्ट कार्य को बतलाने के लिए एक पात्र को मञ्च पर भेचना बेकार रहता है। इस प्रकार के कार्यों को आकाशवाणी, नेपथ्यकथन या पत्र के द्वारा सरलता से (नाटकदि में) रखा दिया जाए।

अभिनयो व्यञ्जकः सत्यवाङ्मनेष्व्याङ्गकः सह ।

आमिमुख्यं नयत्यर्थं दृष्टुः कपिनचः स्थितम् ॥ ३१० ॥

कवि के आशय को दर्शकों के सम्मुख अपनी सात्विक, बाह्यिक, आहार्य तथा आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा ले जाने के कारण [या प्रस्तुत करने के कारण] इसे ‘अभिनय’ समझा जाता है।

रामराजणभूयिष्ठसत्त्वानां रूपचेष्टिते ।

अनुकारैः स्मृतं नाट्यं तद्विधेन व्यवस्थितम् ॥ ३११ ॥

ताण्डनं नाम पुरुषैः रङ्गे यदभिनृत्यते ।

यच्चष्टाभिस्तथा स्त्रीभिस्तद्वास्पमभिधीयते ॥ ३१२ ॥

पुस्तन्तु रथचर्मादि वस्त्रचर्मादिनिमित्तम् ।

रङ्गेषु यत् प्रयोगार्थं क्रियते भरतात्मजैः ॥ ३१३ ॥

पारितोषिकमित्याहुर्नृत्तं मर्म्यैर्नृत्यदर्शनाद् ।

दीयते परितोषेण गृहपाठकनामजत् ॥ ३१४ ॥

राम और राजण के रूप और चेष्टाओं की पात्रों के द्वारा की गयी

अनुरुति का नाम 'नाट्य' है। नृत्य दो प्रकार का होता है—[ताण्डव तथा लास्य] पुरुषों के द्वारा रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया गया नृत्य 'ताण्डव' तथा आठ स्त्रियों के द्वारा सामूहिक रूप में प्रस्तुत किया गया नृत्य 'लास्य' कहलाता है। नटों के उपयोग के लिए वस्त्र या चमड़े (आदि) से बनाए गए रथ, कवच आदि उपकरणों को 'पुस्त' कहते हैं। अभिनेताओं के रंगमञ्च पर प्रस्तुत किये गए नृत्य या अभिनय आदि से सन्तुष्ट होने पर दर्शक आदि के द्वारा दिया जाने वाला पुरस्कार 'पारितोषिक' कहलाता है। इसका यह नाम बहुपाठक के समान है।

अथ नायिकानां स्वभावजाः सप्त गुणाः बोद्धव्याः । ते च नामतः कथ्यन्ते—

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं धैर्यमेव च ।

प्रागल्भ्यमथ चौदार्यं गुणाः स्युः सप्त योषिताम् ॥ ३१५ ॥

(ना० शा० २३।२४)

नायिकाओं के सहज गुण—अब हम नायिकाओं में रहने वाले सात सहज गुण बतलाते हैं। इनके नाम हैं—(१) शोभा, (२) कान्ति, (३) दीप्ति, (४) माधुर्य, (५) धैर्य, (६) प्रागल्भ्य तथा (७) औदार्य। ये सात स्त्रियों के स्वाभाविक धर्म होते हैं।

तत्र शोभा—रूपयौवनलावण्यैः केवलैरेव तनोरलङ्करणं शोभाः ।
तद्यथा—

तन्व्याः सद्भाव-सौन्दर्यस्वादुसन्नद्धयौवनम् ।

एतल्लावण्यपद्माद्रं वपुर्षण्डनमण्डनम् ॥

लक्षणानि समर्थानि रूपसिद्धौ मृगीदृशः ।

मृष्टा घात्राप्यहो लब्धमगाधं पाणिनेर्यशः ॥

सृजयेत् किमाधिस्र्यं तन्व्या वपुषि यौवनम् ।

अन्यथाप्युन्मिषन्त्येते लवण्यमृतविन्दवः ॥

शोभा—रूप, यौवन या लावण्य के कारण शरीर का सहज शोभित होना 'शोभा' कहलाता है। जैसे :—यौवन और सहज सौन्दर्य से इस

सुन्दरी का शरीर व्याप्त है और सलोनेपन से सना होकर तो मानो यह शोभा को भी सुशोभित कर रहा है ।

इस मृग-नयनी के सौन्दर्य को संवारने के लिए विधाता ने भक्ष्य लक्ष्णों का निर्माण करते हुए महर्षि पाणिनि के अगाध यश को जीतने में सफलता प्राप्त कर ली ।^१

इस कृशाङ्गी के शरीर में चौवन की सर्जना करने पर भी क्या अधिक बन पड़ा ? क्योंकि बिना वैसा किये ही सलोनेपन के अमृतकण तो चारों ओर प्रसृत हो ही चुके थे ।

कान्ति—शोभैवानङ्गविकारापन्ना कान्तिः । तद्यथा—

सत्यश्चित्रकरः कामो यश्चित्रमिव निर्मलम् ।

उन्मीलयति कन्यानां सौन्दर्यतिलकं वपु ॥

अपाङ्गपथिकं चक्षुः स्मितज्योत्स्नार्द्रमाननम् ।

वाचोऽग्निवीचिकुरित्वा हरन्त्यद्य मृगीदृशः ॥

कान्ति—जब यही शोभा प्रणय से या काम से आविद्ध हो जाए तो ‘कान्ति’ हो जाती है । जैसे :—

सचमुच कामदेव ऐसा चित्रकार है जो कन्याओं में सौन्दर्यराशि का अन्तिम स्पर्श करते हुए अपने चित्र में और अधिक उभार ला देता है ।

इस मृगनयनी ने जब अपने नयनों की नोकों को घुमाया, अपने मुँह से मुसफान की चाँदनी को बिखेरा और सागर की लहरों के समान कूटिल वाणी का प्रयोग किया था ये सभी बातें अत्यन्त मन को हर रही हैं ।

दीप्तिः—कान्तिरेव विशेषमङ्गानां सम्पादयन्ती दीप्तिः । तद्यथा—

वर्धते न परौ तन्व्या पयोधरकिशोरकौ ।

पुप्यतो खवलीपाकपाण्डिमाढम्बराणि च ॥

अहो दुष्कृतमेतस्य मध्यमागस्य सुभ्रुवः ।

बलिसङ्गेऽपि दारिद्र्यं घटे कृशिमलक्षणम् ॥

१. यहाँ ध्यातव्य यह है कि पाणिनि ने अपने लक्षणों (सूत्रों) से रूपमिद्धि (शब्द से रूप का निर्माण) की पर विधाता ने लक्षणसम्पन्न उस सुन्दरी को निर्माण कर (रूपमिद्धि के ही द्वारा, पाणिनि के यश को फोका कर डाला ।

प्रत्यहं वृद्धिमायान्तो श्रोणिं क्लिप्नाति शिल्पिनम् ॥

अभीक्ष्णं रशनादामदैर्घ्यकृत्यै मृगीदृशः ॥

कृष्णात्मानोऽलकास्तन्या अर्द्धेन्दुतुलितेऽलिके ।

क्रियन्ते कुटिला सख्यं लक्ष्म्येवालपकुलोद्भवा ॥

दीप्ति—कान्ति के द्वारा ही जब शरीर के अत्रयों में और अधिक विशेषताएँ पैदा हो जाए तो 'दीप्ति' समझना चाहिए । जैसे —

इस कृशाङ्गी युवती के दोनों उरोज-किरीट केवल बड़ ही नहीं रहे हैं, वे तो (इसके अतिरिक्त) लघुलीलता के परिपक्व फल के अपनी ममान गौरवर्ण कान्ति भी बढ़ाते जा रहे हैं ।

सुन्दर बरीनियों वाली सुन्दरी को कमर की दशा कितनी विपत्ति में आगयी कि यह अब त्रिवली का स्पर्श भी अपने दुर्बलपन के कारण नहीं सह पाती है ।

इस सुन्दरी मृगनयनी के प्रतिदिन विस्तीर्ण होने वाले श्रोणिभाग ने कर्धनी के निर्माता को प्रति दिन होरी बढ़वाने के प्रयास द्वारा बड़ा कष्ट पहुँचाया है ।

इस कृशाङ्गी सुन्दरी के निसर्गत काले केश अर्ध-चन्द्र के समान ललाट पर दिखाई दे रहे हैं, जिन्हें ससियों ने घुघराते बनाते हुए उस लक्ष्मी के समान कर दिया है—जो नीच कुन के मनुष्य के समीप जाकर (उसे) कुटिल कर देनी हो ।

माधुर्यम्—मोहवर्णनस्थानु सर्वास्वपि न विकारस्पर्शो
माधुर्यम् । तथा—

न कोपे निष्ठुरा वाचो नानन्दे तरल मनः ।

छांणा वापि स्थितिरियं जगदावर्तनौपधि ॥

माधुर्य—क्रोध, हर्ष तथा प्रमग्नता की दशा में किसी भी विपरीत भाव या विकार का न दिखाई देना 'माधुर्य' समझना चाहिए । जैसे :—

क्रोध की दशा में रूपे शब्द न बोलना और आनन्द के अत्रसरों पर मन को स्थिर रखना ये दोनों गुण स्त्रियों के लिये सारे ससार को बश में रखने के लिये चमत्कारी औपधि के नमान अपूर्वशक्ति रखने हैं ।

धैर्यम्—

कालोचितव्यवहारणम्—धैर्यम् । तद्यथा—

प्रागल्भ्यं रजनो प्रातर्गुप्तिस्थानपुरस्थिता ।

न मुञ्चन्त्यवला लज्जा प्रियोत्कृष्टाविचन्द्रिकान् ॥

प्रातः प्रत्युद्गमैर्गच्छन्नाद्वारं चानुयात्रया ।

आराधितः प्रियस्तन्या न स्यात्स्यत्यन्यतश्चिरम् ॥

धैर्य—समय के अनुरूप व्यवहार करना ‘धैर्य’ कहलाता है । जैसे—
रात्रि में अपनी प्रगल्भता, प्रातः काल गोपनीयता और सायंकाल
सेवार्थ आगे बढ़ जाने की तत्परता बतलाने हुए प्रियतम के बत्कठा
रूपी सागर की चन्द्रिका सदृश रहने वाली लज्जा को कभी खो
नहीं त्यागती ।

जब वह कुराङ्गी स्वामी के आने पर अगवान्नी, जाने पर दर्राजे
तक चलकर छोड़ना आदि करने हुए सदा शुश्रूषा बुद्धि रखती हो तो
फिर उसका स्वामी दूसरे स्थानों पर अधिक कैसे ठहर सकता है ।

प्रागल्भ्यम्—प्रयोगेज्वलता प्रागल्भ्यं । तद्यथा—

जुम्बिते जुम्बितैः क्षिप्रे समाक्षिप्यैः क्षते क्षतैः ।

अनुवृत्तैव तन्वद्भयो दासीकुर्वन्ति बल्लभम् ॥

विष्मन्ते रतौ काले मौन्यमन्यत्र विप्रति ।

कामस्य विनयस्याज्ञां नातिक्रामन्ति योषितः ॥

प्रागल्भ्य—आनन्द के उपभोग में दक्षता रखना ‘प्रागल्भ्य’ समझना
चाहिए । जैसे —

चुबन को चुबन से आलिंगन को आलिंगन से और नखसुत आदि
का इन्हीं के द्वारा प्रत्युत्तर देने हुए रमाणियों (अपने) प्रियतम को
अपना दाम बना लेती हैं ।

ये प्रणयानन्द के क्षणों में अपना बहुत हौसला दिखाती हैं और
दूसरे समय भोली बनी रहती हैं । इस प्रकार अपने आचरण द्वारा ये
न तो काम का और न विनय का ही अतिक्रमण करती हैं ।

आदार्पणम्—सर्वास्वस्थानु प्रियस्य न प्रश्रद्धन्वण्डनमौदा-

र्यम् । तद्यथा—

द्वितीयावस्था में—कृशोदरी युवती को अपनी सौत के पता लगाने या वैसे चिन्ह घात होने पर सारे शरीर में ईर्ष्या के कारण आग लग जाती है। तब यह बिना किसी कारण ही क्रोध के आवेग में आकर चंचल लता के समान अपनी मौंहों को चढ़ाते हुए देखने लगती है। अपने स्वामी को इस दशा में यह राजा के समान आदेश देने लगती है और गुरु के समान अनुशासन करती है। प्रेम से सिंचे प्रिय की डाँटने या उपालम्भ देने के समय यह नायिका कोई परवाह नहीं करती।

राजा की चित्तवृत्ति के समान इसके प्रेम के किसी एक उपाय से अनुकूल रहने की आशा नहीं रहती, क्योंकि यह बड़ी कठिनाई से रीझ पाती है पर इसका सदा प्रसन्न रहना बड़ा कठिन होता है।

यह अपनी इष्ट वस्तुओं को पाने पर भी प्रसन्न नहीं होती और दुष्ट स्वामी के लिए की गई सेवा के समान बड़े कष्टों के उपरान्त थोड़ा अनुकूल फल दे पाती है।

यह श्रीकृष्ण की लीला के समान सदा गृह कार्य में विना रोकथाम के लीन रहती है [लीलापक्ष में—अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण के पौत्र) को ग्रहण करने में लगी रहती है] यथेष्टाचार के उत्साह को बढ़ाती है [लीलापक्ष में—प्रद्युम्न जी (जो कामदेव के अवतार थे) के उत्साह या कार्य की सत्यिका रहती है] और उत्सवों में सम्मिलित होने की सदा आकांक्षा लिये होती है [लीलापक्ष में—उद्धव जी के प्रति सदा स्नेहपूर्ण रहती है]।

तृतीये—

कण्ठग्रहं न यात्येव भर्तुः क्रुद्धापि यत्नतः ।

कङ्कणश्रेणिकैरासौ दोषमेवावलम्बते ॥ ३२४ ॥

उन्मत्तेव प्रमत्तेव प्रहृष्टैवातुरैव च ।

न शम्पोपासितुं समा ग्रौढं यौवनमाश्रिता ॥ ३२५ ॥

सुखदुःखप्रदायिन्यस्तृतीये यौवने स्थिताः ।

जायन्ते गहना रामाः संसारस्यैव रीतयः ॥ ३२६ ॥

तृतीय अवस्था में—क्रुद्ध हो जाने पर अपने प्रिय से यत्र करने पर भी गले नहीं लगाने देती और कङ्कणमाला के समान सदा दोषों को लेकर बैठी रहती है [जैसे कङ्कणमाला की भुजाओं की ओर बढ़ने की वृत्ति होती है वैसे ही यह केवल अपने स्वामी के अपराधों पर ही

निगाह जमाये रहती है] यौवन में प्रौढ़ता आने पर युवती स्त्री नशे में चुर होने वाले पागल के समान कभी प्रसन्न और कभी अप्रसन्न होकर रहती है और प्रिय के द्वारा किये गए अनुकूलता के सारे उपायों को व्यर्थ कर डालती है । इस प्रकार युवती स्त्री संसार के सुख और दुःखों को अनुभव करवाते हुए संसार की रीतियों के समान बड़ी गहनता धारण कर लेती है ।

चतुर्थ—

आश्लेषे सर्वदा पत्युः सत्पुष्पोवान्तरात्मना ।
 अर्धनारीश्वरतनौ गौरीवृत्तं समीहते ॥ ३२७ ॥
 सम्भोगायोग्यकालेषु सार्द्धं कान्तेन कामिनी ।
 वापीसौधे गृहोद्याने यात्रासङ्गेन तिष्ठति ॥ ३२८ ॥
 अन्यच्छायाबलोकेऽपि परालापे मनायपि ।
 पत्यां क्रुध्यत्यनर्थादौ स्मयञ्चापि निमज्जति ॥ ३२९ ॥
 अपरोपगमारम्भमुच्चाटयति बल्लभम् ।
 दरिद्रजरतीवार्ता शिशिरे सायमातपम् ॥ ३३० ॥
 पत्युः शय्यापरावृत्तिं वियोगमिव मन्यते ।
 देवागारप्रयाणञ्च प्रवासमिव पश्यति ॥ ३३१ ॥
 अतिस्नेहस्य निस्स्यन्दादतिप्रेम्णः प्रवृत्तिभिः ।
 छायेवानुचरेत् कान्तं यान्तं तिष्ठन्तमङ्गना ॥ ३३२ ॥
 मौग्ध्यविधासकार्कश्यरतिलौल्येऽर्थितोत्तराः ।
 चतुर्यंविनजन्मानो धर्माः स्फूर्जन्ति योपिताम् ॥ ३३३ ॥

चतुर्थ अवस्था में—अपने प्रिय के साथ सदा रहने की चाह रखते हुए अर्धनारीश्वर शिव के साथ पार्वती के समान अर्धभाग की स्वामिनी बनकर रहना पसन्द करती है । मिलन के लिये अनुपयुक्त या अतिरिक्त समय में भी यह अपने प्रिय के साथ किसी खानागार या वापिका के पास या उद्यानों में सैर करती है तथा उत्सव आदि में भाग लेते हुए धूमती है । किसी दूसरी युवती की छाया देखकर या उससे किसी प्रकार के वार्तालाप हो जाने पर अपने पति पर मझा बैठती है । इस

कारण कभी-कभी बड़ा संकट आ जाता है या फिर यह स्वयं भी कभी इसी वृत्ति के कारण संकट में पँस जाती है ।

किसी रमणी के पास जाने या किसी कार्य के सम्पन्न होने के बिना ही यह अपने स्वामी पर अधिकार जमाती है और उसे कमकर वैसे ही ग्राम रजती है जैसे बूढ़ी शिशिरञ्जनु रात्रि के आरम्भ में सूर्य को रोकती हो ।

तब अपने स्वामी के करवट बदलकर सो जाने को यह प्रियोग मानने लगती है और किमी मन्दिर में दर्शनार्थ अपने स्वामी के जाने को परदेश जाना समझने लगती है ।

स्वामी के प्रति प्रेम के आधिक्य और अतिराग आकृष्ट रहने के कारण यह सदा आने-जाने और बैठने पर भी छाया के समान अपने प्रिय का अनुसरण करती रहती है ।

यीवन की चतुर्थ दशा में भोलापन, विग्राम, कुशला, रति के लिये अबुलाहट (रति सौम्य) और प्रिय की चाह में सहज रूप से उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है ।

इस प्रकार यीवन की चारों अवस्थाओं में ये लक्षण प्रकट होकर उनके स्वरूपों को स्पष्ट प्रकट कर देते हैं ।

इति स्वभावगुणविकल्पा लास्यद्योतिनो बोद्धव्याः ।

स्त्रियों की इन अवस्थाओं में रहने वाले गुण या प्रकारों को लास्य के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए ।

मानः—अथ स्त्रीणां मानो भवति । ईर्ष्याभिजनं क्रोधो मानः ।

स चतुर्विधः । मुग्धः, मनाड्मुग्धः, समृद्धः, अतिसमृद्धश्चेति ।

मान—इन अवस्थाओं में पुरुषियाँ मान धारण करती हैं । ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाले क्रोध को 'मान' कहते हैं । मान के चार प्रकार माने गए हैं । यथा—(१) मुग्ध, (२) मनाड्मुग्ध, (३) समृद्ध और (४) अतिसमृद्ध ।

तत्र मुग्धः—मानावक्रवचनप्रभुत्ववञ्चित शुद्ध अग्रगल्भाया

स्यात् । तद्वधः ।

मुग्ध—अथ 'मुग्ध' मान का लक्षण बतलाते हैं । यह भेद शुद्ध मान पन्नात्ता है क्योंकि इसमें न तो क्रोध ही बिना जाता है और न ही जले बटे शब्दों का प्रयोग ही होता है और न दोषों को

हृदने की प्रवृत्ति होती है। प्रायः मुग्धमान अप्रगल्भा सुवती में पाया जाता है। जैसे :—

प्रिये नवे सागसि मानिनी नवा

न जानती कोपविभावनाक्रमम् ।

तदाननं श्रीक्ष्य तटस्थनिष्पतत्—

विलोचनाम्भः प्रसराज्वलिष्ठते ॥ ३३४ ॥

अपने नवविवाहित पति के द्वारा अपराध होने के कारण ईर्ष्यावश थोड़ी जलकर भी वह वाला अपने स्वामी का मुँह जोहने लगती है। वह क्रोध को प्रकट करने के रास्तों को न जानने और नया अनुभव रहने के कारण जड़न्त रूढ़ी होकर केवल अपनी आँखों से बड़े-बड़े आँसू गिराती है।

मनाड्मुग्धः—यत्र विभावना केवलमस्ति न वक्रवचनं प्रभुत्वञ्च स मनाड्मुग्धः । यथा—

मनाड्मुग्ध (मान)—जब अपराधी स्वामी पर क्रोध तो उमड़े पर उसे प्रकट करने के लिए न तीखे शब्द कहे जाएँ और न ही अभिमान या उद्विग्नता बतलायी जाए तो ‘मनाड्मुग्ध’ मान कहलाता है। जैसे :—

प्राप्ते सागसि बल्लभेऽन्यवर्त्तिं प्रभोदुरे प्रोळसत्—

क्रोधाडम्बरसवराम्बरहृतावुत्ताण्डवम्रूलतम् ।

पादाब्जमणतिप्रकाशिनि मुहुस्तन्याः सखीजल्पिते

साध्वीवर्त्तनि नेत्रमुज्जति रुपा सार्धं घनाश्रुच्छटाः ॥

जब अपराधी पति आया तो उसे देखकर वह मुड़कर रूढ़ी हो गयी, जब उसने हठपूर्वक पूछना शुरू किया तो क्रोध के प्रकट होने पर (उसने) दबा लिया, जब वह आँचल खींचने लगा तो उसकी भौहें क्रोध से चढ़ गयी और लता के समान लहराने लगी और अन्त में प्रियतम के चरणों पर गिर जाने पर उसने सखियों के द्वारा उपदिष्ट पातिव्रत धर्म का अनुसरण करते हुए अपने आँखों से आँसुओं की घनी धारा बहाने हुए क्रोध को छोड़ दिया।

समृद्धः—समृद्धः विभावनावक्रवचनयुतः न परं प्रभुत्वेन ।

यथा—‘कान्ते नाथे’त्यादि (पृ० १०३) । यथा च—

समृद्ध (मान) — जब बिना किसी प्रकार का अभिमान बतलाए ही क्रोध किया जाए और तीखे शब्दों का भी प्रयोग किया जाए तो उसे 'समृद्ध' मान समझना चाहिए। जैसे :—

प्रिये, स्वामिन् इत्यादि पद्य [पृष्ठ १०३]। तथा—

धिग्धिक् सुदूरमपसर्प न दृश्यसे त्वं
किं किं नतौ कृपसि मे चरण करेण ।

इत्युल्लसत्पुलकजालकमुद्रइत्या

मान. कृतोऽपि न धृतोऽपि चिरापनेय ॥

हाय ! हाय ! दूर दृष्ट जाइये आप, आँसुओं के भर जाने से मेरी आँखें आपको देख नहीं पा रही हैं और आप मेरे पैरों पर झुककर उन्हें सहलाते हुए क्यों खींच रहे हैं ? ऐसा कहते हुए उस नायिका ने क्रोधावेश में रोमाञ्च के साथ मान तो घर लिया पर थोड़े ही क्षणों के बाद वह धला गया।

अतिसमृद्धः—यत्र विभावना वक्त्रवचन प्रभुत्वमिति त्रयमस्ति सोऽतिसमृद्धः। यथा—

अतिसमृद्ध (मान) — जब क्रोधावेश, आक्षेप भरी वचनावली और अभिमान को बतलाना ये तीनों कार्य या स्थितियाँ दिखाई दें तो उसे 'अतिसमृद्ध' मान समझना चाहिए। जैसे :—

संपूतस्खलितो विलक्षितमुक्त्वा पादप्रणाम गतो
मृत्युद्भूततया प्रिय प्रतिहतः पद्भ्यां सृजा सयत ।
सख्या मौचित एव निर्गमपर. कायं शवो गच्छती—
त्यालिङ्गयातिभरं रुपेव विधृतस्तन्व्या पतद्वाप्यथा ॥

जब अपराधी प्रियतम लज्जा से मुँह झुकाकर चरणों में गिर पड़ा तो नायिका ने क्रोधावेश में अपनी भौंहों को लता के समान कपाने हुए उसे एक लात टिका दी और माला से बाँध दिया। जब इस नायिका की एक सखी ने आकर नायक का बन्धन छोड़ डाला और नायक जाने को उद्यत होने लगा तो कृशांगी नायिका ने क्रोध में भरकर आँसू गिराते हुए उसे जोरों से पकड़ लिया और बोली—'यह मैं आ अब कहाँ जाएगा ?

अत्रार्थे मुनेर्नरतस्य वचनं यथा—

विभावनावक्रवच-प्रभुत्वेष्वप्ये मनाङ्मुग्धमथ द्वयोश्च ।

समृद्धमेषु त्रिषु मानमासा स्त्रीणा मुनिश्चातिसमृद्धमाह ॥

मान के लक्षणों के विषय में भरतमुनि का मी^३ ऐसा ही मत है । वे कहते हैं कि मनाङ्मुग्ध मान में केवल विभावना, समृद्ध मान में विभावना और वक्रवचन तथा अतिसमृद्धमान में विभावना, वक्रवचन और प्रभुत्व इन तीनों को प्रस्तुत करना चाहिए ।

विभावनायाप्रग्याया सत्यां मनाङ्मुग्धम्, विभावना-वक्रवचसोः समृद्धं, विभावनावक्रवच प्रभुत्वेषु एषु त्रिषु सत्स्वतिसमृद्धमानमुक्तवानित्यर्थः । विभावना कोपाभिन्धनम्, वक्र-वचनमाक्षेपकारि, प्रभुत्वं मालाहारलतादिबन्धनप्रदानं प्रियस्येत्येष मानक्रमः ।

अर्थात् केवल विभावना को प्रस्तुत किया जाए तो ‘मनाङ्मुग्ध’ विभावना और वक्रवचन के होने पर समृद्ध तथा विभावना, वक्रवचन और प्रभुत्व तीनों के रहने पर ‘अतिसमृद्धमान’ होता है । विभावना का अर्थ है—कोप का प्रदर्शन करना । वक्रवचन का अर्थ है—आक्षेपपूर्ण या सीखे वचनों का प्रयोग । प्रभुत्व का अर्थ है—प्रेमाभिमान के कारण प्रिय को माला, हार, लता आदि से बाँध देना । इस प्रकार हमने क्रमशः मान के स्वरूप पतलाए ।

अथ नायिकानायकयोः प्रथमदर्शनासादितमन्मथोन्माथयोर्दशावस्थाः भवन्ति । तत् परिज्ञानमपि नाटके लास्याधिकारिकत्वात् सार्थकम् । यथा—अभिलाषचिन्तानुस्मरणगुणकथोद्वेगविलापातहोन्मादजडतामरणादीनि इति । तद्यथा—

स्मरदशाएँ—नायक और नायिका के एक बार परस्पर दर्शन हो जाने पर प्रेम का संचार होने के अवसर पर (काम की) दस अवस्थाएँ होती हैं । ये अवस्थाएँ भी लास्य से सम्बन्धित होने के कारण (नाटक आदि में) उपयोगी होती हैं । इन दशाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३)

१. उक्त विवरण वर्तमान नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं है । सम्भवतः यह द्वादशसाहस्री संहिता से लिया गया हो ।

अनुस्मरण, (४) गुणकथा, (५) उद्वेग, (६) विलाप, (७) आतंक,
(८) उन्माद, (९) जडता तथा (१०) नरण । जैसे कहा भी है कि—

दृष्टे यवीयसि हृदि प्रमदाजनस्य
प्रत्यग्रयौवनमुवाञ्जलयौतशुभ्रे ।
रागं निवेद्यति वस इव क्षणेन
निर्णेजकः कुसुमचापधराभिधानः ॥

नवयौवन के अमृत से प्रभावित होने के कारण युवतो के निर्मल-
हृदय में नवयुवक को प्रथम बार देख लेने पर ही पुष्पों के बाण, जिन
वाले काम रूपी रागेन्द्र ने रागरस का इस प्रकार संचार कर डाला
जैसे किसी घुले हुए बरख को लाल रंग में डुबो दिया गया हो ।

अभिलाषः—यूतमक्षुपा पीतं रूपं युवतेः सङ्गमायाभिलाषं
जनयति । तेन सत्त्वसौ खिद्यति, पुलकमावहति, शून्यदृष्टिः, पार्श्वमागतां
सखीमपि न पश्यति, पृच्छमाना नोत्तरं प्रयच्छति, चरणकमलकोट्या
भुवनालिखति, लज्जया मन्दमन्दं चित्तगतमावेदयति । तद्यथा—

अभिलाष—किसी सुन्दर युवक का सौन्दर्य प्रथम बार बाला द्वारा
देखे जाने पर उसके हृदय में 'अभिलाष' उत्पन्न कर देता है । इस
दशा में नायिका का शरीर स्वेदपूर्ण हो जाता है, वह रोमाञ्चित हो
जाती है, तब वह इतनी तन्मय हो जाती है कि समीप आने वाली
सखी को भी नहीं देख पाती, पूछने पर ठीक से उत्तर नहीं देती
लजावश भूमि को कुरेदते हुए अपने मन की बात धीरे-धीरे खोलती
है । जैसे निम्न उदाहरण में—

बालाभिलाषमधिगम्य ततः प्रियस्य
नैवेक्षतेऽभिमुखमागतमात्मवर्गम् ।
प्रीडाधिरूढवदनेन्दुरुदीर्णमन्द-
मन्दाक्षरं वदति चित्तगतं सखीषु ॥

यह बाला अपने प्रिय की चाह लिए हुए होने के कारण सामने
आ जाने वाली सखियों को भी नहीं देख पा रही है । वह केवल
लजाते हुए मुखचन्द्र से मन्द स्वर में थोड़े से शब्दों के द्वारा अपनी
मनोगत दशा सखियों को बतला रही है ।

चिन्ता—अथ चिन्ताभाष्यते । किं तेन तस्मिन् क्षणे यथैव मया दृष्टोऽसौ तथा दृष्टाऽहमपि न वा मन्दभागिनी दृष्टास्मीति सखीभिः पुनरुक्तमिममेव वृत्तान्तमावर्तयति । अनुरागप्रत्याकलनकलानिमित्तमवस्था-सूचकमनेकार्थगर्भितञ्च मन्मथलेखं प्रस्थापयति । तद्यथा—

चिन्ता—इसके पश्चात् उसे ‘चिन्ता’ होती है । तब वह सोचती है कि जब मैंने उसे देखा था तब उसको भी मुझे देखकर मन में ऐसी ही बातें उठी थीं या नहीं ? या उसने मुझ मन्दभागिनी को देखा भी था ? इस अवस्था में नायिका अपने प्रति रहने वाले नायक के अनुराग का अन्दाज लगाने [तथा अपना अनुराग व्यक्त करने] के लिये विचारों और अपनी अवस्थाओं के सूचक प्रेमपत्र को कलापूर्ण प्रकार से दिनदर्पक भेजनी है । (जैसा कि निम्न उदाहरणों में स्पष्ट है) ।

चिन्तां तत श्रयति किं समये तदानीं

दृष्टास्मि तेन स यथैव मयापि दृष्टः ।

तस्यापि किं स्मरशिली परिवदितार्ति-

र्जागतिं चेतासि यथैव मम प्रदीप्त ॥

नायिका को चिन्ता हो रही है कि जब मैंने उस (युवक) को देखा तभी उसने भी मुझे देखा या नहीं ? और उसके अन्तस् में भी क्या दाहक कामाग्नि पीड़ा को बढ़ाते हुए भड़की है जैसे मेरे अन्तस् में जल रही है !

पत्र केतकमम्भव मृगमदन्यस्ताक्षरं तन्तुभि-

र्माङ्गस्यै परिवेषित मलयवैराद्रैर्दधन्मृत्तिङ्गान् ।

विन्यस्तस्तनमुद्रमञ्जितबहिर्नाम प्रियस्योद्वहत्

तन्वी मन्मथलेखशिल्पनमिदं कुर्याद्विशादेशकम् ॥

तब वह कृशाङ्गी ऐसा प्रेमपत्र भेजे जिसमें उसकी मानसिक दशा को कलापूर्ण पद्धति से प्रस्तुत किया गया हो, जो केतकपत्र पर कस्तूरी से कुरेद कर लिखा गया हो और ऊपर से रेशमी धागे से लपेट दिया गया हो, जिसके ऊपर नायिका द्वारा मलयचन्दन से लेप किये गए अपने उरोज की मुद्रा अंकित करने हुए ऊपरी भाग पर प्रियतम का सुन्दरतापूर्णे नाम लिखा गया हो ।

अनुस्मरणम्—प्रियस्यानुमृतरूपस्मरणादनुस्मरणमुपजायते। यत्र सकलविषयव्यावृत्ति, करणीयेष्वनादर, इतिकर्तव्यमूढञ्च हृदयमुत्पद्यते।

तद्यथा—

अनुस्मरण—अपने प्रिय के अनुमृत स्वरूप की याद करने से 'अनुस्मरण' दशा उत्पन्न होती है। इस दशा में सभी सांसारिक सुखों से विरसि तथा आवश्यक या दैनिक कार्यकलापों के प्रति उत्साहहीनता रहती है तथा हृदय किं कर्तव्यविमूढ हो जाता है। जैसे :—

शयनमशन यान स्थानं सखीवचनश्रुतिं
न खलु वुस्ते सेवाकाले गुरोरपि सम्म्रमम् ।
सकलविषयव्यावृत्तात्मा धनधनसितोद्गमा
स्मरति सतत तद्वैवेक स्मरज्वरयामिनी ॥

सांसारिक वस्तुओं से दूर हटकर उस नायिका का मन सदा उसी का विचार करता रहता है। उसे खर आगया है और इस स्मरज्वर के कारण वह जोरों से उससे भरने लगती है, सोने, चलने, खाने और बैठने का ध्यान नहीं रखती है, मरियों की बातें नहीं सुनती और यथासमय पूज्यजन की आदरपूर्वक शुश्रूषा भी नहीं कर पाती।

गुणरूपा—प्रियस्यानन्यव्यापारतया सखीसमक्ष गुणानां कीर्तनं गुणरूपा । तद्यथा—

गुणरूपा—सभी काम छोड़कर मरियों के आगे अपने प्रिय के गुणों का बखान करते रहना 'गुणरूपा' कहलाता है। जैसे :—

सख्य किमन्यदधिकं कथयामि युष्मा-
स्वेतन् समर्थयत तत्त्वपरिग्रहेण ।
निर्वर्ण्यते खलु मुधैव वुरङ्गलदम्या
लक्ष्मीवतो गुणरूपासु क एष तस्य ॥

मरियों, मैं तुम्हें इससे भी अधिक क्या बतलाऊँ। तुम सच मानो कि आज कुछ लोग भृगु से लाञ्छित चन्द्र की शोभा की व्यर्थ ही प्रशंसा करते हैं। पर प्रिय की शोभा के आगे यह बेचारा अपनी लाञ्छित शोभा को लेकर कब तक टिक पाएगा ?

उद्वेगः—बहुमिरपि यत्नैरनासाद्यमाने तत्सङ्गमसुखे उद्वेगः ।
चन्द्रचन्दनमुधामन्दिरारविन्दप्रमृतिषु सुन्दरेष्वपि वस्तुषु प्रद्वेषः सर्वतो
हृदयस्याधृतिरवस्थानञ्च । तद्यथा—

उद्वेग—अतिशय प्रयत्न के पश्चात् जब प्रिय का मिलन न हो तो
‘उद्वेग’ होता है । इस दशा में चन्द्र, चन्दन, उत्तम सदन (सुधामन्दिर)
तथा कमल आदि की सुन्दरता भी नहीं सुहाती और मन में अतिशय
अस्थिरता और चबराहट बनी रहती है । जैसे :—

सुधावेदम द्वेष्टि स्फुरितकमला द्वेष्टि नलिनीं
सखीन्यस्तां भूषा क्षिपति न विनोदेषु रमते ।
घनारूढोद्वेगा कचिदपि न घत्ते धृतिमसौ
प्रियालोके यद्यत्र कृतमथ तस्मै स्पृहयति ॥

अब वह बाला विशालभजन और रिकसित कमल या कमलिनी
देखकर डाह करने लगती है. सखियों के द्वारा आभूषण पहिनाये जाने
पर उन्हें दूर पटक देती है और मनोविनोद के लिए किये गये परिधानों
से प्रसन्न नहीं होती । वह किसी भी पदार्थ को देख या पाकर धैर्य
नहीं रख पाती है और सदा यही चाहती रहती है कि मैं जो प्रिय के
देखने या आने पर न कर पायी उसे ही अब अवश्य करूँगी !

विप्रलापः—प्रियस्य प्रथमदर्शनोपनतलज्जाऽपरिचित इत्यविश्वा-
सविषयत्वात्तत्काल इदं न कृतमिदं न कृतमित्यनुतापाद् निप्रलापः ।

तद्यथा—

वि(प्र)लाप—जब नायिका नायक को प्रथम बार देखकर लज्जावश
या परिचय न होने से विश्वास न करते हुए जो बातें न कही जा सकी
हों आदि की बार बार याद आने से हृदय से सन्तप्त होती है उसे
‘विप्रलाप’ समझना चाहिए । जैसे :—

धिक् चित्तं किं खलु तदा भवतास्मि रुद्धा .
दृष्टो मया स सुभगश्चिरकालमासीत् ।
हा ! वञ्चितास्मि रिपुणा गृहसंस्थितेन
प्रौढार्त्तिकाफलमिति श्रयते विलापम् ॥

अरे मेरे मन, तूने मुझे उस समय क्यों रोक दिया जब मैं उस सुन्दर प्रिय को निहार रही थी। हाय ! मैं अपने ही अन्दर बैठे शत्रु से छली गयी। इस प्रकार व्यथाओं में भरकर और सभी ओर से निराश होकर वह नायिका रुदन का सहारा लेने लगी है।

आतङ्कः—प्रतिधामिनि जागरण विषमाशनं निरन्तरचिन्तासन्तानाभिनिवेशो निर्व्यग्रहपरितापप्रशमोपायतया च सेव्यमानमृणालजलयजलार्द्रसंन्यानप्रभृतिशोतोपचार इत्येभिर्निमित्तैः शिराच्छिज्वरलक्षणमातङ्कमावहति । तद्यथा—

आतङ्क—और जब यह इसी तरह पिघारों में (प्रत्येक) रातें जागने हुए घिताने लगती है, असमय में भोजन करती है, सदा चिन्ता में डूबी रहती है तब इस अपरिहार्य सन्ताप की शान्ति के लिये उसे कमलनाल के चलय पहिनाये जाते हैं, जल से परों को गीला कर हवा की जाती है और गीले या ठंडे कपड़ों को पहिनाया जाता है। ऐसी दशा में उधर या शिरोवेदना आदि कार्यों से जो रूप बनता है उसे 'आतङ्क' नामक अग्रस्था समझना चाहिए। जैसे :—

आतङ्कान्न घटितसहमास्य बाला
शोढार्चं स्वतनुभिरितस्तत क्षिपन्ती ।
भूयिष्ठ भजति सखीजनेन हस्तं
विन्यस्योरसि सुविमृश्यमानमन्त्रा ॥

यह बाला अपने प्रिय से न मिलने के कारण अतिशय वेदनावश अपने शरीर को इधर उधर पटक रही है और उसकी मस्त्रियाँ चारों ओर बैठकर उसकी दिल की हलकी पड़ने वाली धड़कनों को हाथ रख कर उसकी चेतनता का प्रचार कर रही हैं।

उन्मादः—अतिचिरकालमेवविषयविविधकृष्टभावनाया प्रवृत्तिविपर्ययादुन्मादः । यत्र विना हेतो रौदिति, विना निद्रा स्वपिति, विना प्रहर्षेण हसति, विना क्रोधात् क्रुध्यति, तच्च मुमगमितस्ततः सङ्कल्पवर्णिकाविलसितमण्डोक्ते, तमास्त्रिङ्गु नमसि मुजलता प्रमारयति, तच्च मल्लतवाप्पजलधारानलिनल्लितनीलनयनोत्पल्युगला विविधमुग्धविदग्धमङ्गितरङ्गवर्द्धिर्चनैरपालमते । तद्यथा—

उन्माद—बहुत दिनों तक इसी तरह के अनेक कष्टों को झेलते रहने के कारण मस्तिष्क के उलट जाने पर ‘उन्माद’ हो जाता है। इस अवस्था में नायिका बिना कारण रोने लगती है, बिना नींद के सोवती है, बिना किसी प्रसन्नता के ही हँसती है, बिना क्रोध के ही मल्लाने लगती है और अपनी कल्पनाओं को तूलिका से चित्रित प्रियतम के उसी रूप को देखती है। उसी से मिलने के लिए ऊपर आकाश में अपनी भुजाएँ फैलाती है और अपनी नीलकमल जैसी सुन्दर आँखों से आँसू बहाती है। वह अपने प्रियतम को भोलेपन से चातुर्य और अगमनियों से युक्त स्नेहपूर्ण वचनों द्वारा बलाहना देती है। जैसे :—

करकिसलयपृष्ठोत्सारिताजस्रवाप्सा

मुहुरपि च धुनाना स्थूलतूली रसौषम् ।

लिखति तनुमनत्रोन्माथगेगात् प्रियस्य

स्वपिति च हृदि कृत्वा स्विन्नरोमाञ्चिताङ्गी ॥

वह घाला अपने कोमल पल्लव के समान हाथों के पिछले भाग से जब आँसुओं को पोंछती है तो हाथ या रंग आँसुओं में लग जाता है और वह ऐसे हाथ को बार-बार मटकती रहती है। फिर जब प्रेम अधिक उमड़ता है तो उन्मी आग्रेश में आकर वह अपने प्रिय का स्वरूप अंकित करने लगती है और स्वेद, रोमाञ्च आदि के कारण रिक्त हो जाने पर उन्मी प्रिय का हृदय में ध्यान रखकर सो जाती है।

परित्यक्तप्राच्यप्रवृत्तिरभिषेते विसदृशं

बिना हेतोरप्यत्यतिहसति क्रन्दत्यपि भृशम् ।

घनारूढोन्मादा किमपि परिर्व्युं भुजलता

प्रसार्य प्रेयास लिखितमभिधावत्यनिभृतम् ॥

वह अपनी पूर्व प्रकृति के विपरीत उलटी सीधी बातें बरुने लगता है कभी बिना कारण रुठती है और कभी हँसने और कभी रोने लगती है। जब उन्माद गभीर हो जाता है तो अपनी गाँहें फैलाकर प्रियतम के चित्र को आलिंगन करने के लिए भागने लगती है।

जडता—प्रियाद्वैतभावनापरिपाकजा जडता । यस्या न जिघ्रति, न पश्यति, न संश्रृणुते नास्यै कश्चिद्रसः स्वदत्ते इति । तद्यथा—

जडता—प्रियतम के साथ एकात्मभावना के अतिशय चिन्तन से 'जडता' उत्पन्न हो जाती है। इस दशा में उसे किसी सुगन्धित वस्तु की गन्ध नहीं आती, न कोई दिखाई देता है और न ही कानों में शब्द सुनाई पड़ते हैं। सब उसे किसी भी पदार्थ का स्पर्श या अनुभव नहीं रहता। जैसे :—

सर्वक्रियाव्युपराति जडतामुपेत्य
बाला न पश्यति पुरःप्रहितानि किञ्चित् ।
गृहाति नैव च रसं न च गन्धमद्धा
स्पर्शं न वेत्ति न च चेतयते पुरेव ॥

जडता के कारण उस बाला से कुछ भी करते-धरते नहीं बनता और वह अपने सम्मुख विद्यमान वस्तु को भी नहीं देख पाती है। उसे किसी वस्तु का स्वाद या गन्ध का अनुभव नहीं हो रहा और न सम्मुख रखे गए पदार्थ के स्पर्श होने का ही भान है।

मरणम्—मरणं प्राणच्छेद । यथोक्तम्—

जीवन की समाप्ति या प्राणों का शरीर से निकल जाना 'मरण' कहलाता है। जैसा कि कहा भी है :—

यत्नैरलभ्यमानेऽसङ्गमेऽन्तःप्रदीपित ।

कामाग्निर्ज्वलत्यज्ञान्यदोष इव लघुनम् ॥

जब सारे प्रयत्नों के बाद भी प्रिय का मिलन न हो पाए तो प्रेम की झालाएँ सारी बाधाओं के साथ उसके शरीर को भी जला डालती हैं जैसे मित्रा दोष के लघन शरीर को ध्वस्त कर देता है।

तस्यैव विधस्म मरणस्य लक्षणमनङ्गवृत्तित्वादाचार्येण नोपवर्णितं मलमस्योपन्यासेन । यथाह—

इस मरण दशा का विस्तार से विवरण आचार्यों ने नहीं बतलाया क्योंकि यह दशा घटित न होने के कारण नाटकीय घटना का अंग नहीं बन सकती। जैसा कि कहा जाता है :—

इति मरणमनङ्गवर्तिमुक्त्वा

नटति नटीव युवत्यशेषभावान् ।

नटति खलु युवापि काललब्ध-

स्मरललितातिशयः कदाचिदेव ॥ ३३५ ॥

इन दशाओं में केवल मरण को अंग न बनाते हुए युवती नायिका शेष दशाओं को नटी के समान प्राप्त करती हैं और युवा नायक भी इसी प्रकार इन दशाओं को प्रेम के भीठे अरमान हृदय में संजोते हुए क्षमफलता के बीच सहन करता है ।

नवानामप्यामा दशाना लक्षणमूयस्त्वानोपवर्णितम् । ज्ञेय तु नाटके जानकीराघवे सीतानृत्ये, प्रकरणे मालतीमाधवे मालव्या, नाटिकायां सागरिकाया, धूनाञ्च माधवादीनामिति दशावस्था स्तस्यत्रिविधिः ।

इन नौ अवस्थाओं को लक्षण आदि का विस्तार करने हुए यहाँ नहीं बतलाया जा सका है । इनको जानकीराघव नाटक में सीता के मृत्यु, मालतीमाधव प्रकरण में मालती के अभिनय और रत्नावली नाटिका में सागरिका के अभिनय या मालतीमाधव में माधव के अभिनय में देखकर समझा जा सकता है । इस प्रकार लास्य में होने वाली वस अवस्थाओं को हमने बतलाया ।

अथ नायिकाः—अप्राप्तमङ्गमाया नायिकाया परतश्चान्या अपि अष्टौ नायिका सम्भवन्ति । तासां नामानि—वासकमञ्जा, विरहोत्कर्षिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितमर्तुका, स्वाधीनदयिना, अभिसारिका चेति । तत्र—

नायिका के भेद—जब नायिका का अपने प्रिय से मिलन नहीं होता तो दशाओं की भिन्नता के कारण नायिकाओं के और भी आठ भेद हो जाते हैं । इनके नाम हैं—(१) वासकमञ्जा, (२) विरहोत्कर्षिता, (३) खण्डिता, (४) विप्रलब्धा, (५) कलहान्तरिता, (६) प्रोषितमर्तुका, (७) स्वाधीनदयिता (पतिका) तथा (८) अभिसारिका ।

वासकमञ्जा—

वासवेदमनि सुकल्पिततल्पा

या समागमत्रिधि निदधाना ।

तिष्ठति प्रियसमागममञ्जा

तामिहागमय वामकमञ्जाम् ॥ ३३६ ॥

वामकमञ्जा—जो नायिका अपने प्रियतम से मिलने के लिए अपने

घर में ही साजसज्जा को ठीक से बनाकर और सेज मजाते हुए तैयार बैठी रहे तो उसे 'वासकमञ्जा' नायिका समझना चाहिए । जैसे :—

यथा —

दृष्टि द्वारि मुहुर्मुहुर्विदधति काऽपि प्रवृत्ते ध्वनी
दृष्टोऽसाविति कान्तपादपदनं श्रद्धोत्थितावस्थिता ।
सेद वामविलोचनस्फुरितकैर्नात्यन्तमातन्वती
धिरू त कार्यजड निशास्वपि चिरादेप्यन्तमन्विष्यति ॥

अयमस्या लास्यविधि ।

वह नायिका कहीं से थोड़ी आहट या शब्द सुनाई पड़ने पर बार-बार बरबाजे की ओर अपनी दृष्टि डालती है और प्रियतम के पैरों की आशान के भान होते ही खड़ी होकर आदर देने के लिए देखने को उठ दीडती है फिर (वही) कभी कभी अपनी आँखों के प्रतिफल भाव में फड़कने पर खिन्न सी हो जाती है, और देर तक रात में घर न लौटने वाले प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई (उसे) दुड़ती रहती है । ये ही क्रियाएँ (इन) नायिका की लास्य दशा बतलाने में भी प्रयुक्त की जा सकती हैं ।

निरहोत्कण्ठिता—या परित्यज्य प्रियतमो रतायोपकल्पितवेपा गतश्चिरान्नागच्छति सा निरहोत्कण्ठिता । यथा —

निरहोत्कण्ठिता—प्रिय मिलने के लिये अपनी साजसज्जा की हुई इसी (वासकमञ्जा) नायिका का स्वामी जब उसे छोड़कर चला जाए और बहुत देर तक न लौटे तो 'निरहोत्कण्ठिता' नायिका समझना चाहिए । जैसे :—

उष्णध्वासविवर्णिताधरदला मौढाश्रुपातोच्छ्वसत्—

पर्यन्ताखणलोचना प्रतिनिशं जागर्यया धूसरा ।

चन्द्रेऽप्युद्वलती रुजं विदधती स्वैरप्रदोषानिले

प्रत्याशार्गलरुद्धकण्ठपथिरुप्राणा वियोगेऽस्ति सा ॥

उम नायिका का निचला ओठ गरम माँसों से बदरग हो रहा है और आँसुओं की घारा बराबर बहते रहने के कारण आँखों के कोने सूजकर लाल हो गए हैं; रात के जागरणों से चेहरा सफेद हो रहा है; घन्ट्र को देखते ही चट्टेग उमड़ता है और सायंकालीन पवन के मन्द

मन्द संचार से व्याधि उत्पन्न हो जाने पर भी प्रिय से पुनर्मिलन की आशारूपी अर्गला के कारण उसके कण्ठगत प्राण शरीर में टिके हुए हैं।

खण्डिता—यस्याः पतिः परया सह रजनीमतिवाह्य प्रभाते भवन-
मभ्येति सा खण्डिता । यथा—

खण्डिता—जिस (नायिका) का स्वामी दूसरी नायिका के साथ रात्रि बिता कर प्रातः अपने भवन में लौटे उसे 'खण्डिता' नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

हा कष्टं हतया कया बिलिखितं कायो नस्वामेण ते
कि रोद्धासि भवैव खण्डनमिदं केलाघरे रुच्यताम् ।
किं धूर्त्तं प्रणमस्ययं प्रतिमुहुः क्षेमं न दत्ते सखी
सैषा किं करवाणि संस्पृशसि यत्तत्रापि स्वेदो न मे ॥

हाय, हाय ! किस मुई ने तुम्हारे शरीर पर नखों की खरोचें डाल दीं ? क्या तुम्हें किसी ने रोक लिया था ? आप मेरे द्वारा दिये जाने वाले ओष्ठ के क्षतों के समान इन क्षतों को क्यों दबा रहे हैं ? और झुककर मुझे प्रणाम कर क्यों छल रहे हैं ? अरे, क्या तुम्हारी इस प्रिय-सहचरी ने आपकी कुछ भी सेवा न की ? परन्तु मैं अब क्या कर सकती हूँ, क्योंकि अब तो तुम्हारे छूने पर भी मुझे कष्ट नहीं होगा ?

विप्रलब्धा—

अहरहरनुरागाद् दूतिकां प्रेष्य पूर्वं
सरमसमभिधाय क्वापि सङ्केतकं वा ।
न मिलति खलु यस्या बल्लमो दैवयोगात्
कथयति भरतस्तां नायिकां विप्रलब्धाम् ॥३३॥

यथा—

विप्रलब्धा—आचार्य भरत का मत है कि नायिका के द्वारा प्रतिदिन अपना सन्देश दूत आदि के द्वारा भेजने तथा अपनी आतुरता या मयेत स्थान की सूचना दे देने पर भी दुर्भाग्य या परिस्यत्तिवशः (जब) इसका प्रियतम उसी स्थान पर आकर नहीं मिलता हो तो उसे 'विप्रलब्धा' नायिका समझना चाहिए। जैसे :—

स पुण्यजन्मा स्वयमभ्युपेत्य नायाति न प्रत्ययेति चेत् ।

तदालि मित्याकथितं त्वयैव किं सुस्थिते तिष्ठसि कान्तमेहि ॥

वह बड़भागी वचन देकर भी जब खुद नहीं आया तो अब मेरे मन से उसका विश्वास उठ गया । सखी, तूने मुझे झूठ ही बतलाया । फिर तू यहाँ अब क्यों खड़ी है ? तू (ही) मेरे स्वामी के पास चली जा ?

कलहान्तरिता—ययाऽतिकोपया प्रणतोऽवधीरितं प्रियतमः
कोपात् सा कलहान्तरिता । यथा—

कलहान्तरिता—जो नायिका अपने क्रोधी स्वभाव के कारण या अतिशय क्रोध के वश होकर समा साँगने को हुके हुए प्रिय का भी विरस्कार कर दे उसे 'कलहान्तरिता' नायिका समझना चाहिए । जैसे :—

किं चित् ते व्यवसितं भवताव कोप-

चण्डालपक्षमकुन्धास्तमपास्य रत्नम् ।

सख्य समाश्रयति हि मामधुनाभिषत्य

तर्हि क्व यूयमगमदयितो यदा मे ॥

ए मेरे मन, तूने इस चाण्डाल क्रोध का पत्र लेकर उस रत्न को निकाल कर यह क्या कर डाला !! सखियों, अब तुम धीरज धरो और मुझे बतलाओ कि जब मेरा प्रियतम यहाँ से जाने लगा था तब तुम कहाँ (चली गयी) थीं ?

प्रोपितभर्तृका—यस्यास्तु कार्यवशात् देशान्तरमुपगत कान्तः
सा प्रोपितभर्तृका । सा तु तदागमननिमित्तत्रतोपवासनाक्षणपरिचर्यातनु-
तराङ्गयाष्टिस्तस्यागमनमेव चिन्तयति । यथा—

प्रोपितभर्तृका—जिसका स्वामी किसी कार्यवश दूर देश में चला जाए उसे 'प्रोपितभर्तृका' नायिका समझना चाहिए । यह भदा अपने स्वामी के आने की प्रतीक्षा में चिन्तित रहता परती है और स्वामी की निर्दिष्ट यात्रा के लिए घन, उपवास और घासों की सेवा करते हुए स्वयं को गला डालती है । जैसे :—

आलम्बितालक-रता-पिहितेक्षणास्मि
नेक्षे क शास्त्रिणि स्वगो मधुरं विरौति ।

एतच्च मे स्फुरति वामकमक्षि सख्य-

चेत प्रसीदति किमद्य ममैति कान्तः ॥

सखियों, मेरी आँखें इन झूलनेवाली लटों से ढँक गयी हैं, इसलिये कुछ दिसाई नहीं पड़ता कि यह पक्षी किम डाल पर बैठकर ऐसा मधुर गान कर रहा है । पर आज मेरी बाँयी आँख फड़क रही है और मन में प्रसन्नता व्याप रही है; तो क्या आज मेरे स्वामी लौटेंगे ?

यथा च—

मर्तु प्रोपितमर्तुका द्रुततरप्रत्यागमानागमौ
विज्ञातुं प्रवितीर्य पिण्डयुगलं तावदयार्द्रा स्थिता ।
नाज्ञासीदुभयद्य तत्र बलवत्काकारबाहम्बर-
क्रूरैकक्षणरूपदग्धकरटश्रेणी विलुप्तात्मनि ॥

तथा—

जब प्रोपितमर्तुका नायिका अपने प्रियतम के शीघ्र लौटने और न लौटने की परीक्षा करने के लिये चावल के दो गोलों को रखकर आशा की मीठी कल्पना में डूबने लगी, तभी वहाँ आकर कौओं ने जोर की आवाज करते हुए उन गोलों को अपनी क्रूर लीला करते हुए बखेर डाला तो उस बेचारी को इस (अप्रत्याशित) घटना के कारण किसी एक बात का ठीक से ज्ञान न हो पाया और वह घबरा उठी ।

स्वाधीनमर्तुका—यस्याधिन्नरति श्रीडालालस. पार्श्वे तिष्ठति पति. सा स्वाधीनमर्तुका । यथा—

स्वाधीनमर्तुका—जिस नायिका का स्वामी सदा उसके पास अनेक-विध प्रणय क्रीड़ाओं की लालमा लिए हुए बना रहे तो उसे ‘स्वाधीन-मर्तुका’ नायिका समझना चाहिए । जैसे :—

क्षणं कराहतेनेव क्षणं चरणपातिना ।

कन्दुकेनेव कान्तेन स्वाधीनेन विचेष्टते ॥

वह नायिका अपने अधीन प्रिय के साथ गेंद जैसी क्रीड़ा करते

हुए कभी तो उसे हाथ से टकर लगाती है और कभी पैरों पर गिराती (रहती) है ।

अभिसारिका—या तु दूतीमनपेक्ष्य गच्छति सा ऽभिसारिका ।
तत्र कुलजा पतिप्रायिता याति । यथा—पद्मावती वत्सराजम् । वेश्या
त्वप्रायितेव । यथा—रम्भा नलकूबरम् । तत्र कुलजाया गमने—

सालीना स्वेषु गात्रेषु त्रास-विप्रेक्षितानना ।

अपगुण्ठनसंजीता मूक्रीभूतविभूषणा ॥ ३३८ ॥

वेपमानोरुपुगला चक्रिता च पदे पदे ।

श्वासायासितसर्पाङ्गी कुलजा अभिसारिणी ॥ ३३९ ॥

मदस्त्रलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।

आग्निद्वगतिसञ्चारा वेश्या स्यादभिसारिका ॥ ३४० ॥

यक्रता दधती मार्गे यथा श्लोके कर्मिर्नरः ।

निश्चयं न समभ्येति पदोद्धारानरोपणे ॥ ३४१ ॥

कुमुदोदरकुटीं शून्यां कुर्वती मधुपायिभिः ।

निजामोदाहर्तृश्रेण्या कान्तं यात्यभिसारिका ॥ ३४२ ॥

अभिसारिका—जो नायिका किसी दूती की अपेक्षा जिये बिना
[अपने प्रिय से मिलने के लिए] प्रस्थान करती है उसे 'अभिसारिका'
नायिका समझना चाहिए । इनमें कुलजा नायिका अपने स्वामी के
आमन्त्रण या सूत्रेश प्राप्त करने पर प्रस्थान करती है । जैसे पद्मावती
का वत्सराज के पास अभिसरण करना । वेश्या नायिका बिना
आमन्त्रण के अपने प्रिय से मिलने को जाती है । जैसे रम्भा का
नलकूबर के पास अभिसरण करना ।

जब कुलजा नायिका अभिसरण करे तो वह अपना शरीर कपड़ों
से ढक लेती है, भय से धारि ओर देखती जाती है, मुँह पर घूँघट रग
पक चलती है और गहनों की आवाज नगने होने देती । अभिसरण के
समय डमकी दोनों पिंजलियाँ भय से काँपती रहती हैं और चोंचों से
साँस चलने के कारण उसका शरीर थक सा जाता है ।

यदि आगान्या या वेश्या नायिका अभिसरण करती है तो वह नरों
से रहती है और उसके मुँह से लड़गपड़ाते हुए शब्द निकलते हैं,

आनन्द की कल्पना से उसकी आँखें पिली दिखती हैं और चाल लड़खड़ाती हुई उद्धत गति में रहती है । वह रास्ते में अपने पैर उसी प्रकार आड़े-तिरछे जमाती है जैसे कोई नौसिलिया कवि अपनी रचना में अटपटे शब्द रखता हो । यह अपने शरीर पर लगाए गए सुगन्धित द्रव्यों से कमलों की गन्ध लेने वाले भौरों को लुभा कर अपने स्थानों से हटा कर अपनी ओर खींच लेती है ।

अनयोश्च काला नव बोद्धव्याः । श्यामा-प्रदोषः, चन्द्रोदयः, दुर्दिनम्, तुषारपातः, हेमन्तनिशा, निदाघमध्याह्नः, कोलाहलः, बाताली, महश्च । ‘मदनविधुरितानां नास्ति कालः’ इति केचित् । कुलजायाः पुन श्यामाप्रदोष एव । यथा—

प्रियतम से मिलने के लिये इन सभी नायिकाओं (कुलजा या बैर्या) के लिये नौ समय उपयुक्त माने जाते हैं । जैसे कृष्णपक्ष की रात, चन्द्रोदय की मध्याह्न, धरसात की अँधेरी दिवा-वेला, बरफ गिरने का समय, हेमन्तऋतु की रात, ग्रीष्म ऋतु की दोपहर, कोलाहल या मेले का समय, चारों ओर वास्या या लू चलने का समय या किसी विवाह आदि उत्सव का दिन ।

हुल आचार्यों का मत है कि कामपीडितों के लिये कोई समय निश्चित नहीं होता ।

कुलजा नायिका के लिये केवल कृष्णपक्ष की रात्रि का आरम्भ (प्रथम प्रहर) ही उपयुक्त समय माना जाता है । जैसे—

दूतीमागमयस्व मा प्रव सखि स्वैरा प्रकृत्यैव सा
वक्त्रीकृत्य धनुर्न पश्यसि चिरादन्वेति मां मन्मथ ।
मार्गोऽयं जनमश्नुते विटपिनि न्यस्यामि विक्षिप्तमः
सान्द्र नन्वमिसारिकासु कृपया आम्बन्ति स्वचोतकाः ॥

१ कविर्नव = नौसिलिया कवि जिसे अपनी रचना में उचित पदों का रखना नहीं आता हो । उक्त कथन की राजशेखर के निम्न उद्धरण से तुलना की जा सकती है ।

यथा :—आवापोदरणे तवद् यावद्वेलायते मन ।

पदाना स्थापिते स्थैर्ये हन्त, मिदा सरस्वती ॥

(काम्यमीमांसा G. O. S. ४० २०)

सखि, दूती को (मेरे साथ) भेजो, तुम मत चलो, क्योंकि यह दूती सो स्वभावतः स्वरिणी है [और] तुम धनुष चढ़ा कर मेरा पीछा करने को उद्यत इस काम को नहीं देख रही ! अरे, यह मार्ग बड़ा मधुन हो रहा है तो मैं इस पेड़ पर अपना शरीर टिका कर थोड़ा आराम कर लूँ। अँधेरा धीरे धीरे गहरा होता जा रहा है और हम अभिसारिकाओं पर कृपा करने के लिये भी इधर-उधर जुगनू घूमने लगे हैं।

समयां वर्णयन्त्येके या स्त्री भर्तुर्गृहे सकृत् ।

रतिमात्रकमभ्येति भीतिग्रोहीनजीविता ॥ ३४३ ॥

चिच्च एव वसन्त्यस्याः भागाः सर्वे मनोभ्रुवः ।

दुर्गतस्येव गर्भिण्याः दोहदाः निद्विजिताः ॥ ३४४ ॥

कुछ आचार्यों के मत में इसके अतिरिक्त 'समया' नामक एक अन्य प्रकार भी (नायिकाओं का) होता है।

जो रति मुख्य से आकृष्ट हो कर प्रिय के भजन में जाए और भय के कारण जिसके प्राण घबराते हों उसे 'समया' (अभिसारिका) नायिका समझना चाहिए।

(भय के कारण) इस नायिका के मन में प्रियतम से मिलने की इच्छा और क्रीडा, विहारसुख आदि के सारे भाव बिना पूर्ण हुए रह जाते हैं जैसे किसी दरिद्र पुरुष की गर्भिणी भार्या के मनोरथ हों।

इत्यासा समया वर्जयित्वा लास्यविधौ चरितानि ।

लास्य में इन नायिकाओं की अवस्था या कार्यों को प्रस्तुत किया जाता है पर समया नायिका का अभिनय लास्य में नहीं रचना चाहिए।

अथ चेशालङ्कारा कथ्यन्ते—

प्रकाशरूपकं सत्तं सत्ताद् भागाः समुद्भवाः (न्विताः) ।

तेभ्यो हानादिनिष्पत्तिरित्याह भरतो मुनिः ॥ ३४५ ॥

लीला विलासो निच्छिन्निभ्रमः निरुद्धचित्तम् ।

मोहायितं कुटुमितं निव्योको ललितं तथा ॥ ३४६ ॥

मिथतश्चेति मित्रेया स्त्रीणां भागाः स्वमारजाः ।

हान-हेलाक्षिविशेष-मौग्य-मद-तपनान्यपि ॥ ३४७ ॥

चेष्टालङ्कार—अब हम (नायिकाओं के) चेष्टालङ्कारों को बतलाएँगे। भरतमुनि का मत है कि ‘सत्व’ एक मानस गुण है जो प्रकारात्मक स्वरूपवाला होता है। इस सत्व से भाव की और भाव से हाव (आदि) की उत्पत्ति होती है।

नायिकाओं के सहजगुण सम्पन्न अलंकारों में निम्न (दस) अलङ्कार आते हैं यथा—(१) लीला, (२) विलास, (३) विच्छिन्ति, (४) विभ्रम, (५) क्लिक्किञ्चित्, (६) मोट्टायित, (७) कुट्टमित, (८) विव्योक, (९) ललित और (१०) विकृत। इसके अतिरिक्त हाव, हेला, विक्षेप, मीगध, मद और तपन भी सहज भाव माने जाते हैं।

लीला—

तत्र प्रियतमस्यानवाससमागमा सखीनां पुरा स्वचिष्ट-विनोदायं वेपगति-हसितमणितैरनुकृतिर्या क्रियते सा लीला। यथा—

लीला—जब प्रिय का मिलन न पाकर सखियों के समक्ष अपना मन बहलाने के लिये नायिका वेप, गति, परिहास तथा वृत्ति आदि से अपने इष्टतम प्रिय का अनुकरण करे तो उसे ‘लीला’ समझना चाहिए। जैसे :—

वेणीबन्धकर्पादिनी सिस्तनुः श्रीसृण्डपांत्कुरैः

केतक्येकदलेन्दुभृद्-बिसलता-ज्यालोपवीतिन्यपि।

प्राक्पाणिग्रहणाद् विनोदविधये सत्या-पुरो लीलया

कुर्वाणानुकृतिं हरस्य दिशतु श्रेयासि व. पार्वती ॥

(नाग० सर्व० १३।१६)

१. आचार्य भरतमुनि ने लीला विलास आदि की छियों के स्वभावच बलङ्कारों में गणना की है परन्तु इन्हीं की चेष्टालङ्कारों में गणना करना बौद्ध आचार्य राहुल का मत है। चेष्टालङ्कारों में राहुल ने ही मीगध, मद, भाविकत्व तथा तपन की भी गणना की है। सागरनन्दी ने भाविकत्व को चेष्टालङ्कारों में नहीं लिया तथा हाव, हेला के साथ विक्षेप भी जोड़ दिया है। विक्षेप का यहाँ रत्नना पद्मश्री का अनुकरण है जिनने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ‘नागरमर्चरव’ में लीला आदि सभी चेष्टालङ्कारों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वर्णन दिया है। पद्मश्री बौद्ध हंसक थे तथा यह भी सम्भव है कि पद्मश्री ने यह प्रेरणा आचार्य राहुल से ही ग्रहण की हो !

अपनी बेणी को ऊपर चढ़ा कर जटाजूट जैसी बाँधती हुई, चन्दन की धूलि को शरीर पर लेपन कर शुभ्र भग बना लेनेवाली, केतकी की पत्तुरी को अपने मस्तक पर बाँध कर अर्धचन्द्र बना लेनेवाली, कमल-नाल के तन्तुओं से सर्प के यज्ञोपवीत जैसे धारण किये हुए अपने विवाह के पूर्व सखियों के समक्ष मनोविनोदार्थ अपने भावी वर शिवजी के समग्र स्वरूप का अनुकरण करनेवाली देवी पार्वती जी आपको समृद्धि प्रदान करें।

यथा च—

एवं बाहून् विषत्ते जलयति चरणावेवमेवञ्च दृष्टिं
न्यस्यत्यग्रे सखीनामिति हरनटने न्यस्यमाने भवान्या. ।

प्रस्ताधारब्धपूर्वं पृथुजघनतया लम्बमानान्तरान्त—

श्रीडानारूढदूरोल्लसनस्यविधिर्दण्डपादोऽवताद्वः ॥

तथा—

जब अपनी सखियों के समक्ष पार्वती ने शिव के नृत्य को प्रस्तुत किया तो वे भीच में इस प्रकार कहती चली—‘वे अपने बाहुओं को [नृत्य के अवसर पर] इस प्रकार रखते थे, फिर इस प्रकार अपने पैरों को उठाते थे और इस तरह अपनी दृष्टि चारों ओर घुमाते थे’। इस प्रकार नृत्य के बीच कह कर जब पार्वती जी ने अपने उठाये हुए सीधे तने पैर को नीचे रखा तभी अपनी भारी जघा और हिलते हुए बच्चों के कोनों को देख कर उन्हें लज्जा आ गयी और (पुनः) वे दूर तक फैलाए हुए उसी पैर को वेग से पृथ्वी पर सीधा न रख सकी। भगवती पार्वती जी का इस प्रकार उठा हुआ सीधा पैर आप सभी की रक्षा करे।

विलासः—प्रियोपगमने यत् स्थानासनगमनविलोकितेषु विकारोऽ-
कस्मात् क्रोधस्मितचमत्कृतयो मुखस्य विकृण्णं स विलासः । तद्यथा—

विलास—प्रिय के समीप जाने के समय खड़े होने, बैठने, चलने और देखने में अकस्मात् विशेष परिवर्तन के साथ क्रोध, मुसकुराहट और आश्चर्य मिश्रित भावों में मुँह को रखते हुए इठलाना ‘विलास’ कहलाता है। जैसे :—

स्सल्लितबहुलं पादन्यासे विलोकितमन्यत
स्थितिरविपये यक्त्राम्भोजं प्रयाति विकृण्णम् ।

स्मितमपि मुधा व्यर्थं क्रोधो वृथैव चमत्कृति—

दयितसविधं यान्त्यास्तन्याः विलासरसो हयम् ॥

(नाग० स० १३ । १८)

प्रिय के समीप जाने की दशा में कृष्णाक्षी युवती द्वारा अपने पैरों को उठा कर आगे रखने में ठमकना या चूक हो जाना, बिना किसी लक्ष्य के ही दृष्टि को घुमाना और उसका किसी एक स्थान पर न टिकना. मुरझ कमल को सिकुड़ाना, अकारण ही मुस्तकान बिखेरना तथा आश्चर्य करना आदि ऐसे कार्य हैं जो मीज और आकर्षण के करतब बन जाते हैं ।

विच्छित्तिः—मालाभरणाच्छादनविशेषाणां कुतश्चित् प्रियापराधादीर्ष्याऽनादरेण सखीनां प्रयत्नाद्धारणं विच्छित्तिः । तथा—

विच्छित्ति—प्रिय के द्वारा (किसी) अपराध के हो जाने पर स्त्रीम या डाह के कारण फेंके गए माला, भूषण, वस्त्र आदि निविध पदार्थों को सखियों के द्वारा पुनः नायिका को पहनाया जाना ‘विच्छित्ति’ कहलाता है । जैसे :—

सखि प्रेयान् स्वामी स्खलितमकरोत् क्षन्तुमुचितं
विघटस्वालङ्कारं नहि नहि बलादर्पयसि किम् ।
अयि श्रेयश्चिन्त्यं सततमबलाभिः प्रणयिनौ
बिभूषा मा मुखं प्रतनुमपि विच्छित्तिविषयाम् ॥

(नाग० स० १३ । ८)

मरि, तेरे प्रिय स्वामी ने यदि कुछ अपराध (निप्रिय) भी किया हो तो उसे क्षमा करना ही उचित है (अतः) तुम इन अलङ्कारों को (अथ) पहिन लो । अरे, तुम मुझे जबरन इन अलङ्कारों को क्यों पहिना रही हो ? अरी, स्त्री को अपने भर्त्ता का सदा मंगल विचारना चाहिए और गहनों को कभी इस प्रकार नहीं उतारना चाहिए क्योंकि ये थोड़े होने पर भी (प्रिय को आकर्षित करने में) बड़े शोभा बढ़ाने वाले या प्रभाव रखने वाले होते हैं ।

अन्ये—प्रियेण दत्तं प्रीतिनिबन्धनं स्वल्पमपि भूषणं विच्छित्ति-मिच्छति । यथा—

दूसरे आचार्यों के मत में प्रिय के द्वारा दिया हुआ छोटा सा महना भी प्रीति की निशानी होने से जब नायिक द्वारा धारण किया जाए तो उसे भी 'निच्छिन्ति' समझना चाहिए। जैसे :—

सपत्नीनामग्रे शिरसि दयितेन प्रतिधृता
वहत्येका गुण्ठामपि बकुलमाला वरतनु ।
न वस्तु घ्यातव्य महदहहमेतत् प्रियजने
प्रवृत्ति प्रेम्णोऽस्मिन्ननुहरति सौभाग्यवसतिम् ॥

यह युवती अपनी सोती के बीच सूखी बकुलमाला को भी—जो उसके प्रिय ने भस्तक पर गजरे जैसी उसे पहिनाई थी—धारण किये है। (क्योंकि) प्रियतम के द्वारा प्रेम से दी गई वस्तु के छोटे-बड़े होने का विचार अनुचित (होता) है। यह तो प्रेम का वह कार्य (या निशानी) है जो स्वयं सौभाग्य का स्थान होने से एक विशिष्ट आकर्षक स्वरूप लिये होता है।

विभ्रमः—अनिमित्तमासनादुत्थायान्यत्रगमनं प्रियमारब्धकथा-
माक्षिप्य सख्या बालपन्मुधैव हसितक्रोषौ पुष्पादीना वाञ्छा, तस्य
सहसैव परित्याग, बलाभरणमाल्यानामकारणत खण्डनं मलनं (वा)
विभ्रमः । तद्यथा—

विभ्रमः—बिना कारण अपने स्थान से उठ कर चल पड़ना, अपने स्वामी की बातों को अनसुनी कर सखी से सभाषण करने लगना, बिना कारण हँसना और क्रोध करना, पुष्पो आदि की इच्छा करना और फिर एकदम उन्हें फेंक देना, वस्त्र अलंकार तथा पुष्पमालाओं को तोड़ या मल डालना आदि को 'विभ्रम' समझना चाहिए। जैसे :—

आस्ता नाथ मवत्कथा सखि लता सिद्धा त्वया माधवी
कान्तैतन्मम सम्प्रयच्छ कुसुमं किं वाऽमुना मे फलम् ।
माल्य निर्मल्यमि मौक्तिकमिदं न्यस्तं त्वया दक्षताम्
इत्थ विभ्रमसम्भ्रमो मदयति प्रेयासमेणीदृश ॥

(नाग० सं० १३ । १४)

अन्यस्त्वन्यथा लक्षणमाह—'योपिता यौवनविमारो विभ्रम इति ।'

तद्यथा—

स्वामिन, अब अपनी बात रहने दो। सखि, तुमने उस माधवी लता को तो सींच दिया है ? प्रिय, जरा इस पुष्प को तो मुझे दे दो या अब रहने दो, इससे कोई लाभ नहीं है। मैं अब इस पुष्पमाला को मल दूंगी और तुम्हारे द्वारा लादी गयी यह मोतियों की माला भी जल जाए तो अच्छा। इस प्रकार मृगनयनी ललनाओं के चपलता-पूर्वक किये जानेवाले प्रदर्शन उनके प्रियों को और भी मदहोश कर डालते हैं। दूसरे आचार्यों के अनुसार ‘विभ्रम’ का लक्षण है—‘स्त्रियों में स्थित उदाम यौवन का जोश या विकार ही ‘विभ्रम’ है।’ जैसे —

यस्मिन्वात्यविदूषकः स्मितयुधावर्पेकविष्कम्भको
रागाद्धो रतिसूत्रधारविकृतिप्राग्रहभूविभ्रमः ।
तारुण्यं सुतनोः स्मरप्रकरणं सामग्र्यमप्याश्रितं
नो विद्यो कतमोऽत्र नायकपदे घात्राधिरोपिष्यते ॥

जिसमें धान्यकाल (कन्यात्व) ही विदूषक है, सुतकानों की अमृत धृष्टि ही विष्कम्भक है, अनुराग अंक है, रति सूत्रधार है, रूप-भेद [बार-बार अनेक स्वरूप बदलना,] ही पूर्वराग है तथा यौवन ही विभ्रम है ऐसा इस सुन्दरी का प्रणय ही एक नाटक [स्मर प्रकरण] है जो इन अङ्गों से अपनी पूर्णता तो बनाता है पर अभी तक यह विदित नहीं हो पाया कि इस नाटक के—नायक पद पर बिघाता किसे बैठाया ?

किलकिञ्चित्—यत्र किल शुष्करदितहसितक्रोधमयव्यामि-
थरूपमिष्टजनदर्शनाविर्भूतहर्षवशात् क्रियते तत् किलकिञ्चित् ।
तद्यथा—

किलकिञ्चित्—जहाँ बिना आँसुओं के रोना तथा अकारण हास्य,
क्रोध और भय से मिश्रित स्वरूप को प्रिय के दर्शन से होनेवाले हर्ष
के अवसर पर उतावली में प्रकट किया जाए तो उसे ‘किलकिञ्चित्’
समझना चाहिए। जैसे :—

क्रन्दत्यवाप्पमभये भयमात्मनोति
क्रोधञ्च नाटयति तत्क्षणमेव हास्यम् ।

आलम्ब्य हर्षमबला किलकिञ्चित्प्रसृत्यं

भावान् विभावयति पुण्यवतो ऽन्तिकस्था ॥

(नाग० स० १३ । १२)

यह युवती बिना आँसुओं को निकाले ही रोने लगती है, बिना किसी भय के ही डरती है और कभी क्रोध और कभी मुमकान बतलाती है । इस प्रकार हर्षविभोर हो कर यह 'किलकिञ्चित्' के सभी लक्षणों को प्रियतम के समीप बतलाने हुए उसके सौभाग्य [भाग्यशालिता] की सूचना दे रही है ।

मोहयितम्—प्रियतमकृपाश्रवणावर्जितकर्णया यद् भङ्क्त्वा-
ऽङ्गानि विजृम्भितं सन् मोहयितम् । तद्यथा—

मोहयितम्—प्रियतम के रिपय में कोई बात चले तो उसे सुनने के लिये अपने कान लगाना और बीच बीच में अपने अवयवों को आलस्यवश जभाई लेते हुए मरोड़ना आदि को 'मोहयित' ममकता चाहिए । जैसे —

तस्याद्भिद्वितयं नमन्ति विबुधाः सैवैककं सर्ववित्

त मृत्युञ्जयमामनन्ति मुनयः सोऽद्याप्यपाणिग्रहः ।

इत्यारुर्ष्य कथा हरस्य विजयापार्श्वे विवाहात् पुरा

भङ्क्त्वाङ्गानि विजृम्भितं गिरिभुवो मोहयितं पातु वः ॥

(नाग० स० १३ । २८)

भगवती पार्वती का वही मोहयित भाव आपकी रक्षा करे जिसमें विवाह के पूर्व विजया मन्त्री के समीप बैठी हुई पार्वती ने—'देवता उनके चरणों की वन्दना करते हैं, ऋषिजन उन्हें मृत्युञ्जय मानते हैं और अभी उनका धिक् नही हुआ है' आदि राज्ञी के किये गए वर्णनों को बड़े ध्यान से सुना और फिर अपने अङ्गों को मरोड़ा और जभाई ली ।

कुट्टमितम्—प्रियस्य रतिसम्भोगे गाढपरिपीठनेषु उद्दामहर्षविशेन हि किं पीडयसि न सहास्मीति मुखे दुःखाविष्करणं कुट्टमितम् ।

तद्यथा—

कुट्टमितम्—सम्भोग काल में प्रिय के द्वारा किये गए गाढ आलिङ्गन-जन्य आनन्द प्राप्त करते हुए ओ दुःख का प्रदर्शन करते हुए—'आप

क्यों दुःख दे रहे हैं ? हाय, अब नहीं सहा जाता’ आदि कहना ‘कुट्ट-
मित’ समझना चाहिए । जैसे :—

कि वान्त निर्दयमयं मुजन्दलीभ्यां
द्वाभ्यां निपीडयसि मां न सहिष्णुरस्मि ।
वामश्रुवागिति सुतेष्वपि दुःसमाजां
घन्यः शृणोति यदि कुट्टमिताक्षराणि ॥

(नाग० स० १३ । ३०)

‘प्रिय, तुम अपनी दोनों कोमल भुजलताओं से मुझे इतना निर्दयतापूर्वक क्यों दबा रहे हो ? मैं इसे सहन नहीं कर सकूँगी ?’ सुन मे भी दुःखों को घटलाने वाले सुन्दरी युवतियों के ऐसे ‘कुट्टमित’ दरा के शब्दों को जो सुनता है वह निश्चित ही माग्य-
शाली है ।

यथा च—

आश्लेषे निविडे ददत्यपि वपुर्नृते न नेत्रक्षरं
वाञ्छलेव नखशतं वितनुते जातां चमत्कारिताम् ।
दत्ते चाधरस्य सण्डनविधौ भूनेति हस्ताम्बुजं
तन्वी कुट्टमितक्षणेन कमितुश्चेन समाकर्षति ॥

अपने शरीर को आलिङ्गन की गाढ़ता से बाँध कर भी जो नहीं-
नहीं शब्दों का उच्चारण करने लगती है । नखशत की चाहुरस कर भी
उसके अनुभव में जो आश्चर्य जताती है और अपने अपरों को चुम्बन
के लिये अर्पित करने के साथ ही अधरक्षन के समय अपने करकमल
को कंपाती है । इस प्रकार ‘कुट्टमित’ की चेष्टाओं से वह कृशाही युवती
अपने प्रियतम का मन मोहित कर लेती है ।

विश्लोकः—इष्टानां आदानां प्रणयेऽप्यनास्थागर्वमम्भवः पाद-
प्रहारः प्रियस्य कृतागमः चरणयोः काञ्च्या संयमनं पुष्पमालया ताडन-
मनादरपरिग्रहो वा विश्लोकः । तद्यथा—

विश्लोकः—अपने इष्ट पदार्थों को भी अनिच्छा या अहंकारवश
ठुकरा देना, अपराधी प्रिय को पैरों से पीटना, उसके पैरों में करघनी

बाँध देना, पुष्पमाला से पीटना या अनादरपूर्वक भर्त्सना करना 'विन्वोक' समझना चाहिए। जैसे :—

अनास्था वस्तूनामभिमिततराणामुपहृतौ
घनो गर्वस्तन्व्या रूपविहसिताडम्बरविधिः ।
महार पादाम्या यमनमपि काञ्च्या चरणयो
कृतागा विन्वोकं तदिदमिति घन्योऽनुभवति ॥

(नाग० स० १३ । १०)

यह सुन्दरी अपनी इष्टतम वस्तुओं को सामने रखने पर भी उन्हें देखने के लिये अपना मुँह ऊँचा नहीं करती है। जिसका बड़ा हुआ गर्व क्रोध धीरे धँसी के बड़े बड़े आडम्बर खड़े करता है। जो अपराधी प्रियतम को अपने पैरों से ठोकर लगाती है और उसके पैरों को करधनी से बाँध देती है। इस प्रकार के 'विन्वोक' का अनुभव लेनेवाला उसका अपराधी पुरुष सचमुच भाग्यशाली (होता) है।

ललितम्—चरणनिपात—रणरणित—नूपुरं मण्युचरणरेखावशेष-
स्थितत्रिवस्त्रिरङ्गसंस्थानसमुन्नमित—भुजगुर स्थूलमसारणाद्विगुणपृथक्क-
तस्तनस्तवकं स्कन्धावसक्तैककुण्डलमुल्लसितभ्रु साचीकृतविलो-
कितं ललितमिति । तथा—

ललित—जहाँ पैरों को पृथ्वी पर रखने पर नूपुरों की झनझनाहट होने लगती हो, कोमल चरणों को पृथ्वी पर टिकाते हुए खड़े हो जाने पर रेखाओं की लहरें अंकित हो जाती हो, भुजाओं के ऊपर उठाने पर नाभि-प्रदेश में तीन रेखाएँ लहर जैसी उभर आती हों, छातियों के फैलाने पर दोनों डरोज गुच्छों जैसे त्रिभाजित हो कर उभर आते हों, कन्धों से कुण्डल टकराने लगते हों या टिक जाते हों और भोंहों को नचा कर तिरछी निगाहों से देखा जाता हो तो उसे 'ललित' नामक अलङ्कार समझना चाहिए। जैसे —

स्कन्धाश्रितैकमणिकुण्डलमुन्नतैक-

अवहिसाचिविनिवेशितद्विपातम् ।

चेतो न कस्य रलितं हरति प्रियाया-

हासो यतोऽशुभनिरुद्धरदेन्दुफान्ति ॥

(नाग० स० १३ । ३६)

‘अपनी भौह रूपी लता को झुका कर वह तिरछेपन से जब देरती है तो उस सुन्दरी के एक कन्धे से मणिजडित कुंडल टकराने लगता है और मुमकानों के बीच मुँह से बाहर आनेवाली दाँतों की चन्द्रिका कपड़ों से टकरा कर रुक जाती है’ इस प्रकार प्रिया के ललित अलङ्कार किम प्रिय के चित्त को नहीं माने या मुग्ध कर लेते ?

विकृतम् — वाच्यानामर्थानां ज्ञानेऽपि यदभाषणं तद् विकृतम् ।

तद्यथा—

विकृत (विवृत ?)—किसी पदार्थ का ठीक से ज्ञान रखने पर भी हमका सही वर्णन न करना ‘विकृत’ समझना चाहिए । जैसे :—

कण्ठे क एष तव वल्लभ नूपुरोऽयं

तत्पादमूषणमयं वलयस्तदानीम् ।

इत्यादिवाच्यमविभाज्य वदो मृगाख्या

ज्ञानेऽपि तद् विकृतमुत्सुकतां तनोति ॥

(नाग० स० ११ । २४)

‘प्रिय, तुम्हारे गले में क्या है ?

यही पैँजन, और क्या ।

तब तो यह पैरों का गहना है ।

अच्छा, तो इसे कड़ा समझ लो, इस प्रकार ज्ञान रहते हुए भी हम मृगालयनी द्वारा—बिना पदार्थका ध्यान रख कर किये हुए संभाषण प्रिय की अभिलाषा और कौतूहल को और भी बढ़ा देते हैं ।

हावः—हरविलोचनानलज्ज्वलित मदन-ताप-निर्वापण-मुषा-सार-सौंदर्यस्मितं प्रतिपदमङ्गिविदग्धवचनमपाङ्गमागमिकविलोकितं स्नेहनि-स्यन्दि प्रेमानुरग्निं कुलपालिकाचरणसूचिदाक्षिण्यानुवर्तिं बाष्पमरुद्ध-कण्ठकुटिं दुःखनिर्वापि बाष्पगद्गदशालपितं यत् तरुण्या ॥ हावः ।

तद्यथा—

हार—त्रिपुरारि शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि से दग्ध होनेवाले काम के सन्ताप को दूर करने में समर्थ तथा अमृत के तात्त्विक-सार के समान दुःखज्ञान से युक्त, उद्धारित किये गए प्रत्येक पद में कलापूर्ण अभिव्यक्ति के साथ उक्ति कौशल लिये हुए चित्रणों को भेजने और

स्नेहने के कार्यो से स्नेहाभिव्यक्ति करनेवाले दृष्टिपात के साथ प्रणय के परिणामों के निदर्शक, कुलीनता और विनयपूर्ण वृत्ति के सूचक, उदारता और सारण्य से अनुमृत, आँसुओं से कँधे कण्ठ से उच्चारित तथा स्नेहाश्रु से संरलित युवती के गदगद प्रेमोद्गार जिनके कथन मात्र से दुःख शान्त हो जाए तो ऐसे उद्गारों से आपूर्ति उक्तियों को 'हाव' समझना चाहिये ।

जैसा कि कहा भी है :—

प्राप्तेषु शृङ्गाररसाश्रयेषु माघेषु कामाङ्कुरचिह्नभूतम् ।

उत्पद्यते यत्स्मितवीक्षितोक्तम् उन्मीलितं वामतया स हावः । ३४८।

(ना० स० १३ । २०)

जो शृङ्गार रस का आश्रय लिए हो, जिनमें काम या अभिलाष के अङ्कुर मूचित होते हैं, जो मुमरान और दृष्टिचोष के माध्य कहे जाएँ तथा ऐसे प्रतिमूल वचनों से जो प्रकट होता है उसे 'हाव' समझना चाहिये ।

हेला—शृङ्गाररसप्रवृद्धौ या रत्यभिनिवेशनिष्ठा सा हेला ।

तथया—

हेला—शृङ्गार के विस्तार प्राप्त करने या प्रेम के अतिराव बढ़ जाने पर रति के लिए की जानेवाली हठ का नाम 'हेला' है । जैसे :—

आसज्य स्वयमेव चुम्बनविधिर्याग्न्या विनालिङ्गनं

तत्पान्ते लपनेन वेपथुमता पर्यायण वानुनि ।

क्रोधोक्ती मम मर्षयेत्यनुनयस्तन्व्याः स्मरशीडित-

मौदेच्छाभिरति प्रियस्य हृदयं हेला बलात् कपति ॥

(ना० स० १३।६)

जब उस घृशाङ्गी ने (अपने) प्रिय का चुम्बन लेकर बिना स्पर्श अनुनय के कम्पित होने वाली अपनी जंघाओं को नायक के घुटनों तक फैला कर आलिङ्गन करते हुए प्रिय के बिछोने के एक कोने पर करते हुए यह कहा कि—'हे प्रिये, तुम क्रोध में कहे हुए मेरे वचनों को भूल जाओ' और इस प्रकार मकेतों से अपनी संमोग की प्रबल आकांक्षा को प्रकट किया तो इस 'हेला' के द्वारा वेग से प्रिय का मन उसने अपनी ओर चलाना आकर्षित कर डाला ।

विक्षेपः—अर्धावसक्तधम्मिल्ल विसस्युल-निवेशिततिलक लोच
नैकलम्बकज्जललोऽवहेलधृतपतितजघनसिचयाञ्चल ताम्बूलरागलेखल-
च्छित्तैकाधरप्रदेशो विविधविकारनाट्यनर्तको विक्षेपः । तद्यथा—

विक्षेप—‘विक्षेप’ मे केशरचना या चोटी का आधा भाग धँसा
और आधा खुला रहता है, ललाट पर तिलक ठीक तरह से नहीं
लगाया गया होता है, एक आँख मे ही काजल का थोड़ा स्पर्श मात्र
किया जाता है, जघाओं से रिसकने वाले कपड़े को सापरवाही से
धामा जाता है, एक या ऊपरी ओठ पर ही पान की ललाई छापी
रहती है और अनेक मानसिक विकारों या परिवर्तनों का (जिसमे)
अन्तर्गत नर्तन चलता रहता है [तो इस सभी क्रियाओं के द्वारा
‘विक्षेप’ समझना चाहिए] । जैसे —

धम्मिल्ल बद्धमुक्त तिलकमसकलन्यस्तशृत्तिञ्च धत्ते
दृष्टावेकत्र कालाञ्जनमुरसि रणत्किङ्किणी रत्नकाञ्ची ।
अंसोत्क्षिप्तार्धहारा क्रमुकरसकणालाच्छित्तैकाधरान्ता
कान्ता विक्षेपशिक्षास्वपि हरति मनाक्सस्तस्मद्दोखासा ॥

यद्यपि उम मुन्दरी के केश का जूटा आधा ही बाँध कर छोड़ दिया
गया है, ललाट का तिलक ठीक स्थान पर नहीं लगा है, एक आँख मे
काजल का स्पर्श मात्र हुआ है, मज्जमाने वाली मणिनटित करधनी
छाती तक रिसक आयी है, गले का हार ऊपर उठा कर कंधों पर रखा
लिया गया है, ओष्ठ के एक भाग में ही पान सुपारी का रंग चढ़ पाया
है और जघाओं से धीरे-धीरे रिसकने वाले वस्त्र का कोना धामा
गया है पर फिर भी यह ‘विक्षेप’ प्रियतम के मन को अपनी ओर
खींचने में समर्थ हो रहा है ।

मौगध्यम्—

मौगध्यं—बाल्यव्यपगमाद् यद्विसदृश वचनम् । लोके यस्य
आरिमेति व्यवहारः । तद्यथा—

यदादि मे चन्दनविन्दुरेप सख्या ललाटे लिखितस्तदादि ।

शिरोव्यथा मेऽस्ति कथं नु मात पर्याहरं पौरजना वहन्ति ॥

यथा च—

के द्रुमास्ते क वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।

नाथ मत्कङ्क्षणे न्यस्तं येषा मुक्ताफलं फलम् ॥

मौग्य—घचपन घोट जाने पर भी भोलोभाली या अप्राकृतिक घातें करना 'मौग्य' समझना चाहिए। इसको लौकिक भाषा में 'आरिम' कहा जाता है। जैसे :—अरी मैया, मेरी सखियों ने जब से मेरे भाल पर चन्दन तिलक लगाया तभी से मेरे सर में उसके भार के कारण दर्द होने लग गया। फिर नगर के ये मजदूर इतने भारी सामान को किस प्रकार ढो लेते होंगे, जरा बतलाओ तो ?

और भी—हे स्यामिन्, मतलाइये वे वृक्ष कौन हैं, किस गाँव में होते हैं और उन्हें किन ने लगाया है ? जिनके फल मेरे बंकों में जड़े हुए ये मोती हैं !

मदः—तारुण्यातिशयजन्मा रमसः सुरापानप्रणयी मद इव नैक-
विकारभूमि. मदः । तथथा—

मद—उदाम यौवन में उत्पन्न होने वाला एक जोश जो मदिरा-
पान से होने वाले नशे के समान अनेक परिवर्तन या विकारों को उत्पन्न कर दे तो उसे 'मद' समझना चाहिए। जैसे :—

आलोकः स्मितकौमुदीसहचरो दृष्टिः महर्षोल्लासा

मूर्त्त्याध्वरदीक्षिता चरणयोर्न्यासः समे भङ्गुरः ।

वेषेषु क्षणिकस्पृहा रतिविधायद्वैतवादाश्रयं

तन्व्याः नैकविकारमूर्ध्निमदप्रायो मदः स्फूर्जति ॥

उमकी बातें मुसकान की चाँदनी के साथ निकलनी हैं, उमकी आँखें हर्ष के उल्लास से चमकीली बनी रहती हैं, उसकी भोंहों में नृत्ययज्ञ की दीक्षा ले ली है और उसकी धाल हर ढंगों पर लड़खड़ाती रहती है। अपनी सजावट में उसे कम लगान रह गया है और रतिप्रोढ़ा के व्यवहार में अद्वैतवाद का विद्वान्त अपनाया जाता है। इस प्रकार अनेक परिवर्तनों के प्रदर्शन में कारणीभूत उम सुन्दरी का मद भाव मदिरा के नशे के समान प्रकट होकर मदमस्त बना रहा है।

तपनम्—प्रियजने कापि गते प्रहरार्धमपि नागच्छति स्वयमेव परिकल्पित-दौर्भाग्य-ज्वरगृहीता क्षणरुदितश्चसित-स्वप्न-द्वारावेक्षण शिरो-व्ययादिविषयं तपनम् । तद्यथा—

तपन—कायवशा बाहर जाने वाले प्रिय के आधे पहर तक न लौटने पर नायिका द्वारा उसके विषय में स्वयं ही किसी अनिष्ट या दुर्भाग्य की कल्पना करते हुए बराबरान्त हो उठना, क्षण क्षण में सिसकना, चोरों से सास लेना, सपने देखना, दरवाजे की ओर दृष्टि दौड़ाना तथा (इसी कारण) सर दर्द होने लगना आदि को ‘तपन’ समझना चाहिए । जैसे :—

प्राप्ते न प्रहरार्धमेव दयिते भङ्क्त्वा नितम्बे मिथ
संसक्ताङ्गुलिजालमध्यमधुना सख्य कृतार्था इति ।
व्याहार स्वपनं मुहुः प्ररुदित गौर्यर्थनाभ्यर्चनं
तन्वहया. तपनं करोति कृतिन प्रेमाणमुच्चैरिदम् ॥

(ना० स० १३ । ३४)

प्रिय के चले जाने के बाद यद्यपि अभी आधा पहर ही बीता है पर फिर भी एकान्त में अपनी कमर झुका कर उस पर अपनी सारी डगलियों को एक साथ मिला कर रसते हुए वह कहने लगी—‘अब मेरी मखियों (सौतों ?) को सन्तोष मिलेगा’ फिर कई बार नींद लेते हुए, कभी रो कर उस कृताङ्गी युवती ने पार्वती जी से मन्त्रित होते हुए पूजन करते हुए प्रार्थना की और इन सभी बातों ने उसके भाग्यशाली नायक के अनुराग को और बड़ा डाला ।

सङ्कीर्णा एवैते प्रायेण भवन्त्यलङ्काराः ।

एकस्योत्पादः पृथक् पृथङ् नेष्यते शुद्धः ॥ ३४९ ॥

तथा हि—

लोकेषु दुर्लभमनोनिषिष्टम्

आत्मानमापेक्षितं त्वराम् ।

स्त्रीणां मिलासादि-विचेष्टितानां

क्रामत्प्रवृत्तिं न सहत्यनङ्गः ॥ ३५० ॥ इति ।

(एक ही उदाहरण में) ये अलङ्कार प्रायः मिले हुए या साथ साथ (भी) प्राप्त होते हैं । इनमें प्रत्येक का पृथक्-पृथक् शुद्ध या अमिश्रित स्वरूप में प्रयोग आवश्यक नहीं होता है ।

यद्यपि काम अदृश्यस्वरूप वाला होता है परन्तु फिर भी वह जगत् के सभी जन मानसों में व्याप्त रहता है और बड़ी शीघ्रता से जब प्रकट होता है तो स्त्रियों के आन्तरिक विलास आदि चेष्टाओं के द्वारा अलङ्कारों की बिस्तारक गति को किसी प्रकार (की) क्षति नहीं पहुँचाता ।

अथ नाटिका—

यथोच्यते—

सभेदा कौशिकी यत्र शृङ्गारद्वयमुज्ज्वलम् ।

चतुरङ्गं सहासञ्च नाटकं नाटिकां विदुः ॥ ३५१ ॥

नाटिका—अब हम नाटिका का स्वरूप बतलाते हैं । जैसा कि कहा भी गया है :—

जिसमें कौशिकी वृत्ति के (सभी) अङ्ग हों, शृङ्गार रस के दोनों [सयोग, विप्रलम्भ] प्रकारों का निवेश रहे, चार अङ्क हों तथा नाटक के समान हास परिहास युक्त घटनाएँ हो तो उसे 'नाटिका' समझना चाहिए ।

यथा—

प्रकरणनाटकभेदादुत्पाद्यवस्तुविषया नायको यत्र नृपतिः ।

अन्तःपुरसङ्गीतककन्यामधिकृत्य कर्त्तव्या ॥ ३५२ ॥

स्त्रीप्राया चतुरङ्गा ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी ।

राजोपचारपुक्ता प्रसादनक्रोध[दम्भ]संयुता चापि ।

नायक-दूती-देवी-परिजनगती नाटिकेति विज्ञेया ॥ ३५३ ॥

(ना० शा० २० । १०७-१०८)

तथा [भरत मुनि ने भी] कहा है कि—

नाटक तथा प्रकरण के मिश्र लक्षणों से उत्पाद्य कथारस्तु और क्षत्रिय राजा जैसे नायक को तथा अन्तःपुर में विद्यमान किसी सगीत यलाधिदू कन्या के चरित्र को लेकर जिम्मीरचना की जाए उसे 'नाटिका' कहते हैं । इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता रहती है, चार अङ्क होते हैं, ललित अंग विन्यासों से पूर्ण अभिनय प्रस्तुत किया जाता है, राजकीय

आचार व्यवहार तथा कीड़ा विहारों का शालीन प्रस्तुतीकरण रहने के साथ नायक, दूती, महारानी तथा उनकी दासियों आदि से युक्त रहने वाली घटनाओं से पूर्ण नाट्यरचना को ‘नाटिका’ समझना चाहिए।

तत्र समेदा कैशिकी वृत्तिः । नर्म-नर्मगर्म-नर्मस्फोट-नर्मस्फुल्ल-
श्चत्वारोऽस्या भेदाः । शृङ्गारद्वय सम्भोगो विप्रलम्भश्च । हासो विदूषक-
विषयः । अद्भुतपट्यं मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहण-सन्धियुक्तम् । अन्तः-
पुरे कथमपि निवेशिता कन्या परिणयविधियुक्ता । धीरललिता देवी,
तस्या एव क्रोधः, तत्रैव राज्ञः प्रसादनविधिः । सम्भोगश्च देव्याः स्वा-
धीनभर्तृकाविषयः । कन्यायाः सम्भोगः विप्रलम्भश्च कर्तव्यः, येनास्या
उत्कण्ठिता-विरहिणी-लास्याभिलाषादयश्च (दशाः) दृश्यन्ते । राजा
चात्र भार्याजितः सविधेयः । न तु पूर्व-नायिकाप्रणयविरोधी । नायिका-
यैव भर्तुरभ्युदयिनः । अतः परं किं ते करोमी’ त्यभिधाय संहारः कर्तव्यः ।
अत्र निदर्शनं ग्रामेयी, रत्नावली चेति ।

लक्षण मे कैशिकी के अंगों के रखने का आशय है कि नाटिका
मे कैशिकी वृत्ति के सभी प्रभेद रखे जाएँ। कैशिकी के चार प्रकारों
के नाम हैं—(१) नर्म, (२) नर्मगर्म, (३) नर्मस्फोट तथा (४)
नर्मस्फुल्ल। शृङ्गार के (दो) प्रकारों से आशय है कि इसमें संयोग
तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की योजना रहनी चाहिए। हास-परिहास विदूषक
के द्वारा होता है। इसमें चार अंक होते हैं; मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा
निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। अन्तःपुर में किसी परिस्थिति या दुर्भाग्य-
वश रखी गयी [राज] कन्या के साथ [प्रणय के बाद] विवाह होने की
घटना रहती है। इसमें महारानी धीरललिता (नायिका) होती है। इसी
को क्रोध आता है और महाराज (नायक) द्वारा इसी को प्रसन्न किया
या अनुकूल बनाया जाता है। इसमें संयोगशृङ्गार का स्वरूप महारानी
के साथ दिखलाया जाता है क्योंकि स्वाधीनभर्तृका नायिका के ही वश
में नायक रहता है। इसमें कन्या के साथ सम्भोग तथा विप्रलम्भशृङ्गार
के स्वरूपों की संयोजना रहनी चाहिए जिससे उसको उत्कण्ठा, विरह-
दशा लास्य तथा अभिलाषा आदि दशाओं का प्रदर्शन किया जा सके।
इसका नायक मुख्य रानी से रहनेवाला (या दबनेवाला) होता है।
नायक अपनी प्रथम प्रिया के साथ प्रणय का विरोधी नहीं होता। इसकी

समाप्ति भी मुख्य (नायिका) महारानी के द्वारा—‘अब मैं तुम्हारे लिये और कौन प्रिय या इष्टतम कार्य करूँ’ आदि को—स्वामी के अभ्युदयार्थ—कहते हुए की जाती है। नाटिका के उदाहरणों में ‘मामेयी’ तथा रत्नानली नाटिकाओं को लिया जा सकता है।

तोटरुम्—

तोटकं—नाटकस्यैव प्रभेदः । आश्वमेधवृद्धः—

‘दिव्यमानुषसयोगोऽप्यङ्गेऽप्यङ्गे विदूषकः ।’

नरकुट्टस्त्वाह—

‘दिव्यमानुषसयोगस्तोटक नाटकार्थकम् ।’ इति

बादरायणोऽप्येवमाह—

‘तोटकं तद्धि विज्ञेय दिव्यमानवसम्भवम् ।’ इति च ।

तोटक या त्रोटक—(नाटिका के समान ही) नाटक का एक विशिष्ट प्रकार ‘तोटक’ कहलाता है। जैसा कि अश्वमेध आचार्य ने बतलाया है—‘तोटक में दिव्य और मानव पात्रों का मिश्रण हो जाता है तथा हर अङ्क में विदूषक पात्र विद्यमान रहता है ।’ नरकुट्ट^१ आचार्य का मत है कि—‘दिव्य और मानव पात्रों का मिश्रण या संयोग रहना ही त्रोटक है क्योंकि इसके अतिरिक्त इसका सारा स्वरूप नाटक के समान ही होता है। बादरायण^२ आचार्य का भी मत है कि दिव्य तथा मानव पात्रों का संयोग होना ही ‘त्रोटक’ कहलाता है।

तदेव दिव्याया मानुषेण सह सङ्गमो यस्तदेव महत्प्रक्षणम् ।
प्रत्यङ्गविदूषकप्रवेशकस्तूपलक्षणम् । यथा विक्रमोर्वशीत्रोटक न तथाभूत-
विदूषकम् । मेनकाजहनुष तु प्रत्यङ्ग-विदूषकत्वात् अश्वमेधवृद्धमतानुगमात्
सिद्धमिति ।

१. मामेयी—रत्नानली के समान एक नाटिका थी जो आज नहीं मिलती ।

२. नरकुट्ट का उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण भी किया है ।

(इष्ट-सा० द० ६।३९)

३. बादरायण का उल्लेख दशरूपक की यह रूपमिथ की व्याख्या में भी मिलता है । (इष्टं यथा बादरायणोऽपि ह्यादि J. O. R. Vol VIII पृष्ठ ३३०)

इन लक्षणों से स्पष्ट है कि दिव्य नायिका के साथ मानव नायक का मिलन ही ‘त्रोटक’ की विशेषता या मुख्य लक्षण है। यही इसकी प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक अङ्क में विदूषक का रस जाना त्रोटक की मुख्य विशेषता नहीं है।^१ जैसे विक्रमोर्वशीय नामक त्रोटक के प्रत्येक अङ्क में विदूषक की प्राप्ति नहीं होती। यदि अरमकुट्ट के अनुसार प्रत्येक अङ्क में विदूषक अनिवार्य ही माना जाए तो फिर ‘मेनकानहुष’^२ को त्रोटक का उदाहरण मानना चाहिए।

प्रकरणम्—

ये नाटके कथिता. सन्धयो यान्यज्ञानि लक्षणान्यलङ्काराश्च ते सर्वे गुणा अस्मिन्नपि कर्तव्याः। केवलमयं भेदः। अत्र कविना वस्तुशरीरं नायकश्चोत्पाद्यते। तत् प्रकरणम्। यदाहाचार्यः—

प्रकरण—अब प्रकरण का लक्षण बतलाते हैं। नाटक के लक्षण में जिन मन्त्रियों, सन्ध्याङ्गों, लक्षणों तथा अलङ्कारों को बतलाया जा चुका है उन सभी की प्रकरण में भी योजना करनी चाहिए। इन दोनों में बही अन्तर है कि प्रकरण में नायक का चरित्र कल्पित कथावस्तु के द्वारा नाट्यरूप में प्रथित करता है। जैसा कि आचार्य भरत मुनि ने भी बतलाया है :—

यत्र कविरात्मयुद्धया वस्तुशरीरं च नायकश्चैव।

औत्पत्तिकं प्रकुरुते तज्ज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥ ३५४ ॥

(ना० शा० २० । ९३)

जब नाट्यकार कल्पनाप्रसूत कथानस्तु और नायक को लेकर अपनी नाट्यरचना का निर्माण करे तो उसे ‘प्रकरण’ समझना चाहिए।

राजर्षिर्दिव्यचरितहीनम् अमात्यविप्रवणिक्चरितशरीरम्। यथा—

मृच्छकटिकम्, पद्मावतीपरिणयः, पुष्पदूषितकम्। नोदात्तनायकमिति

१. भावप्रकाशन के अनुसार त्रोटक के प्रत्येक अङ्क में विदूषक का होना हर्ष प्रियम या हर्षगतिरूपकार का मत विदित होता है (द्रष्टव्य—भावप्रकाशन G. O. S. पृष्ठ २३८)

२. मेनकानहुष त्रोटक का उल्लेख अमृतानन्दयोगिन् ने भी अपने ग्रन्थ में किया है जिससे विदित होता है कि यह भी अङ्गों का त्रोटक था। इसके रचयिता का उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं है।

श्रेष्ठितापसविटादिजनभूषितम् । मृच्छकटिके सर्वमिदं ज्ञेयम् । पुरोधोऽ-
मात्यविप्रवणिभृतवार्तायुक्तम् । यथा—मालतीपरिणयः । मन्दकुलस्त्री-
कृतं काव्यं (कर्तव्यम्) यदि कार्यवशाद्वेश्याकुलाङ्गनयोः सङ्गमो
भवेत् । 'अविकृतभाषाचारं तत्र पाठ्यं प्रयोजयेत्' वेश्यामपि शौर-
सेनां पाठयेत् । यथा—पद्मावती परिणयः । पूर्वोक्तविष्कम्भकध्यात्रा-
वश्यं कर्तव्यम् । अपरश्चाह—

प्रकरण के नायक या नायिका राजकुल या दिव्यकुल में प्रसूत नहीं होते । इसकी कथावस्तु किमी अमात्य, वणिक्, विप्र या इसी प्रकार के अन्य नायक के चरित्र को लेकर निर्मित की जाती है । जैसे—मृच्छकटिक, पद्मावती परिणय का पुष्पदूषितक । (नाटक के समान) उदात्त नायक प्रकरण में नहीं रहता अतएव इसमें श्रेष्ठि, तापस, विद आदि पात्र रखे जा सकते हैं । ये सभी लक्षण मृच्छकटिक में विद्यमान हैं । पुरोहित, अमात्य, विप्र तथा वणिक् पात्रों के चरित्र और कार्य प्रकरण में रहना चाहिए । जैसे—मालती परिणय प्रकरण । प्रकरण में कुलस्त्री या कुलजा नायिका का चरित्र इस प्रकार कम रखा जाता है जिसमें कुल परम्परा का पालन मात्र रहें या उसका परिष्कार होता हो । यदि आवश्यकतानुसार वेश्या और कुलजा नायिका का मिश्रण रखा जाता हो तो फिर कुलजा नायिका चरित्र गौण या अल्पकालीक रखा जाना उचित होता है ।

इसमें पात्रों के संवाद भाषागत विकारों के बिना पात्रों की प्रकृति या कार्यों के अनुसार निर्धारित नियमानुसार रखने चाहिए । इसमें

१. मालतीमाधव का ही धरना के आधार पर दूसरा नाम 'मालती-परिणय' रखा गया होगा ऐसा समझना चाहिए ।

२. मन्दकुलस्त्रीचरितम् = अर्थात् इसमें किसी कुलजा का चरित्र देना मतलाया जाए जो बाद में अपनी परम्परा को निर्वोह करने या कुलपरम्परा या मर्यादा का टुक से सरचण कर सके या जिसका दाद में और परिवार हो जाए । दूसरा अर्थ इस प्रकार भी दिया जा सकता है कि प्रकरण में कुलजा और सामान्या नायिकाओं के रहने पर कुलजा का चरित्र कम ध्यान में रहना चाहिए । या फिर इसका तीसरा अर्थ होया कि प्रकरण में मन्दकुल = नीचकुल की स्त्रियों के चरित्र या कार्यों को भी कम रखना चाहिए या प्रकरण में छोटे परिवार की भी नायिका रखी जा सकती है ।

वेश्यापात्र के संवाद भी (कुलजा के समान) शौरसेनी भाषा में रहने चाहिए। जैसे—पञ्चावतीपरिणय मे। निष्कम्मक और प्रवेशक को भी प्रकरण मे रखा जाए जिनके लक्षण बतलाए जा चुके हैं। अन्य आचार्य का मत है कि—

‘द्विधा रूपमेतत् शुद्धं सङ्कीर्णमेव च।

कुलजीसहितं शुद्धं सङ्कीर्णं वेश्याया सह ॥’ इति

(ना० शा० २०-१०४)

तत्र शुद्धं पुष्पदूषितकं सङ्कीर्णं मृच्छकटिकम् इति।

प्रकरण दो प्रकार का होता है एक शुद्ध और दूसरा सङ्कीर्ण। कुलजा नायिका के होने पर शुद्ध और वेश्या नायिका होने पर उसे सङ्कीर्ण प्रकार समझना चाहिए।

शुद्ध प्रकरण का उदाहरण है पुष्पदूषितक तथा सङ्कीर्ण का मृच्छकटिक।

व्यायोगः—

अथ व्यायोगः। (स च) प्रख्यातनायकविषय, ऋषिकन्यापरिणययुत, सम्भोगमुक्तो वा एकाङ्कः। निरुद्धयुद्धबहुल, दीप्त-वीररौद्रासो विदितकथः सम्फोटवान्मुखनिर्वहणसन्धियुक्तो नातिकरुणशृङ्गारो व्यायोगः कथ्यते सद्भिः।

व्यायोग—अब व्यायोग का लक्षण बतलाते हैं। व्यायोग मे एक अङ्क होता है, प्रसिद्ध नायक होता है तथा प्रणयकथा के अन्तर्गत किसी तापस का ऋषिकन्या से विवाह रखा जाता है। इसमें युद्ध या मलयुद्ध की प्रचुरता रहती है। वीर और रौद्रासों की तीव्रतापूर्ण अभिव्यक्ति, प्रख्यात कथावस्तु और सम्फोट आदि की योजना की जाती है। केवल मुख और निर्वहण सन्धि रहती है तथा करुण और शृङ्गाररस का आधिक्य नहीं रहता। इन्हीं लक्षणों से विद्वान् इसे ‘व्यायोग’ मानते हैं।

१. सागरनन्दी ने व्यायोग का कोई उदाहरण नहीं दिया। व्यायोग के उदाहरण धनञ्जयविजय या जामदग्न्यजय है जिन्हें क्रमशः बसार्णवसुधाकर तथा नाट्यदर्पणसूत्र में दिया गया है।

अङ्कः—

अथाङ्कः ।

प्रख्यातवस्तुविषयः अप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात् ।

दिव्यपुरुषैर्विष्णुक्तः शेषैरन्यैर्भवेत् पुंभिः ॥ ३५५ ॥

करुणरसमाय निवृत्त्युद्धोद्धतप्रहारश्च स्त्रीपरिदेवनाबहुल नाना-
व्याकुलचेष्ट (सात्वती-) आरमटीकैशिकीविहीन कार्यस्त्वङ्ग इति ।

अंक—अब हम 'अंक' का लक्षण बतलाते हैं ।

इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है तथा कभी कभी अप्रसिद्ध या सत्पाद्य कथावस्तु भी होती है । इसमें दिव्यपात्र नहीं होता पर दूसरे सभी प्रकार के पात्र रहते हैं ।

अङ्क में करुण रस की बहुलता रहती है, युद्ध और उद्धत चेष्टाएँ प्रदर्शित नहीं की जाती, अनेक प्रकार की व्याकुलताओं के साथ स्त्रियों का विलाप भी लम्बा चलता है और (सात्वती) आरमटी और कैशिकी धृति से हीन 'अंक' का निर्माण किया जाता है ।

डिमः—

अथ डिमः । स च षोडशनायकयुक्त । यथा नरकोद-
रणम् । विख्यातवस्तुविषयः । यथा—शृङ्गोद्वरणम् । दीप्तरसकाव्य-
योनि । प्रख्यातनायक । यथाह—'माया कुहक सम्पूर्ण इन्द्रजाल-
समाकुल ।' यथा—तदेव । पिशाचसुरासुरयक्षरक्षोनागसङ्कुल । उल्का
पातावकीर्ण । कैशिकीवृत्तिरत्र नोच्यते । अस्य चत्वारोऽङ्का सन्धयश्च
मुखमतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याः चत्वार इति ।

डिम—अब हम 'डिम' का लक्षण बतलाते हैं । इसमें सोलह नायक होते हैं । जैसे—नरकोदरण^१ (डिम) में हैं । कथावस्तु प्रख्यात

१. अङ्क का उदाहरण सागरनन्दी ने नहीं दिया । इसका उदाहरण विष्णु-
नाथ के अनुसार रसमिष्टाययाति या रसार्णवसुधाकर के अनुसार वरगकुण्डला
समक्षना चाहिए ।

२. बहुरूपमिश्र ने डिम क उदाहरण में तारकोद्वरण उदाहरण दिया है
तथा एक दूसरे डिम शृङ्गोद्वरण का भी उल्लेख किया है । ऐसा प्रतीत होता है
कि रत्नकोश में लिपिग्रमाद के कारण तारकोद्वरण के स्थान पर नरकोद्वरण कर
दिया गया होगा । [द्रष्टव्य—J. O. R. Vol-VIII पृ० १२८]

रहती है। जैसे—वृत्रोद्धरण में है। उदीप्त या तीव्रता लिए हुए रस्सों का निवेश रखा जाता है तथा प्रख्यात नायक होते हैं। यह इन्द्रजाल, माया, भ्रम आदि से युक्त रहता है। जैसे उपर्युक्त डिम में है। इसमें पिशाच, देव, राक्षस, असुर, यक्ष तथा नाग आदि पात्र होते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती तथा मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण नामक चार सन्धियाँ रखी जाती हैं।

समवकारः—अथ समवकारः । स च देवासुरवीर्यकृत । यथा-
शक्रानन्दः । द्वादशनायकान्वितः । तस्मिन् त्रयो विद्रवाः अमिसमीर-
कृतः पुद्गलकृतः पुरोपरोषधः । तत्राद्यः—पलित्यङ्के अन्तपुरामिसम्भ्रमः ।
द्वितीयः—बलवाभ्यां कंसयुद्धार्थं कृष्णस्य श्रीढापर्वतारोहणम् । शेषो
मृच्छन्तिकायामार्यकानुसरणे पुरोपरोषधेति । त्रयश्च कपटाः । (तत्र)
एको वस्तुकमजः, अन्यो देवकृतः, अपरोऽन्यकृतः सुखदुःखसम्भवः ।
तत्राद्यश्चित्रशालिकायां विदूषकस्य प्रवेशे दण्डकाष्ठासादनक्रमभूज्वर-
कपटः । द्वितीयो वध्याशिलायां दैवागतरक्तपट्टासादनाज्जीमूतबाहनस्य
शिलावरोहणम् । शेषोऽपि पुंसव्रनाङ्के तूपायचितामुखयोः कैकेयी-मन्थरा-
माया-चरणमिति ।

मृङ्गाराध त्रयः—धर्मशृङ्गारः, कामशृङ्गारोऽर्थशृङ्गारश्चेति । तत्र
प्रतादिविहित आलस्यहेतुर्धर्मप्रापको तत्र यथा—लामकायनाङ्के
नन्दयन्या द्राक्षणभोजनादि । श्रीसम्भोगयुतः सोन्मादः धर्मशृङ्गारः ।
यथा उदयनस्य वासवदत्तापरिणयः । स्वेच्छया बहुविधोपायसंयुतो-
ऽर्थशृङ्गारः । यथा स्वदेशमालसात्कर्तुमुदयनस्य पद्मावतीपरिणयः ।

समवकारः—अथ हम ‘समवकार’ का लक्षण बतलाते हैं। इसमें देव तथा असुरों का शौर्य प्रस्तुत किया जाता है। जैसे :—‘शक्रानन्द’—
में। इसमें चारह नायक होते हैं। तीन विद्रव (भगदड, रत्नचली) होते हैं। यथा—(१) अमि या वायु के द्वारा होनेवाला विद्रव (२) युद्ध के

कारण होने वाला विद्रव तथा (३) नगर के घेरे के कारण होने वाला । इनमें पहिले विद्रव का उदाहरण है 'पलित्यङ्ग' जहाँ अन्तःपुर में आग लग जाने के कारण भगदड़ मच जाती है । दूसरे प्रकार का उदाहरण है श्री कृष्ण का युद्धार्थकंस के पहलवानों के साथ क्रीड़ापर्वत (अखाड़ा) पर चढ़ना । तीसरे प्रकार का उदाहरण है मृच्छकटिक में आर्यक का पीछा करते हुए (उसे पकड़ने के लिये) नगरी पर घेरा डाला जाना । इसमें तीन प्रकार के कपटों का संयोजन किया जाता है—(१) विषय या कथावस्तु में अपेक्षित क्रमिकता या अन्य परिस्थितिवश किया जाने वाला कपट (२) वैदी घटना या अन्य अदृश्य शक्ति से घनने वाला कपट तथा (३) किसी दूसरे पुरुष के द्वारा सुख या दुःख देने के लिए किया जाने वाला कपट । इनमें प्रथम प्रकार के कपट का उदाहरण है 'चित्र' शालिका में चिद्रूपक का दण्डकाष्ठ का सहारा लेकर घर का घहाना करते हुए प्रवेश करना । दूसरे प्रकार का उदाहरण है—वध्य-शिला (नामक अङ्क) में जीमूतबाहन का अकस्मात् लाल बखों को प्राप्त कर वध्यशिला पर बैठ जाना । तीसरे प्रकार का उदाहरण है 'पुसवनाङ्क' में सूमाय और चितामुख के द्वारा मन्थरा और कैकेयी को अपने कपट जाल में फसाना । समवकार में शृङ्गार के तीन प्रकार भी रखे जाते हैं—ये हैं—(१) धर्मशृङ्गार, (२) कामशृङ्गार तथा (३) अर्थशृङ्गार । इनमें धार्मिक भाव से आत्मकल्याण या समृद्धि की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला व्रत आदि धार्मिक कार्यों का आचरण धर्मशृङ्गार कहलाता है । अपनी स्वार्थपूर्ति या आपस्यपत्ता के लिए कार्यों या उपायों का किया जाना 'अर्थशृङ्गार' है । स्त्री के मिलन या इसी कार्य की पूर्ति के लिये उन्माद आदि के साथ होने वाला व्यवहार 'कामशृङ्गार' समझना चाहिए । इनमें प्रथम प्रकार का उदाहरण लामकायनाङ्क में नन्दयन्ती के द्वारा किया जाने वाला ब्राह्मण भोजन आदि है । उदयन का अपने राज्य को फिर से प्राप्त करने के लक्ष्य से पद्मावती के साथ विवाह करना 'अर्थशृङ्गार' का उदाहरण है तथा

१. चित्रशालिका का उल्लेख सागरनन्दी ने दो स्थानों पर किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी अज्ञात रूपक का बोर्ड अङ्क है । चित्रशालिका का उल्लेख शारदाजनय ने भी किया है (८० मा० प्र० पृ० २५०)

२. लामकायनाङ्क = पुष्पदूषितक के पादमात्र का नाम । इसमें लामकायन एक पात्र तथा नन्दयन्ती नायिका है ।

इसी का (प्रणयश) वासवदत्ता से विवाह होना ‘कामशृङ्गार’ का उदाहरण समझना चाहिए।

कैशिकीवृत्तिरत्र न कर्तव्या । तत्कथं शृङ्गारः । शुद्धा कैशिकी (चात्र) कर्तव्या । अस्याश्चत्वारि यान्यङ्गानि नर्मनर्मस्फुटनर्मस्फोट-
नर्मगर्माणि तान्यत्र न कर्तव्यानि । केवलं सयोगविहितं नर्ममात्रं कर्तव्यम् ।

समवकार मे कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं रहता है ।

प्रश्न—बिना कैशिकी वृत्ति के शृङ्गाररस कैसे होगा ?

उत्तर—कैशिकी वृत्ति का मोटे तौर पर या सामान्यतः प्रयोग किया जा सकता है केवल विस्तारपूर्वक कैशिकी वृत्ति के सारे अङ्गो नर्म, नर्मस्फुट, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्म—के साथ यहाँ प्रयोग नहीं रचना चाहिए । यहाँ सयोगमात्र के प्रदर्शन में उपयुक्त माने गए नर्म का ही प्रयोग पर्याप्त होता है ।

शृङ्गारोदीपनो यस्तु परिहासः सविभ्रमः ।

भयेच्छाहासभेदेन नर्मात्रं त्रिविधं भवेत् ॥ ३५६ ॥

इति ।

जो शृङ्गार का उदीपक हो तथा जिसमे विलास और परिहासों का संयोजन रहता हो ऐसे नर्म को भय, इच्छा या हास्य के तीन प्रकारों मे रखा जाता है ।

प्रथमोऽङ्कः । तत्र प्रथमोऽङ्कः सवीर्यरुः सविद्रवः सकपटः
सशृङ्गारः सप्रहसनश्च द्वादशनाडिकः । द्वितीयोऽङ्कः चतुर्नालिकाः ।
तृतीयस्तु समानकृतः । नाडिका कालस्य मानम् ।

इसमे तीन अङ्क होते हैं । प्रथम अङ्क मे वीर्य के सभी अङ्गों, विद्रव, कपट और शृङ्गार के (अपने भेदों के) तथा हास-परिहास के साथ रखा जाता है । प्रथम अङ्क का बारह नाडिका कालमान होता है । दूसरे अङ्क का चार नाडिका का कालमान रहता है तथा तीसरे अङ्क का कालमान आवश्यकता के अनुसार (कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जितना अपेक्षित हो) रखा जाता है । नालिका का अर्थ है समय का एक माप ।

त्रयोऽप्यङ्कास्तु कर्तव्याः न परस्परसूचनम् ।

अत्र हि समवकारे प्राङ्मुनं प्रतिबद्धम् ॥ ३५७ ॥

[ना० शा० २०।६०] इति ।

समवकार मे तीन अङ्क होते हैं, तीनों मे कार्य या कथावस्तु के सकेतिक सूत्र की एकता नहीं होती [वे स्वतन्त्र होते हैं] तथा इसमें विषय या कथा का पारस्परिक गठन या परस्परगत क्रम नहीं रखा जाता [अथवा समकार के उद्देश्य मे ये परस्पर स्वतन्त्र रहकर साधक भी नहीं होते] ।

ईहामृगः—

अथेहामृगः । स च कैशिकीवृत्तिहीनोऽचङ्कतुष्टयान्वितो यथोर्वशी-
मर्दनम् । विन्यायलाकारणप्रवृत्तियुद्ध, प्रसिद्धपुरुष, विमत्स्यकारक,
पणायक, पड़सो वस्तुशृङ्गारयुक्तो नायकसङ्गामयुक्तश्च । अस्योदाहरण
कुन्द (सुन) शेरविजय ।

ईहामृग—अथ 'ईहामृग' का लक्षण बतलाते हैं । इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती और चार अङ्क रहते हैं । जैसे—उर्वशीमर्दन । इसमें किसी विन्य ला के कारण युद्ध होता है; प्रख्यात नायक रहता है, बेसमझी लिए हुए अन्य छ पात्र होते हैं तथा छ रस रहते हैं । कथा वस्तु शृङ्गाररस से युक्त होती है तथा नायक द्वारा किये जाने वाले युद्ध का प्रदर्शन रखा जाता है । ईहामृग का उदाहरण है 'कुन्दशेर-^१ विजय ।

भाणः—अथ भाणः । स चात्मानुभूतशरी परसश्रयवर्णनाविशेषो
विविधाश्रय एकहार्य । एकया नायिकया हार्यः इत्यर्थः । भाण ईहैका-
विन्या नार्या हार्याऽङ्गहारिण्येति । यत्र परवचनमात्मवचनै सान्तरैर्मथित
वाच्यश्च भवेत् । आकाशपुरुषा यत्र व्याहरन्ति । धूर्तविद्या (दी) ना
सम्प्रयोगो नानावस्थाभि सुखदुःखानिहानिश्च समुपेत एकाङ्कश्च
भाण । यथा परलेखा-नामधेय रलितनागरादयोऽस्योदाहरणानि ।

१. कुन्दशेरविजय नाम भावप्रकाशन में मिलता है परन्तु बहुरूपमिध की टीका में इसका नाम 'कुमुमशेरविजय' प्राप्त होता है । (प्र० भा० प्र० १४ २५३ तथा J. O. R. Vol-VIII पृ० ३३८)

भाण—अब ‘भाण’ का लक्षण बतलाते हैं। इसमें या तो स्वयं के अनुभवों का या फिर दूसरों के कार्यों का—जो अनेक व्यक्तियों से सम्बद्ध हो—वर्णन रहता है। यह कार्य एक पात्र के द्वारा किया जाता है जो स्त्री या पुरुष पात्र होता है। जैसा कि कहा भी गया है—
‘भाण का एक ही पात्र के द्वारा—जो नृत्य के अङ्गहारों को सुन्दरता में प्रस्तुत कर मके—अभिनय किया जाता है। इसमें दूसरे व्यक्तियों के शब्दों को आत्मकथन के रूप में बीच में जोड़ते हुए रखा जाता है। इसमें आकाशभाषित का प्रयोग होता है। घूर्त या शिट पात्रों की सुख-दुःख आदि अनेक अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जाता है तथा एक अङ्क होता है। भाण के उदाहरणों में ‘पद्मलेखा, ललितनागर’ आदि रचे जा सकते हैं।

अस्य लास्याधिकरणिकान्यङ्गानि—गेयपदं, स्थितपाठ्यमासीन-पाठ्यं, वैमूढकं, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदकमुत्तरोत्तरकमुक्तप्रत्युक्तकं द्विमुक्तकं सैन्धवश्चेति ।

भाण के दस लास्याङ्ग अङ्ग होते हैं। इनके नाम हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीनपाठ्य, (४) त्रिमूढक, (५) पुष्प-गण्डिका, (६) प्रच्छेदक, (७) उत्तरोत्तरक, (८) उक्तप्रत्युक्तक, (९) द्विमुक्तक तथा (१०) सैन्धव ।

गेयपदम्—तत्र यत् तन्त्रीमाण्डोपगृहीतमासने सन्निविष्टया नायिकया गीयते तद् गेयपदम् । यथा गौरीगृहे मलयवती पठति—
उल्लङ्घनलम्परागौरद्युते मम हि गौरि ।

अभिधाञ्छितं प्रसिद्धयतु भगवति मुष्मत्प्रसादेन ॥

(नागा० १ । १३) इति ।

गेयपद—जब नायिका आसीन हो कर वीणा वादन के साथ गीत गाती है तो उसे ‘गेयपद’ समझना चाहिए। जैसे गौरीगृह नामक अङ्क में मलयवती का—‘विरसित कमल के पराग सदृश गौरवर्ण वाली हे पार्वती देवी, आपकी कृपा से मेरी अभिलाषा सिद्ध हो ।’ आदि का कहना ।

१. ‘ललितनागर’ भाण का उल्लेख बहुरूपमिश्र ने भी किया है ।
(१० J. O. R. Vol-VIII पृ० ३२७-३२८),

स्थितपाठ्यम्—यच्च पञ्चपाणिना युक्तं भौमचारीपुरस्कृतं चर्चरी-
पाठभूषितं लासिकया प्रयुज्यते स्थितपाठ्यं तत् । यथा दुर्दिनाङ्गे—

स्थितपाठ्य—जब पञ्चपाणि के साथ भौमचारी प्रस्तुत करने हुए
चर्चरीपाठ के साथ नर्तकी गीत प्रस्तुत करे तो उसे 'स्थितपाठ्य'
समझना चाहिए । जैसे दुर्दिन नामक शब्द मे—

वसन्तसेना—भाव, किमनया स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया ।
पश्यतु हि भाव.—

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वरानिमेव वा ।

गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखा. स्त्रिय ॥

(मृच्छ० ५ । १६)

वसन्तसेना—स्त्री प्रकृति होने के कारण दुष्ट हो जाने बालों में स
मिजली को चलाहना देना व्यर्थ है । तुम इतना ही समझो कि—

थाहे मेघ बरसों, गरजें या वे वज्र को छोड़ दें पर अपने प्रियतम
से मिलने के लिए निकली नारियाँ ऐसी ठंड और गरमी की परवाह
नहीं करती ।

आसीनपाठ्यम्—यदासीनया करचरणभ्रूलताभिनयभावितं प्रयुज्यते
तदासीनपाठ्यम् । यदा कदलीगृहे—

सागरिका—दिशम, समस्तस । (हृदय, समाश्रयिहि ।)
इत्यादि ।

आसीनपाठ्य—यदि बैठ कर नायिका अपने हाथ, पैर और
भीहों की व्यञ्जक मुद्राओं के साथ किसी गीत (शण्ड) को प्रस्तुत
करे तो उसे 'आसीनपाठ्य' समझना चाहिए । जैसे कदलीगृह नामक
शब्द मे—

सागरिका—'ओ मेरे मन, तुम जरा धैर्य रखो' इत्यादि ।

चैमूढकम्—यत्पुरुषेण स्त्रीवेपमादा (स्या) य समवृत्तिमपितम-
निष्ठुरपदं व्यस्यमारभ्यते तद् चैमूढकम् । यथा चौर्यविवाहे

(मा० माघ० अ० ६)—

वैमूढक—जब किसी पुरुष पात्र के द्वारा स्त्री वेष धारण कर कोमल गति आदि के द्वारा स्त्रियो जैसा लास्य प्रस्तुत किया जाए तो उसे ‘वैमूढक’^१ समझना चाहिए। जैसे चौर्यविवाह नामक अङ्क (मा० मा० अङ्क ६) में—

भकरन्दः—एषोऽस्मि मालती सवृत्तः । इति ।

भकरन्द—तो अब मैं मालती बन जाता हूँ इत्यादि ।

पुष्पगण्डिका—यत्र पुंसामाशयग्रहणाय गीतवाद्यताललयकला-कलितं लास्यं प्रसार्यते सा पुष्पगण्डिका । यथोपाहरणनाटक-चतुर्थीङ्के—

पुष्पगण्डिका—जब किसी पुरुष के आन्तरिक भावों का पता लगाने के लिए गीत, वाद्य, ताल, लय को कलापूर्ण पद्धति से लास्य (नृत्य) के साथ प्रस्तुत किया जाए तो उसे ‘पुष्पगण्डिका’ समझना चाहिए । जैसे उपाहरण नाटक के चतुर्थीङ्क में :—

उपा—अज्जउत्त, इमं दुदीअं द्वाणं अलंकरोदुत्ति । (आर्यपुत्र, इमं द्वितीयं स्थानमलङ्करोत्विति ।)

उपा—आर्यपुत्र, आप इस दूसरे आसन को अलंकृत करें इत्यादि ।

प्रच्छेदकः—यत्र योषिचन्द्रातपाकुला कृतापराधमपि कान्तमार्त्तं प्रियमासज्जति सः प्रच्छेदक उच्यते । राहुलस्त्वाह—यत्र दैवात् प्रिय-पुरुषेण प्रार्थ्यमानामन्या नायिकामवलोक्य प्रेमपरिच्छेदसमर्पितो मानिन्या मन्युर्मनस्तापयति सः प्रच्छेदकः । यथा पद्मावतीपरिणये—

विलासवती—ता कि दाणि एत्थ करइस्सं । [तत् किमिदानीं करिष्यामि ।] (विचिन्त्य) भोदु । इन्दुमती विसज्जिअ पदुमावतीं जेज्ज वारइस्सं । [भवतु । इन्दुमतीं विसृज्य पद्मावतीमेव वारयिष्यामि ।]

प्रच्छेदक—जब कोई वियोगिनी नायिका चन्द्रिका के प्रकाश से आकुल होकर सन्तप्तावस्था में अपराधी प्रिय से स्वयं जाकर मिलने लगे तो उसे ‘प्रच्छेदक’ समझना चाहिए ।

१. वैमूढक या विमूढक—इसका अन्वय नाट्यशास्त्र आदि में विमूढक नाम प्राप्त होता है । सागरनन्दी ने इसका लक्षण भरत के अनुसार नहीं किया है किन्तु यहाँ वह दशरूपक के अनुसार है । (दृ० दश रूप०) ।

राहुल आचार्य का मत है कि जब दूसरी नायिका की उसके प्रियतम द्वारा की जाने वाली चाटुकारिता को देख कर मानिनी नायिका का अपने प्रिय के प्रति किया गया क्रोध सन्ताप देते हुए मन को सिन्न कर दे तो उसे 'प्रच्छेदक' समझना चाहिए। जैसे पद्मावतीपरिणय में—
विलासवती—तो अब मैं क्या करूँ ? (सोच कर) इस इन्दुमती को बिदा कर मैं पद्मावती को ही रोक दूँगी।

सैन्धवम्—

यच्छह्वलयधारणादि सिन्धुदेशमापाविशेषगीतवाद्यविषय सैन्ध-
वाख्यं तदुच्यते।

सैन्धव—जब सिन्धुदेश में बने हुए शस्त्रों के कंकण आदि पहिने हुए उसी देश के वाद्य यन्त्रों के व्यवहार के साथ देशी (सैन्धवी) भाषा में गीत को प्रस्तुत किया जाए तो उसे 'सैन्धव' समझना चाहिए।

उक्तप्रत्युक्तम्—

उक्तप्रत्युक्तमिव उक्तप्रत्युक्तकम्। यथा मदनमञ्जुला-तृतीयऽङ्के—

उक्तप्रत्युक्तकम्—जब प्रश्न तथा उत्तर के रूप में संवाद रखे जायें तो इसे 'उक्तप्रत्युक्तकम्' समझना चाहिए। जैसे मदनमञ्जुला के तृतीयाङ्क में :—

मदनमञ्जुला—मुंचदु मं महाराजो । [मुञ्चतु मा महाराज]

मदनमञ्जुला—महाराज मुझे छोड़ दें।

राजा—किमिति ?

राजा—क्यों ?

मदनमञ्जुला—भाआग्मि अहं । [विभेम्यहम्]

मदनमञ्जुला—मैं डर रही हूँ।

राजा—कुतः ?

राजा—जिससे ?

मदनमञ्जुला—महादेईए । [महादेव्याः]

मदनमञ्जुला—महादेवी से।

१. मदनमञ्जुला या मदनमञ्जुला सम्भवतः एक ही रचना प्रतीत होती है। ना० ७० २० को० में इसके दो छंद उद्धरण भी प्राप्य हैं।

उत्तरोत्तरकम्—

लीलाहेलादिभूषितमप्रतीक्षितामिसारिकाकाल कामयितुं कामिना-
मलङ्कृतया नायिकया यदारभ्यते तदुत्तरोत्तरकम् । यथा मदयन्ती-
संहारे—

मदयन्ती—हिमअ, किं दाणि तस्सि ओसरे सविधेअत्थमूहो
मविअ सपदं उत्तमेसि । अण्ण अज एदस्स मुहचन्दचन्दमाए अत्तणो
सदाओ ण णिज्वाविदो ता अणुहव दाव अत्तणो अविणअस्स फल ।
(पार्श्वतोऽवलोक्य । ससम्भ्रमम्) कहं महाराओ । (उच्छित्त्य शिरो-
ऽधोमुखी) त्यादिनृत्यम् । [हृदय, किमिदानीं तस्मिन्नवसरे सविधेयार्थ-
मूढ भूत्वा साम्प्रतमुत्ताम्यसि । अन्यच्च यदेतस्य मुखचन्द्रचन्द्रिकयाऽऽ-
त्मनस्सन्तापो न निर्वापितस्तदनुभव तावदात्मनोऽबिनयस्य फलम् ।
(पार्श्वतोऽवलोक्य । ससम्भ्रमम्) कथ महाराज (उच्छित्त्य शिरो-
ऽधोमुखी) त्यादिनृत्यम् ।

उत्तरोत्तरक—जब बिना किसी प्रतीक्षा के स्वयं को सजा कर
बृकण्ठावश प्रिय का अभिसरण करने के अवसर पर नायिका लीला,
हेला आदि भावों को सुन्दरता से प्रकट करती हुए आगे बढ़ती है तो
उसे ‘उत्तरोत्तरक’ समझना चाहिए । जैसे मदयन्ती-संहार नामक
अङ्क में—

मदयन्ती—मेरे मन, जब तूने उस समय अपने कर्तव्यज्ञान के प्रति
चदासीनता धरती तो अब क्यों सन्तप्त हो रहे हो । और तब तुमने
उनकी मुखचन्द्र की चन्द्रिका के द्वारा स्वयं का ताप नहीं मिटाया तो
अब अपने इसी तप्त का फल भोगो (बाजू में देखकर घबराते हुए)
अरे ! महाराज, (सिर उठाकर मुँह नीचा करते हुए) इत्यादि अभिनयपूर्ण
नृत्य को करना आदि ।

अथवा यत्र प्रियोऽनागमनमीत्येव प्रियाया भवनं याति तत्
सुखातिशयोत्तरकालत्वात् उत्तरोत्तरकम् ।

१ उत्तरोत्तरक का ही अन्वय ‘उत्तमोत्तम’ नाम प्राप्त होता है । परन्तु
उत्तम में अभिसारिका नायिका की स्थिति का समावेश अन्यत्र कहीं भी प्राप्त
नहीं होता ।

अथवा जब नायक स्वयं ही नायिका के न आने की आशंका के कारण उसका अभिसरण करे तो उत्तरोत्तर सुख की संवर्धना करने के कारण इसे 'उत्तरोत्तरम्' समझना चाहिए।

द्विमुक्तरुम्—

मुखप्रतिमुखसंस्थितं नानाभावसमुज्ज्वलं रसितचारीप्रयोजितं द्विमुक्तरुम् । यथा कलावत्यास्तृतीयेऽङ्के—

(पुरतोऽवलोक्य) एसा पिअसही इदो ज्जेव्व आगच्छदि (एषा प्रियसखी इत एव आगच्छति) इत्यादि ।

द्विमुक्तरुम्—अनेक भावों से शोभित पादचारी के ललित अभिनयों का मुख या प्रतिमुख सन्धि में संयोजित करना 'द्विमुक्तरुम्' समझना चाहिए। जैसे कलावती के तृतीयाङ्क में :—

(सामने देखते हुए) अरे ! मेरी प्रियसखी इधर ही आ रही है इत्यादि ।

प्रहसनम्—

अथ प्रहसनम् । सद् द्विविधं शुद्ध सङ्कीर्णञ्च । आद्यं परित्राट्ताप-सद्विजेरन्येऽपि हास्यबुद्ध्यलैरारब्धम् । सङ्कीर्णं वेश्याविटनपुंसकदासादि-भूषितं भवति । प्रथमं शशिविलासादि द्वितीयं भगवदङ्गुकादि । अस्य च द्वायङ्गौ भवतो मुखनिर्वहणसन्धिद्वयञ्च । नखदुष्टस्त्वाह—वृत्त्यारम्भस्याऽन्यं प्रहसनमिति ।

प्रहसनम्—अथ 'प्रहसन' का लक्षण बतलाते हैं ।

प्रहसन के दो भेद होते हैं—एक शुद्ध और दूसरा मिश्र । शुद्ध प्रहसन में परित्राटक, माह्वण, तपस्वी आदि जैसे (वृत्तम्) पात्रों का हास्यपूर्ण अभिनय रखा जाता है । सङ्कीर्ण-प्रहसन में—वेश्या, विट, नपुंसक, दास आदि अधम पात्रों का हास्यपूर्ण अभिनय रहता है । शुद्धप्रहसन का उदाहरण है शशिविलास^१ तथा सङ्कीर्ण-प्रहसन का उदाहरण है भगवदङ्गुक ।

१. द्विमुक्तरुम् का द्विमुक्तरुम् नाम सर्वत्र प्राप्त होता है ।

२. शशिविलास शुद्ध प्रहसन का जो एक प्रकार है इसका नाम बहुरूप मिश्र ने 'शशिविलास' लिखा है । बहुरूप मिश्र ने भी भगवदङ्गुक को सङ्कीर्ण प्रहसन माना है । (द्रष्टव्य J. O. R. पृ० ३२०)

प्रश्न में दो अङ्क तथा मुख और निर्बहण नामक दो सन्धियाँ होती हैं। नसकुट्ट आचार्य का मत है कि प्रहसन में आरम्भ की वृत्ति की योजना नहीं होती।

वीथी—

अथ वीथी । सा च त्रिभिः पात्रैः प्रयोक्तव्या । यथा—बकुल-वीथिका । उत्तमाधममध्यमनायिकामूपिता त्रिप्रकृतिपुता बीजबिन्दु-कार्यरर्थप्रकृतिभिर्युक्ता एकाङ्का सन्धिद्वययुक्ता मुखनिर्बहणयुता नानारस-भावसन्धिता च । अस्या अज्ञानि त्रयोदश—उद्घात्यकावलगतक-नालिका—अवस्यन्दितासत्प्रलाप-वाग्मेणी-मृदवाधिवल-छल त्रिगत व्याहार-गण्डाञ्जितानीति ।

वीथी—अब हम ‘वीथी’ का लक्षण बतलाते हैं। इसमें तीन पात्र रहते हैं। जैसे—बकुलवीथिका। इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति की नायिका होती है, तीन पात्र होते हैं, बीज, बिन्दु तथा कार्य नामक तीन अर्थ प्रकृतियाँ रहती हैं, एक अङ्क होता है, मुख तथा निर्बहण नामक दो सन्धियाँ होती हैं तथा यह अनेक रस और भाव (आदि) से युक्त होती है। वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं। यथा—[१] उद्घात्यक, [२] अवलगत(क), [३] नालिका, [४] अवस्यन्दिता, [५] असत्प्रलाप, [६] वाग्मेणी, [७] मृद, [८] अधिवल, [९] छल, [१०] त्रिगत, [११] व्याहार, [१२] गण्ड तथा [१३] अञ्जित ।

तत्र उद्घात्यकम्—

पदानि त्वगतार्थानि यत्राः पुनरादरात् ।

योजयन्ति पदैः स्पष्टैस्तद् स्यादुद्धातकं यथा ॥ ३५८ ॥

कैर्गुणैर्नाटकं श्लाघ्यं ये हरन्ति सता मनः ।

क लेपां दृष्टव्यत्थानं देवदत्तकृतविति ॥

यथात्र सूत्रधारोऽप्रतीतमर्थं प्रतिपादयितुकामः प्रश्नेन प्रतिपादितवान् । एवमन्येऽप्याहुः—न प्रतीतं विस्मृतं वा यत् प्रतिपाद्यते तदुद्धात्यकमिति ।

उद्धात्यक—जब किसी अस्पष्ट वस्तु या अर्थ को सूचित करने के

लिये अप्रस्तुत अर्थ वाले शब्दों के साथ प्रस्तुत पदों की विचारपूर्वक योजना की जाती है तो उसे 'उद्घात्यक' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—

प्रश्न—नाटक किन विशेषताओं के कारण प्रशंसनीय हो जाता है ?

उत्तर—जिनसे सहृदयों का मनोरञ्जन या चित्ताकर्षण होता हो।

प्रश्न—इनका चरमउत्कर्ष किस रचना में मिलता है ? उत्तर—देवदत्त की रचना में। जैसे उक्त उदाहरण^१ में सूत्रधार किसी अज्ञात या अस्पष्ट अर्थ को प्रकट करने की इच्छा से प्रश्न-उत्तर के द्वारा व्याख्या करते हुए अपनी बात कह देता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि अज्ञात या विस्मृत अर्थ को किसी व्याख्यात्मक पद्धति से प्रतिपादित किया जाना (भी) 'उद्घात्यक' कहलाता है।

अवलगितकम्—

यत्रान्यस्मिन् समावेक्ष्य कार्यमन्यत् प्रकाश्यते ।

तथावलगितं नाम विज्ञेयं कविभिर्यथा ॥ ३५९ ॥

जाने त्वमिव सा बाला पाणिना स्वेन मां स्पृश ।

सद्वियोगमिसन्तापो येन मे शान्तिमेव्यतीति ॥

अवलगितक—जब किसी दूसरे ही कार्य या बात की योजना के द्वारा अभीष्ट या दूसरे ही प्रकार की कार्यसिद्धि को साधा या प्रकट किया जाए तो उसे 'अवलगितक' समझना चाहिए। जैसे :—

मैं जानता हूँ कि यह तुम्हारे जैसी ही युवती थी और जिसका वियोगजन्य सन्ताप अब शान्त हो जाण्गा। (अतः) तुम अब अपने हाथ से मेरा स्पर्श करो।

अन्यस्त्वाह—रूपकेषु यस्य पात्रस्य सूचना नास्ति तत्रावलगितकेन कर्तव्या। यथा—

दूसरे आचार्य का मत है कि जब रूपकों में किसी असूचित पात्र की सूचना देना हो तो 'अवलगितक' का प्रयोग करना चाहिए। जैसे :—

सूत्रधारः—विमुखेनोपदेशेषु वयं निर्वेदितास्त्वया ।

शैवाचार्य इवानेन कुशिप्येणैव मैरव ॥

१ यहाँ 'मनकोजकृती' के स्थान पर 'देवदत्तकृती' कर दिया गया है। देवदत्त की किसी रचना का अभी तक पता नहीं लग पाया है।

अत्र भैरवस्य प्रवेशं पारिपाश्विकस्याधिक्षेपेण तच्छिष्याविधेयता-
ख्यापनेन कृतवान् स ।

सूत्रधार—शिक्षा को ठीक से ग्रहण न करते हुए तुमने हमें वसी
तरह अप्रमत्त कर डाला है जैसे दुष्ट या मूढ़ शिष्य से शैवाचार्य भैरव
अप्रसन्न हैं ।

उक्त वदाहरण में पारिपाश्विक को डांटते हुए सूत्रधार ने अपने शिष्य
की वरा के निदर्शन के साथ भैरवाचार्य का प्रवेश सूचित किया ।

नालिका—

यत्त वाच्यं प्रपञ्चेन वदेद्वा हास्यहेतुना ।

प्रहेलिकैव गूढार्था सा ज्ञेया नालिका बुधैः ॥ ३६० ॥

(ना० शा० २० । १६१)

गूढार्थं प्रश्नमिच्छन्ति नालिकामपरे यथा ।

हस्ते कर्णस्य का शक्तिः क्ष-स-मध्यगतोऽस्ति कः ॥ ३६१ ॥

इत्यादि ।

नालिका—यदि किसी प्रपञ्च या परिहास के लिए कही गयी वचना-
बली में प्रहेलिका के समान गूढ़ अर्थ वाले पदों को रखा जाए तो उसे
‘नालिका’ समझना चाहिए ।

बुद्ध आचार्यों का मत है कि गूढ़ या अन्तर्निहित अर्थ को अपने
में रखने हुए प्रश्न का किया जाना ‘नालिका’ कहलाता है । जैसे—

कर्ण के हाथ में किसने शक्ति दी ? क्ष और स के बीच कौन रहता
है ? शत्रुओं से मारे जाने पर भी शोकाओं की निन्दा न होने का स्थान
कौन है ?

अवस्यन्दितम्—

रभसेनोदितं वास्यं शुभं वा त्वशुभं तथा ।

अन्यद्वा क्रियते बुद्ध्या तदवस्यन्दितं भवेत् ॥ ३६२ ॥

यथा निभृतस्यायी भीमो दुर्योधनेन पृष्ट —कस्त्वम् ? स खल्वाह—
भीमोऽहम् । पश्चात् सावहित्योऽवदत् । भीमोऽहं भयानकोऽहमिति ।

अवस्यन्दित—यदि शीघ्रता में कहे गए शुभ या अशुभ वाक्य का

अपनी बुद्धि से दूसरा ही अर्थ निकाला जाए तो उसे 'अवस्यन्दित' समझना चाहिए।

जैसे (क्रोध से) चुपचाप राड़े हुए भीम को दुर्योधन ने (न जानते हुए) पूछा छिपे हुए तुम कौन हो ? उसने उत्तर दिया—भीम । फिर छलपूर्वक कहा—मैं डरावना हूँ, मैं भयानक हूँ (आदि) ।

असत्प्रलापः—

असत्प्रलापो यथा मूर्खस्य पुरतो हितमप्युच्यते वचः न (च) तद् प्रतिगृह्यतेऽसाद्यसत्प्रलापः कथ्यते । यथा—

सुलभा. सततं राजन् पुरुषा. प्रियवादिनः ।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

इति सारणवाक्यं रावणेन न गृहीतमित्यसत्प्रलापः ।

‘किं त्वं वधिर कुञ्जो वा मत्तो वा यत्न पश्यसि ।’ इति

रथकारकुले जातः कथं वा श्रोत्रियात्मजम् ।

राधेयाह्वय संयोद्धुमश्वत्यामानमुद्धतमिति ॥

अयमसत्प्रलाप एव ।

असत्प्रलाप—जब किसी हठी या नासमझ को ऐसा हित का उपदेश या सलाह दी जाए जिसे वह न माने तो उसे 'असत्प्रलाप' समझना चाहिए। जैसे :—

स्वामिन्, ससार में प्रिय बोलने वाले मनुष्य तो सभी स्थानों पर मिल जाते हैं पर अप्रिय और हितावह वचनों को कहने और सुनने वाले फठिनाई से प्राप्त होते हैं। उक्त उदाहरण में—सारण के द्वारा रावण के प्रति कहे गए इन हितकारी शब्दों को सुनकर भी रावण का उन्हें न मानना 'असत्प्रलाप' है। या—

क्या तुम बहिरे, कुबड़े या पागल हो जो मुझे नहीं देख पाते !
अथवा—राधापुत्र कर्ण, (क्योंकि) तुम रथकार (सारथी) के नीचे

१ सागरनन्दी ने उक्त पद्य यशोवर्म के रामाभ्युदय नाटक से यहाँ उद्धृत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्म ने कदाचित् पाश्चात्तिक हम्पी श्लोक को अपने नाटक में उद्धृत किया होगा। पाश्चात्तिरामायण में यह श्लोक प्राप्त होता है तथा प्रसिद्ध भी है।

वंश में उत्पन्न हुए हो (अतः) मुक्त श्रोत्रिय ब्राह्मण के उच्च कुल में उत्पन्न होनेवाले अश्वत्थामा को भी अपने औद्धत्य से युद्ध के लिए ललकारने लगे ?

उक्त कथन में भी ‘असत्प्रलाप’ समझना चाहिए ।

वाग्देवी—

द्वित्रिप्रतिवचना वाग्देवी । यथा—

कस्त्वं कृष्णोऽस्मि वर्णं ते नाहं पृच्छामि नाम किम् ।

केशवोऽहं चिराच्छब्दं कुर्यां त्वां खलु केशवमिति ॥

वाग्देवी—दो या तीन शब्दों में (अनेक बार) दिया गया प्रत्युत्तर ‘वाग्देवी’ कहलाता है । जैसे :—

तुम कौन हो ? मैं कृष्ण [काला] हूँ ।

तुझे तुम्हारा रंग नहीं जानना है, अपना नाम बतलाओ ? मैं केशव हूँ ।

ओ हो, बड़ी देर बाद मिले, अब मैं शिरच्छेद द्वारा तुम्हें शव ही बनाती हूँ ।

मृदवम्—

मृदवं यथा—

यन्मिमित्तं गुणा दोषाः स्युर्दोषाश्च तथा गुणाः ।

चित्रोक्ति मृदवं नाम तन्मतं कविभिर्यथा ॥ ३६३ ॥

(ना० शा० २० । १६४)

मृदव—अब वैदग्ध्य या कलापूर्ण उक्तियों से क्रिमी के गुणों को दोष या दोषों को गुण सिद्ध किया जाए तो उसे ‘मृदव’ समझना चाहिए ।

तत्र गुणदोषीकरणं यथा—

तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया ।

सुलैकायतनं जातं दुःसायैव ममाधुना ॥

दोषगुणीकरणम् यथा—

उदेतु गगनव्यापी महामागमिदं तमः ।

येन साऽभ्येति निश्शङ्का सद्देतं मे मृगेक्षणा ॥

गुणों को दोष बतलाने का उदाहरण —

यद्यपि उसका यौवन से जगमग सौन्दर्य संसार में सुख का आगार

बनने जा रहा है पर वही सब आज मेरे लिए अधिक कष्टदायी बन रहा है ।

दोष को गुण बतलाने का उदाहरण :—

यह उपकारक महाभाग अन्यकार जोरों से उठ कर आकाश में फैल जाए जिससे वह मृगनयनी निश्शक होकर बिना घबराए मेरे सवेत स्थान पर आ जाए ।

अधिवलम्—

उत्तरोत्तरसम्भूतमात्मनश्च परस्य च ।

विद्यादधिवलं वाक्यमेकवस्तुविशेषणम् ॥ ३६४ ॥

(ना० शा० २० । १६५)

यथा—

तिमिराम्बरधारिण्यो वक्षिताखिलदृष्टयः ।

सायमेता मिल्न्यद्य दिक्षश्चन्द्रामिसारिका ॥

इति एकेनोक्तेऽपर आह—एवमाक्षितविहङ्गनूपुराश्चन्द्रामिसारा-
रन्धराणा एता दिश इति ।

अधिवल—जब किसी एक ही पदार्थ के विषय में स्वयं के और दूसरे व्यक्तियों के कथन धीरे धीरे आगे बढ़ते चले तो उसे 'अधिवल' समझना चाहिए । जैसे :—

ये दिशाएँ अभिसारिका बन कर अन्यकार का वल लपेटे हुए सभी की दृष्टि बचा कर आन सन्या को अपने प्रिय चन्द्र से मिलने आ रही हैं ।

इस प्रकार एक व्यक्ति के कहने पर दूसरा कहने लगा :—(और) इन दिशाओं ने पक्षियों के कलखरूपी पैंजन दूर हटा कर चन्द्र का अभिभरण करने के लिये अपना राग भी चारों ओर फैलाना शुरू कर डाला ।

छलम्—

‘छलं स्याद्वाच्यमन्यार्थं हास्यरोपातिसन्विष्टम् ।’

यथायोध्यामरते—

छल—परिहास, क्रोध या घोरता प्रकट करनेवाले वचनों का प्रयोग करना जो वाच्यार्थ के विरुद्ध हो—‘छल’ कहलाता है। जैसे अयोध्याभरत (नामक अङ्क) में—

लक्ष्मण — सकलराक्षसकुलक्षयकारिणि युष्मद्भुजद्वये सति किमसौ करिष्यति ।

लक्ष्मण—समस्त राक्षस कुल के विध्वंस में समर्थ आपकी इन भुजाओं के होने पर उससे क्या बन पड़ेगा ?

त्रिजटा—(प्रविश्य) सीताविओजं । [सीतावियोगम्] अतिसन्धिक्लृच्छलमेतत् ।

त्रिजटा—(प्रवेश करते हुए) सीता का वियोग ।

उक्त कथन से घोरता प्रकट होता है। अतएव यह ‘छल’ का उदाहरण है ।

त्रिगतम्—

स्फुटमाव्यर्थक्यनं त्रिगतम् । यथा कदलीगृहे सुसङ्गता— एसा लण पृथ सारिजा सक्रिदब्बा । कदा वि गहिदत्था कस्स वि पुरदो पआसेदि । [एसा पुनरत्र सारिका शङ्कितया । कदापि गृहीतार्था कस्यापि पुरत प्रकाशयति ।]

त्रिगत—भाषी घटना को स्पष्टतः कह डालना ‘त्रिगत’ कहलाता है। जैसे कदलीगृह नामक अङ्क में—

सुसङ्गता—इस सारिका पर ध्यान रखना पड़ेगा क्योंकि इसे जो भी सुनाई देगा उसे यह किसी के भी आगे प्रकट कर सकती है ।

व्याहारः—

प्रत्यक्षानुभवारूढो व्याहारो हास्यलेशकृत् ।

कृतसम्मोगराजानं सोपहासमिमावरीत् ॥ ३६५ ॥

(ना० शा० २० । १६७)

यथा—

विदूषक — भूप, तव कार्येषु मे जिह्वा पल्वत्येव गुडदन्ता जडायितुम् । इति ।

व्याहार—आश्रित परिहास के साथ अपने अनुभूत वचन को सीधे कह डालना ‘व्याहार’ समझना चाहिए ।

जैसे संभोग किये हुए राजा को परिहास के साथ त्रिदूषक का इस प्रकार कहना—‘राजन्, आपक कार्यों को बतलाने में गुड से सनी मेरी जीभ ऐंठ रही है।

गण्डः—

उक्तमन्यार्थमन्येन उचोऽन्यार्थं प्रकल्पयेत् ।

अन्यथेति हि गण्डोऽयं बहुधा परिकीर्तितः ॥ ३६६ ॥

यथा—

जातोऽन्यत्र च योऽन्यत्र बद्धितो मधुसम्भव ।

परपुष्टं स कृष्णोऽयं मारयत्यनिवारितः ॥

इत्युत्कृष्टितया प्रोक्तं कसेनाहितमन्यथा ।

गण्ड—किन्नी एक पुरुष के द्वारा कहे गए शब्दों का यदि दूसरा पुरुष अपने पक्ष में अर्थ लगा ले तो उसे ‘गण्ड’ समझना चाहिये। जैसे :—

जो एक स्थान में उत्पन्न होकर दूसरे स्थान में पला गया, जिसका मधु से उद्भव है (माघव) जिसका वर्ण काला [कृष्ण] है; वही आज न रोक्ने के कारण मार [काम के समान कार्य कर] रहा है।

उक्त पद्यन उत्कृष्टिता नायिका ने कोकिल को लक्ष्य करते हुए कहा किन्तु कंस ने इसका अर्थ अपने पक्ष में लगा लिया। अतएव यह ‘गण्ड’ का उदाहरण है।

यत्राभिलषितं काङ्क्षन् गुह्या द्वयर्थपरैः पदैः ।

निर्दिशेद् वाक्यबुधलो द्वयर्थगण्डं स कथ्यते ॥ ३६७ ॥

यथा—

जब अपने इस अर्थ को घुसाल पुरुष दो अर्थों वाले शब्दों से कहकर छुपाते हुए सचेतित या प्रकट करे तो उसे ‘द्वयर्थगण्ड’ समझना चाहिये। जैसे —

जातस्ते दारकं कसं स्वसुरानन्दवर्द्धन ।

तं वस्तुमहमायातो नारदो भवत क्षमम् ॥

कसं, सुनो—सुन्दारी बहिन को आनन्द देनेवाला [अपने ही पक्ष में रहने वाला देशगण के कष्टों को दूर करने वाला] पुत्र उत्पन्न हुआ है और मैं नारद इसी सन्देश को कहने के लिए तुम्हारे घर [आपने श्रम का समाचार देने के लिए यहाँ] आया हूँ।

अन्यदन्यच्च वदतोर्द्वयोर्वाक्यसमागमे ।

जायतेऽनिष्टमिष्टं वा स गण्ड इति कीर्तितः ॥ ३६८ ॥

यथा राघवाभ्युदये—

यदि दो व्यक्तियों के पारस्परिक सवावों के बीच अनेक चर्चाओं के होने पर ऐसे वाक्यों का प्रयोग हो जाए जिससे किसी इष्ट या अनिष्ट की उपलब्धि या उ पत्ति हो जाए तो उसे भी ‘गण्ड’ समझना चाहिए । जैसे—राघवाभ्युदये—

राम—‘किन्ते स्यादिति चिन्तया मम मन पर्याकुल आभ्यति ।’

राम—(आज) इस चिन्ता के कारण कि तुम्हारा क्या होगा मेरा मन व्याकुल होकर चकर रहा है ।

सीता—विरहो दे । [विरहस्तव ।]

सीता—कि तुम्हारा विरह होगा ।

राम—शान्तम् । इत्यादिक्रमाद् ।

राम—अरे, बन्द करो ‘हरयादि ।

द्वयर्थता यत्र वाक्यानां लेखेनापि प्रतीयते ।

शब्दभङ्गानुयातश्च लेशगण्ड सः कथ्यते ॥ ३६९ ॥

यथा प्रतिज्ञाभीमे—

नीम.—‘रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च’ इत्यादि ।

जब वाक्यों के किसी अंश में दो अर्थों का भाव हो तो उसे ‘लेशगण्ड’ कहते हैं । ऐसे कथन में शब्दों की सभङ्ग (या अभङ्ग) रचना की योजना रहती है । जैसे :—प्रतिज्ञाभीमे नामक शब्द में—

सहदेव—प्रेम से (रक्त से) सारे भूमण्डल को अपने अधिकार में करनेवाले तथा विग्रहविहीन (युद्ध न करने वाले, मृत) ‘कीरव’ इत्यादि ।

अश्रितम्—

नानार्थानामुपशेषोऽश्रितम् । श्लिष्टानि यत्र पदानि सद्वा अश्रितम् ।

यथा—

‘लीलावधूतपथा’ (रत्ना० २ । ८) इत्यादि ।

यथा वा—

विचित्ररूपसम्पन्ना सा मां कान्तवयोऽन्विता ।

श्यामा रैवतभूमीव धिमोति तिलकोज्ज्वला ॥

अञ्चित—जिसमें अनेक अर्थों को अभिव्यक्त किया जाए तो उसे 'अञ्चित' समझना चाहिए। अथवा जहाँ श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हो उसे भी 'अञ्चित' कहा जाता है।

जैसे—लीला से कमल को घुमाते हुए 'इत्यादि (रत्ना० २।३)।

अथवा—जिसका विचित्र रूप और सुन्दर अवस्था [सुन्दर पक्षियों से युक्त] है, और जो ललाट पर तिलक लगाए है [तिलक वृक्षों से युक्त है] ऐसी युवती [श्यामा, कृष्णवर्ण वाली] रैवतकपर्पत की भूमि के समान मुझे प्रसन्न कर रही है।

प्रपञ्चम्—

अन्येऽञ्चितस्य स्थाने प्रपञ्चं नाम वीथ्यङ्गं वर्णयन्ति । यथा—

“यदसद्भूतवचनमंस्तवयुक्तो द्वयोः परस्परतः । एकस्यार्थस्य कृते आलापो हासजननश्च ।” स प्रपञ्चः । यथा कलावत्यां राज्ञो विदूषकस्य वचनम्—

किञ्चिद्देहि ददामि चित्रफलकं तस्या मयाऽऽसादितं

सर्वं माधव शक्यमेव भवत किं ते मया दीयते ।

किं मां स्तौषि मृषानुगस्तव वटुः सोऽहं भवान्भूपतिः

मुद्रा स्वीक्रियतां ददाम्यलमिदं चित्रं सखे शृणुताम् ॥

इति । इदं राधाख्यायां वीथ्या शेषम् ।

कुछ आचार्य अञ्चित के स्थान पर 'प्रपञ्च' नामक वीथ्यङ्ग मानते हैं। उनके मत में—“दो पात्रों का किसी एक वस्तु का (परस्पर) परिहास करते हुए असंगत या विरुद्ध वचनों द्वारा प्रशंसा आदि के साथ वर्णन करना 'प्रपञ्च' होता है। जैसे कलावती में राजा और विदूषक का यह पारस्परिक संभाषण—

मुझे कुछ दीजिये ?

१. विदूषक तथा राजा के घातौलाय से युक्त प्रस्तुत उदाहरण में बिना किसी वस्तु को अपने पास रखे ही वे छलने या परिहास करने के लिए ये सारी उक्तियाँ रची गयी हैं जो 'प्रपञ्च' का उदाहरण बन जाती हैं।

मैं आपको (उस सुन्दरी का) वही चित्रफलक दे रहा हूँ जो मुझे प्राप्त हुआ था । अरे माधव, आपके लिये तो सभी प्राप्य है, मैं आपको क्या दे सकता हूँ । आप मेरी व्यर्थ ही प्रशंसा कर रहे हैं । आप राजा हैं और मैं ठहरा ब्राह्मण और आपका सेवक भी ।

अच्छा तो आप ये सुरर्ण मुद्राएँ ले लीजिये ।

बस बस, रहने दीजिये इन्हें, आप इस चित्र को यूँ ही ले लीजिये ।

राधानामक बीथी में इसका विस्तार से निरूपण प्राप्त हो सकता है ।

गोष्ठी—

अथ गोष्ठी । एकाङ्का कैशिकीवृत्तियुक्ता गर्भावमर्शसन्धिशून्या

च । यथा—सत्यभामा ।

गोष्ठी—अथ हम ‘गोष्ठी’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें एक भङ्ग होता है तथा कैशिकी वृत्ति होती है । गर्भ तथा अवमर्श सन्धियां नहीं होती । जैसे :—सत्यभामा ।

संलापः—

अथ संलापः । सात्त्वत्यारभटीयुतः । यथा-मायाकापालिकः ।

संलाप—अथ ‘संलाप’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें केवल सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति होती है । जैसे—मायाकापालिक^१ ।

शिल्पकम्—

अथ शिल्पकम् । ब्राह्मणनायकोपेतः । यथा-कनकावतीमाधवः ।

श्मशानसङ्कुलः, अनुदात्तोपनायकभूषितः, कैशिकी-भारती-सात्त्वत्यारभटीति चतुर्वृत्तिविराजितः, चतुरङ्गभूषितः, सर्वरसपूजितः । तस्य च सप्तविंशति-रङ्गानि । यथा—उत्कण्ठा, अवहित्यम्, प्रयत्नः, प्रयत्नम्, आशंसा, तर्कः, संशयः, तापः, उद्वेगः, मौढ्यम्, आलस्यम्, अप्रतिपत्तिः, विलापः, वाम्यम्, अनुगमनम्, विस्मयः, साधनम्, उच्छ्वासः, चमत्कारः, शून्यत्वम्, प्रलोभः, वैशारद्यम्, सम्प्रेष्टः, आश्वासनम्, बोधनम्, ग्रहर्षः, प्रशस्तिरिति ।

१. साहित्यदर्पण में भी मायाकापालिक का उल्लेख प्राप्त होता है । हमारा रचयिता अज्ञात है ।

शिल्पक—अब 'शिल्पक' का लक्षण बतलाते हैं। इसका नायक ब्राह्मण होता है। जैसे :—'कनकावतीमाधव'। इसमें रमशान के दृश्य रहते हैं, ऐसा उपनायक होता है जो धीरोदात्त प्रकृति का न हो। कैशिका, भारती, सात्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ होती हैं। चार अङ्क और सभी रस होते हैं। शिल्पक के सचाईस अङ्ग होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. उत्कठा २. अवहित्थ ३. प्रथम ४. ग्रथन ५. आशसा ६. सर्क ७. सशय ८. ताप ९. उद्वेग १०. मीगध्य ११. आलस्य १२. अप्रतिपत्ति १३. विलाप १४. वाम्य १५. अनुगमन १६. विस्मय १७. साधन १८. उच्छ्वास १९. चमत्कार २०. शून्यत्व २१. प्रलोभ २२. वैशारद्य २३. सम्पेद २४. आश्वासन २५. बोधन २६. ग्रहण तथा २७. प्रशस्ति।

उत्कठा—

तत्र रमणीयवस्तुविषयेऽभिलाष. उत्कठा। यथा शाकुन्तले-

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्चमवासिनो यदि जनस्य।

कूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वल्लभाभिः॥

(शाकु० १।१५)

उत्कठा—किसी रमणीय वस्तु को पाने की इच्छा करना 'उत्कठा' कहलाता है। जैसे शाकुन्तल ने।

'यदि रनिवास की रातियों में दुर्लभ सुन्दरता इन आश्चमवासिनी वन्याओं को मिली है तो यही समझना चाहिये कि जंगल की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को लज्जा दिया।

अवहित्थम्—

प्रबुद्धस्य स्वरणमवहित्थम्। यथा-वृक्षपाटिकायाम्-रजनिका (प्रविश्य) भट्टिणी किं णेठं [भट्टिनि, किन्त्वेतत् !] नन्दयन्ती— (अपवार्य) हजे, ण खलु किचिदिति [हज्जे, न खलु किञ्चित्] इति।

१. अलङ्कारसङ्ग्रह तथा साहित्यदर्पण ने भी 'शिल्पक' का उदाहरण 'कनकावतीमाधव' ही दिया है। अलङ्कार सङ्ग्रह में इसे शिल्पक के स्थान पर 'सँहाप' का उदाहरण माना है तथा शिल्पक के सारे अङ्गों को भी सँहाप के अंग जो रत्नकोश तथा भावप्रसाशन में शिल्पक के अंग माने गए हैं।

अवहित्य—किसी ज्ञात वस्तु को छिपाना ‘अवहित्य’ कहलाता है।
जैसे घृक्षवाटिका^१ में—

रजनिका—(आकर) मालकिन्, यह क्या है ?

नन्दयन्ती—(छिपा कर) हंजे, कुछ भी तो नहीं।

प्रयत्नः—

अनिवृत्तये यत्न. प्रयत्नः । यथा प्रागृडङ्गे—

अये, अन्विष्टेयं मया वनराजी । यावदेनां विचिनोमि । (परि-

क्रम्यावलोक्य च) कथमत्रापि नास्ति । कष्टं भोः कष्टम् ।

सर्वत्राम्बुमुचो ध्वनन्ति कुटजामोदोऽपि सर्वत्रगः

सर्वत्रैव च ताण्डवव्यसनिता केका कला बहिणाम् ।

आर्याप्राप्तिनिराशमेव कलितं पापस्य मे मानसं

येनास्मिस्तदवस्थिते समुचितो नोद्देश एव क्षत इति ॥

प्रयत्न—किसी वस्तु को प्राप्त करने का उद्योग या आग्रह करना
‘प्रयत्न’ कहलाता है । जैसे—प्रागृडङ्ग में—

[लक्ष्मण ?]—ओ हो, मुझे इस वन प्रदेश में ढूँढ़ना चाहिए ।
अच्छा, तो मैं अब उन्हें तलाश करूँ । (घूम कर देखते हुए) अरे !
(वह तो) यहाँ भी नहीं । हाय ! हाय !

यहाँ नभी ओर मेंघों का गर्जन हो रहा है, कुटज की गन्ध फैल
रही है और चारों ओर नाचने वाले मोरो भी आवाजें हो रही हैं । आज
मुझ अभाग का मन आर्यों को न पा सकने के कारण अतिशय निराश
हो रहा है और फिर भी यहाँ पर ऐसा कोई स्थान शेष नहीं जहाँ जाकर
मैंने उनकी तलाश न की हो ।

ग्रथनम्—

अन्योन्यनिर्णयोत्पन्नपरिचयपल्लवितविभ्रमामिरामोऽर्थविशेषो ग्रथनम् ।

यथा बृहद्रथुलवीथिकायाम्—

अथ तैश्च—

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिस्पन्दमन्दै-

रधिकविकसदन्तार्विस्मयस्मेरतारैः ।

१. घृक्षवाटिका—गुप्पद्वीपिक के द्वितीयाह का नाम ।

हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्या कटाक्षै-

रपद्धतमपविद्धं पीतमुन्मीलितञ्च ॥ (माल० मा० १।३१)

प्रथम—एक दूसरे के साथ संभाषणों एवं निश्चयों से हो जानेवाले परिचय के कारण मर्दव और सीन्दूर से पूर्ण अर्थविशेषों का परस्पर प्रयोग करते हुए वार्तालाप करना 'प्रथम' समझना चाहिए। जैसे—
 बृहद्कुलवीरिका" नामक अङ्क में—

हे मित्र, उस कमलनयनी के चंचल कटाक्षों ने जो कभी लज्जा के कारण पीछे लौट जाते थे फिर उत्कठा के कारण तिरछे होकर ऊपर उठ जाया करते थे, कभी पुतलियों आश्चर्य के भाव से खिलने पर धमकीली बन जाती थी। इन कटाक्षों ने मेरे अस्थाय मन को हर लिया, पटक दिया, पी लिया और वहीं गाड़ दिया।

आशंसा—

ईप्सितस्य दुर्लभस्याशंसनमाशंसा । यथा श्मशानाङ्गे—इदमेव तावत् प्रार्थये—

सम्भूयेव सुखानि चेतसि परं भूमात्मातन्वते

यत्रालोकपथागतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सव ।

यद्वालेन्दुकलोच्चयादुपचितै सारैस्त्रिवोत्पादित

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ॥ इति ।

(मा० माघ० ५।९)

आशंसा—किसी दुष्प्राप्य वस्तु को पाने की इच्छा या आशा करना 'आशंसा' कहलाता है। जैसे श्मशानाङ्क में—मैं तो सिर्फ यही चाहता हूँ कि—

निमन्त्रे सुन्दर मुख को देखने पर संसार के सभी सुख मिल कर मानो चित्त में आनन्द का मंचार मा कर देते हों, निमन्त्रे अबलाकन मात्र से नेत्रों में प्रीति का प्रस्ताव आने लगता है, निमन्त्रे बालचन्द्र की कला के सारतत्त्वों से निर्माण किया गया सा लगता है उस प्रियतमा के मुख को—जो कामदेव के मंगल सदन के समान है—क्या मैं फिर से देख पाऊँगा ।

१. बृहद्कुलवीरिका—मालतीमाधव के 'पथमाङ्क' का नाम। 'बृहद्कुलवीरिका' एक पोथी का भी नाम है। अतः ये दोनों परस्पर भिन्न हैं तथा इसी कारण अङ्क के अभिधान में बृहद् विनोदण जोड़ा गया है।

तर्कः—

आत्मविचाराधीनोऽर्थावग्रहस्तर्कः । यथा नन्दयन्तीसंहारे—

भर्ता तवाहमिति कष्टदशाविरुद्धं

पुत्रस्तवैष कुत इत्यनुदास्तैषा ।

शस्त्रं पुरः पतति किं करवाणि कष्टं

व्यक्तं विरोमि यदि साभ्युपपद्यते माम् ॥ इति ।

तर्क—किसी तथ्य को निश्चित करने के लिए किया गया आत्म-परीक्षण ‘तर्क’ कहलाता है । जैसे नन्दयन्तीसंहार नामक अष्टक में—

इन कष्टमय अवस्थाओं के बीच ‘मैं तुम्हारा स्वामी हूँ’ कहना अनुचित है और ‘तुम्हें यह पुत्र किससे प्राप्त हुआ’ पूछना भी अर्थहीन है । मेरी आँखों के सामने अब [आत्महत्या के लिये] शस्त्र बंद रहा है । हाय ! अब मैं क्या करूँ ? यदि खुल कर रोता हूँ तो वह अभी मेरे पास आ जाएगी ।

संशयः—

कोटिद्वयावलम्बनोऽर्थः संशयः । यथा (विद्ध) शालभक्षिका-

याम्—

उपमाकाराग्रं ग्रहिणु नयने तर्क्य मनाग्

अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ।

सुधा-बद्धप्रासैरुपवन चकोरैरनुसृतां

किरञ्ज्योत्स्नामच्छा नव-रुबलिपाकप्रणयिनीम् ॥

(विद्ध० भ० १।३१)

संशय—जिस विषय पर दोनों पक्षों का सन्देह होता हो [या वह अर्थ जिसे दोनों पक्षों में लगाया जा सकता हो] ‘संशय’ कहलाता है । जैसे विद्धशालभक्षिका में—

जरा उम किले की दीवार के एक कोने पर अपनी नजर उठा कर देखिये और थोड़ा विचार कीजिये कि बिना आकाश के यह निष्कलङ्क चन्द्र यहाँ कैसे उदित हो रहा है । यह अपनी स्वच्छ कान्ति को चारों ओर फैला रहा है जो ताजी लवली लता के समान शुभ्र है । इस

१. नन्दयन्तीसंहार—पुष्पद्विपिक के अन्तिम अष्टक का नाम ।

चन्द्रिका का पान करने के लिये सुधा रस से सने मुँह वाले उपवन के चकोर पक्षी भी मानों इस चन्द्र का अनुसरण कर रहे हैं।

तापः—

अनुशयविशेषस्तापः । यथा कुलपत्यङ्गे—

सुभ्रूयास्यति गोचरं नयनयोस्त्रिद्विपक्षेक्षणा
मुग्धा सेयमिति स्फुटं यदि परिज्ञातं भवेत् प्राप्य मे ।

तद्वीरीदयितादपास्य सकलानन्यान् वरान् केवलं

किं न प्रार्थितवानतीतगणनान्तां विजातस्फुरानिति ॥

ताप—विशेष रूप में पश्चात्ताप करना 'ताप' कहलाता है। जैसे कुलपत्यङ्ग ने—

क्या मुझे इसके पाने के पहिले स्पष्टतः यह ज्ञात था कि विकसित कमल के समान नेत्रों और सुन्दर बरीनियों वाली जो सुन्दरी मुझे दिखाई दी थी वह वही भोली युवती होगी। यदि ऐसा विदित होता तो मैं गौरीबल्लभ शिवजी के द्वारा दिये हुए सभी वरों को छोड़ कर— जो अपने विपरीत परिणाम को स्पष्टतः प्रकट कर सकते थे—इसी की प्रार्थना क्यों नहीं कर लेता जिससे कि अतीत से अनन्तकाल तक की गणना तक अपरिमित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी।

उद्वेगः—

बन्धुजनवियोगजनिन उद्वेगः । यथा धृतराष्ट्राङ्गे—

सुक्षत्रियासि भवती क्व च दीनतैषा

निर्वत्सले सुतशतस्य विपक्षिमेनाम् ।

त्वं नानुचिन्तयसि रक्षसि मामयोम्यं

मात किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते ॥ (वे० स० ५।३)

उद्वेग—अपने सम्बन्धियों से बिछुड़ने पर होने वाला क्लेश 'उद्वेग' समझना चाहिये। जैसे धृतराष्ट्राङ्ग ने :—

भरे माँ, तुम ऊँचे कुल में उत्पन्न होनेवाली क्षत्रियाणी हो और तुम्हारे मुँह से ये दीनवचन निकल रहे हैं। यह क्या है? भरी पुत्र स्नेह में विह्वल होनेवाली माँ, तुम अपने सभी पुत्रों की आपत्ति का स्मरण नहीं कर रही हो और अकेले मुझ अयोग्य की रक्षा करना चाहती हो। (आज) ये वायरतापूर्ण शब्द तुम्हारे मुँह से निकलने योग्य नहीं हैं।

मौगध्यम्—

स्त्रीस्वभावविशेषो मौगध्यम् । यथा चैत्रावल्यङ्के—

(सागरिका) अम्मो अम्हाणं तादस्स अन्तेउरे चित्तगदो भअवं अच्चिअदि । एत्थ उण तअं चेअ पूअ पडिस्सदि । [अहोऽस्माकं तातस्यान्तपुरे चित्रगतो भगवानर्च्यते । अत्र पुन स्वयमेव पूजां प्रतीच्छति ।] (रत्ना० अ० १)

मौगध्य—स्त्रियों की अति सहज भोली प्रवृत्ति को ‘मौगध्य’ समझना चाहिये । जैसे चैत्रावल्यङ्क में :—

(सागरिका) भरे, आश्चर्य है । मेरे पिताजी के घर पर तो केवल कामदेव के चित्रों की पूजा की जाती थी पर यहाँ तो साक्षात् काम का धर्चन किया जा रहा है ।

आलस्यम्—

मार्गादित्सेदजन्य अम आलस्यम् । यथा कुन्दमालानिर्घासे—

[सीता—] बच्छ लल्लखण, अदिसअं गरुअ गव्वममारं बहणच्छमा ण बहन्दि मे चल्लण । ता अम्मदो भविअ णिरुबेदि दाव कीसदूरे भअवदी भाईरधीत्ति । [वत्स लक्ष्मण, अतिशयं गुरुगर्भभारं वहनाक्षमौ न बहंतो मे चरणौ । तदग्रतो भूत्वा निरूपय तावत् कियद् दूरे भगवती भागीरथीति ।] (कुन्द० अं० १)

आलस्य—बड़ी दूर तक चलने के कारण होने वाली थकावट को ‘आलस्य’ समझना चाहिये । जैसे कुन्दमाला में :—

सीता—गर्भ भार से कमजोर हो जाने के कारण अब मेरे पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं । तुम जरा आगे बढ़ कर पता लगाओ कि अब भागीरथी कितनी दूर है ?

अप्रतिपत्तिः—

प्रतिपत्तिमूढताऽप्रतिपत्तिः । यथा कोशलाङ्के—

पियसहि, ण कखु कि पि । किंतु गदं पुत्तकं सुणिअ किं महाराओ पडिवत्तिस्सदि ति एब्बं मे सोअकारणं ति । [प्रियसखि, न खलु किमपि । किन्तु गतं पुत्रकं श्रुत्वा किं महाराज. प्रतिवक्ष्यतीति एतन्मे शोककारणम् इति ।]

अप्रतिपत्ति—किये जाने वाले कार्य का अज्ञान रहना या उसे करते समय घबड़ाहट होना 'अप्रतिपत्ति' कहलाता है। जैसे कोशलाङ्क में—

सखि, और कुछ नहीं। पर जब महाराज यह सुनेंगे कि अब उनका पुत्र नहीं रहा तब वे क्या कहेंगे ? मेरे शोक का यही कारण है।

विलापः—

शोकसमुत्थमापदि परिदेवनं विलापः। यथा कृत्यारावणेऽ-
टव्यङ्के—'वैदेहि देहि कुपिते दयितस्य बाधम्।

इत्यद्भुतस्य सहसागतसङ्गमस्य ॥' इत्यादि।

विलाप (परिदेवन)—आपत्तिकाल में शोक के कारण होनेवाला रुदन 'परिदेवन' कहलाता है। जैसे कृत्यारावण के अटवी नामक अङ्क में—

'अरी कुपित होने वाली वैदेहि, इस समय सहसा मिल जाने वाले अपने स्वामी को बुलाओ तो' इत्यादि।

वाम्यम्—

प्रसादने व्युत्थान वाम्यम्। यथा कुम्भाङ्के—

देवी-देव, एतद्वक्तुकामास्मि। सीता मोचय। अबलीयसीं दद्या-
मुपगतस्त्वम्। तत् किं विस्मृतोऽसीत्यादि।

वाम्य—प्रसन्नता के विपरीत आचरण करना 'वाम्य' कहलाता है। जैसे कुम्भाङ्क में—

देवी देव, तुम्हें मैं यही कहना चाहती थी कि 'सीता को छोड़ दो, अब तुम्हारी शक्ति क्षीण हो गई है फिर क्यों भूल कर रहे हो' आदि।

अनुगमनम्—

प्रस्थितस्य हर्षादिनुयानमनुगमनम्। यथा मायाशङ्कुते नलः—

इय दर्भश्रेणी मृदुचरणपातं घञ् शनै
निवर्त्त स्वाध्यायं निविडनडमालावलयित।

भजेया. पञ्चान्मा वरतनु पुरस्तान्मृगखुर-

क्षुरप्रत्यारेसस्थपुटितविभागा वनमुव ॥

अनुगमन—प्रस्थान करनेवाले स्वामी का प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करना 'अनुगमन' कहलाता है। जैसे मायाशङ्कुत में—

नल—इस मार्ग में कुशाओं की पाँतें हैं इसलिए धीरे-धीरे पैरों को

ठठा कर चलो । चक्कादार बैतों की पाँत से युक्त इस रास्ते में धीरे से घूमो । तुम मेरे पीछे-पीछे ही धीरे चलो क्योंकि मृगों के तीखे खुरों से खुदने पर उबड़-खाबड़ भू माग तीखे हो जाने के कारण चुमने वाले बन गये हैं ।

विस्मयः—

अकृतार्थदर्शनोद्भवोऽर्थविशेषो विस्मयः । यथा—‘दोर्दण्डाः क कृताङ्गदा’ इति ।

विस्मय—किसी प्रयोजन के पूर्ण न होने पर उसे देखकर होनेवाला मानसिक भाव ‘विस्मय’ कहलाता है । जैसे—

अब ये बाजुबन्द से शोभित मुजठण्ड कहाँ हैं ? इत्यादि ।

साधनम्—

व्याहारविशेष साधनम् । यथा क्षपणककापालिके—‘भवतु । मन्त्रेण वशीकरोमि ।’ इति

साधन—किसी विशेष उपाय का कथन करना ‘साधन’ समझना चाहिये । जैसे क्षपणककापालिक में —

खेर, जाने दो । अब मैं अपने मन्त्रों से इसे वश में करता हूँ ।

उच्छ्वासः—

मुग्धस्योत्थानमुच्छ्वासः । यथा विक्रमोर्वशीये—‘अये, समुच्छ्वसितमार्येण ।’ इति । (वि० व० अं ४)

उच्छ्वास—मूर्च्छित या मोहित पुरुष का फिर अपनी दशा में बँट खड़े होना ‘उच्छ्वास’ कहलाता है । जैसे विक्रमोर्वशीय में :—

‘अरे, अब आर्य की साँस चलने लगी ।’

चमत्कारः—

चमत्कारो लोकप्रसिद्ध एव । यथा क्षपणककापालिके—

हीमालिके, लामलक्सणेहिं लक्खिदे दंढकालणे आकारेदि मं लंकाए त्ति । [आश्चर्यम्, रामलक्ष्मणान्यां रक्षिते दण्डकारण्ये आकारयति मा लङ्काया] इति ।

चमत्कार—लोकप्रसिद्ध होने से ‘चमत्कार’ का लक्षण सभी जानते हैं । जैसे क्षपणककापालिक में :—

१. ‘दोर्दण्डा’ इत्यादि पद्य उदात्तराघन के द्वितीय अङ्क का है ।

२. क्षपणककापालिक-रामायण नाटक के एक अङ्क का नाम ।

ओ हो, राम-लक्ष्मण से सरक्षित दण्डकारण्य में मुझे लह्हा से वह जुला रहा है इत्यादि ।

शून्यत्वम्—

विस्मरणशून्यत्वं शून्यत्वम् । यथा प्रावृडङ्के—वत्स, इयतीं बेला क गतो भवानासीत् । इति ।

शून्यत्व—किसी की याद न आना 'शून्यत्व' कहलाता है । जैसे प्रावृड् नामक शब्द में :—

चेटे, तुम इतनी देर कहाँ गये हुए थे ।

प्रलोभः—

प्रयोजनार्थमर्यादिभिः प्रलोभनं प्रलोभः । यथा मोटकाङ्के—

शकार.—शुवण्णभाणं शदं देमि । कंठकं जटुकं दे देमि । मालेहि ले एदं गणिआदालिअ । [सुवर्णकानां शतं ददामि । कण्ठकं जटुकं तुभ्यं दास्यामि । मास्य रे एता गणिकादारिकाम् ।]

(मृच्छ० अ० ८)

प्रलोभ—अपने कार्य के लिए धन आदि या ह्तालच दिखलाना 'प्रलोभ' कहलाता है । जैसे मोटनकाङ्क में :—

शकार—मैं तुझे एक सौ सोने की मुहरें दूँगा और एक सोने के दानों का कण्ठा दूँगा जिसमें लाग्य भरी हुई है । बस, तू इन वेश्या की बची को मार डाल ।

वैशारद्यम्—

आत्मन धौरूपप्रतिपादनं वैशारद्यम् । यथा रामाभ्युदये

वाली—क्षयानलशिखाजाल-विकरालसटावलि ।

दृश्यते वा द्विपैः सिंहः क्रुद्धो वाली न वैरिभिः ॥

वैशारद्य—अपने पुरुषार्थ या शौर्य का बरतान करना 'वैशारद्य' कहलाता है । जैसे रामाभ्युदय में :—

वाली—प्रलयकाल में उठनेवाली आग की लपटों के समान भयकर जटाओं की पाँतों से व्याप्त क्रोध में भरे हुए वाली (के मुख) को शत्रु सभी प्रकार नहीं देख पाते जैसे सिंह को हाथी ।

सम्पेटः—

क्रोधेनातिक्रम सम्पेटः । यथा मोटकाङ्के—

शकार—ओदल गन्मदाशी ओदल । मम केलकाइं गोणाईं वाहेशि । [अवतर गर्भदासी अवतर । मदीयौ गावौ वाहयसि ।]

(मृच्छ० अं० ८)

सम्पेट—क्रोध मे मर्यादा को लोंघ जाना ‘सम्पेट’ कहलाता है । जैसे मोटकाङ्क मे :—

शकार—अरे गर्भदासी, नीचे उतर । मेरे बैलों पर चढ़ी जा रही है ।

आश्वासनम्—

शोकापनोदमाश्वासनम् । यथा कोशलाङ्के—

सुमित्रा—अज्जे समस्सस । कीस दाणिं तुमं रामभद्रस्स जणणी भविअ अक्षारिसीहिं आसासीअसि । [आर्ये समाश्वासिहि । कस्मादिदानीं त्वं रामभद्रस्य जननी भूत्वास्मादृशीमिराश्वास्यसे ।]

आश्वासन—शोक को दूर करना ‘आश्वासन’ कहलाता है । जैसे कोशलाङ्क मे—

सुमित्रा—देवी, तुम धैर्य रखो । क्योंकि तुम श्रीराम की माता होकर भी आज हम जैसी से धीरज बँधाने को कही जा रही हो ।

बोधनम्—

कार्यप्रतिवचनेन प्रतिबोधनं बोधनम् । यथा राघवाभ्युदये लक्ष्मणः—तदेतद्विज्ञापयामि ।

अभ्यर्थता मार्गमसौ पयोधि.

स बध्यतां कूटमतिर्दशास्यः ।

विमुञ्च तावत् परिदेचितव्यं

कार्याणि सर्वत्र सुखमवन्ति ॥

बोधन—माथी कार्यों के क्रम को बतलाना ‘बोधन’ कहलाता है । जैसे राघवाभ्युदय मे :—

लक्ष्मण—मैं तो आपको यही निवेदन करता हूँ कि—आप चाहे इस समुद्र से मार्ग की याचना करें या छल-कपट मे दक्ष यह रावण

बाँध लिया जाए। पर इन सभी कार्यों के पहिले थाप बिलाप करना छोड़ दीजिये क्योंकि प्रत्येक किया जानेवाला कार्य सरलता से पूर्ण नहीं हो जाता।

प्रहर्षः—

प्रहर्षश्च लोकप्रसिद्ध एव । यथा (विक्रमोर्वशीये)—

पुरुषवा—(चक्षुषी उन्मील्य) कथं सत्यमेव प्रियतमोर्वशी ।

(विक्र० अ० ४)

प्रहर्ष—लोकप्रसिद्ध होने से 'प्रहर्ष' को सभी जानते हैं। जैसे विक्रमोर्वशीय में :—

पुरुषवा—(आँखें खोलने हुए) अरे ! क्या सचमुच मेरी प्रिया हर्षशी है।

प्रशस्तिः—

देवद्विजादिकल्याणावधारण प्रशस्तिः । यथा राघवाभ्युदये—
'प्रीतः पृथ्वीम्' इत्यादि ।

प्रशस्ति—देवता या ब्राह्मणों की मङ्गलकामना करना 'प्रशस्ति' कहलाती है। जैसे राघवाभ्युदय में :—

राजा प्रसन्न होकर पृथ्वी की रक्षा करें 'इत्यादि ।

प्रस्थानम्—

अथ प्रस्थानम् । घटचेष्टादिनायिक, कैशिकीवृत्तिबहुलं, बहुता-
लल्यात्मक, सुरापानराजितं, विटोपनायकं दासादिनायकम् । यथा—
शृङ्गारतिलकम् ।

प्रस्थान—अथ 'प्रस्थान' का लक्षण बतलाते हैं। इसकी नायिका दासी या नीचकुल में उत्पन्न होनेवाली स्त्री होती है, कैशिकी वृत्ति की प्रचुरता रहती है, धनेक ताल और लय से युक्त सङ्गीत की योजना रखी जाती है, सुरापान आदि की घटनाएँ रहती हैं और दास नायक तथा विट उपनायक होता है। जैसे शृङ्गारतिलकः ।

१ 'प्रीतः पृथ्वीम्' इत्यादि सम्पूर्ण श्लोक पहले दिया जा चुका है। (४० ना० ८० १० को० ५० १०)

२. शृङ्गारतिलक प्रस्थान का उल्लेख म्या० ६० (१।१८३), भावप्रकाशन (५० २१२) तथा अलङ्कारसङ्ग्रह (१।१४३) में भी प्राप्त होता है।

काव्यम्—

अथ काव्यम् । खण्डमान-मात्राद्विपदीममतालकादिविभूषितं, चतुर्वृत्तियुक्तं, शृङ्गारहास्यप्रधानं, गर्भावमर्शसन्धिश्चन्यमेकाङ्कम् । यथा— उत्कण्ठितमाधनम् ।

काव्य—अथ ‘काव्य’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें रहनेवाले सङ्गीत में खण्डमान, मात्रा, द्विपदी और मग्नताल की योजना की जाती है, चारों वृत्तियाँ रहती हैं, शृङ्गार और हास्य रस मुख्य होते हैं, गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं तथा एक अङ्क होता है । जैसे उत्कण्ठितमाधन ।

हल्लीसकम्—

अथ हल्लीसकम् । सप्ताष्ट-नव-योपिद्विषितं, कैशिकीवृत्तिप्रायं, बहुताललयात्मकम्, एकाङ्कम्, एकपुरुषप्रधानमनुदात्तवचनकृतम् । यथा— केलिरैवतकम् ।

हल्लीसक—अथ ‘हल्लीसक’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें सात, आठ या नौ स्त्री पात्र रहते हैं, कैशिकी वृत्ति मुख्य होती है, लय और ताल से आवद्ध सङ्गीत का प्राचुर्य रहता है, एक अङ्क होता है तथा एक मुख्य पुरुष-पात्र रचा जाता है । इसकी भाषा संस्कृत या परिष्कृत नहीं होती । उदाहरण ‘केलिरैवतक’ ।

श्रीगदितम्—

अथ श्रीगदितम् । यत्र स्त्रीरासीना कल्यां पठति । एकाङ्कमुदात्त-वचनकृतं, भारतीयवृत्तिप्रधानं प्रख्यातवस्तुनायकम् । यथा— क्रीडा-रसातलम् ।

श्रीगदित—अथ ‘श्रीगदित’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें एक स्त्री का बैठ कर करुण गीत गान रखा जाता है । इसमें एक अङ्क, सुसंस्कृत भाषा तथा भारतीयवृत्ति होती है । इसके नायक और कथावस्तु प्रख्यात होते हैं । जैसे क्रीडारसातल ।

१. केलिरैवतक का उल्लेख सा० ६० (६।३०७) भावप्र० (१० २६०) तथा अलङ्कारसंग्रह (१।१४९) में भी प्राप्य है ।

२. तुलना—सा० ६० (६।१९४, १५) अलं० सं० (१।१५३) ।

भाणिका—

अथ भाणिका । उदात्तनायिका, सूक्ष्मनेपथ्यभूषिता, एकाङ्का, कैशिकी—भारतीवृत्तिप्रधाना मन्दपुरुषा च । यथा—कामदत्ता ।

अस्याः सप्ताङ्गानि । विन्यासः उपन्यासः, विरोधः, अनुवृत्तिः, साध्यसं, समर्पणं संहारश्चेति ।

भाणिका—अथ 'भाणिका' का लक्षण बतलाते हैं । इसमें नायिका कुलजा या उच्चमा होती है । वेशभूषा में उत्कृष्ट वेष एवं वस्त्रों का उपयोग रखा जाता है । एक अङ्ग होता है । कैशिकी तथा भारती वृत्ति की प्रमुखता होती है तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषपात्र कम रहते हैं । जैसे 'कामदत्ता' ।

भाणिका के सात अङ्ग होते हैं । यथा :—(१) विन्यास, (२) उपन्यास, (३) विरोध, (४) अनुवृत्ति, (५) साध्यसं, (६) समर्पण तथा (७) संहार ।

तत्र विन्यासः—

निर्वेदवाक्यं विन्यासः । यथा गृहवाटिकायाम्—

नन्दयन्ती—ता किं मे दोहभागलंकमलनिदिण हृदयरीरेण ।

[तत् किं मे दीर्घाम्यङ्गलंकमलनितेन हृदयरीरेण]

विन्यास—निर्वेदपूर्ण वचनों का कथन 'विन्यास' कहलाता है । जैसे गृहवाटिका में :—

नन्दयन्ती—इस अभाग और मलिन शरीर का अब और उपयोग ही क्या रह गया है ।

उपन्यासः—

प्रसङ्गतः कार्यनिवेदनमुपन्यासः । यथा तत्रैव—

नन्दयन्ती—एसो अबरो अज्जउत्तहिअमसरिसो कण्णिआर-पादवोत्थि । [एषः अपरः आर्यपुत्रहृदयसदृशः कर्णिकारपादपः अस्ति ।]

उपन्यास—[अबसर पाने पर] भाषी कार्य को सहसा कह डालना 'उपन्यास' सम्भूतना चाहिए । जैसे यही—

नन्दयन्ती—यह कनेर का गृध्र आर्यपुत्र के दूसरे हृदय के समान है ।

विरोधः—

भ्रान्तिनिवृत्तिर्विरोधः । यथा अनुतापाङ्गे—

राजा— दर्शनमुखमनुभवतः साक्षादिव तद्गतेन हृदयेन ।

स्मृतिकारणात्त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ इति

(अभि० शाकु० ६।२१)

विरोध—किसी भ्रम का हट जाना ‘विरोध’ समझना चाहिये ।
जैसे शाकुन्तल के अनुताप नामक अङ्क में :—

राजा—ध्यान में मग्न होकर मैं अपने सामने साक्षात् उपस्थित हुई प्रिया के दर्शन का आनन्द ले रहा था पर तुमने उसी की याद दिलाकर फिर से उसे चित्र बना डाला ।

अनुवृत्तिः—

निदर्शनोपन्यासोऽनुवृत्तिः । यथा तत्रैव—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं

चित्रापिंतां पुनरिमां बहु मन्यमानः ।

स्रोतोवहां पथि निकामजलमतीत्य

जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम् ॥ (अभि शा० ६।१६)

अनुवृत्ति—किसी उदाहरण को बतलाते हुए बात करना ‘अनुवृत्ति’ कहलाता है । जैसे यही :—

राजा—हे मित्र, जरा मेरी दशा तो देखो । जब (मेरी) वह (प्रिया) पहिले स्वयं मेरे पास आयी थी तब मैंने उसे लौटा दिया और अब चित्र में लिखित उसी प्रिया पर अपना प्रेम दिया रहा हूँ । यह तो ऐसा ही है कि जैसे किसी भरी हुई नदी को छोड़कर पानी के लिए मृगतृष्णा की ओर कोई मग्न होने लगे ।

साध्वसम्—

अद्भुतस्य साध्वसेन मूढोदाहरणं साध्वसम् । यथा तत्रैव ‘भूतानां चिरनिर्गतापि फलिका बध्नाति न स्वं रजः’ इत्यादि ।

(अभि० शाकु० ६।४)

साधस—किसी अद्भुत या असम्भ्रम घटना को भयवश घटित बनला देना 'साधस' कहलाता है। जैसे वही—

देखो, बहुत पहिले फूटनेवाले आम के बीरों में अभी भी पराग नहीं जम रहा है इत्यादि।

समर्पणम्—

पीडयोपालम्भ समर्पणम् । यथा चन्दनलतागृहे—

मलयवती—मअरं कुसुमाउह, जेण तुमं रूवसोहाए विणिज्जिदो तस्स तए ण किं पि किड । मम उण अणवरद्धाए कथं पहरन्तो ण लज्जसि । [भगवन् कुसुमायुष, येन त्वं रूपसोभया विनिजित तस्य त्वया न किमपि कृणम् । मम पुनरनपराद्धाया कथं प्रहरन् न लज्जसे ।] इति । (नागा० अ० २)

समर्पण—कष्ट में आकर उलाहना देने लगना 'समर्पण' कहलाता है। जैसे चन्दनलता गृह में—

मलयवती—भगवन् स्मर, जिसने तुम्हें अपने सौन्दर्य से पराजित किया उसका तो तुम कुछ भी बिगाड़ते नहीं हो और मुझ निरपराधिनी स्त्री पर प्रहार करते हुए लजाते भी नहीं ?

संहारः—

संहारः प्रसिद्ध एव ।

महार—'संहार' का लक्षण प्रसिद्ध (होने से सभी जान सकते) हैं।

भाणी—

अथ भाणी । एकाद्वा विटविदूषरूपीठमर्दशोभिता शृङ्गार-रसा, स्वल्पचित्रकांया दशलास्याङ्गशोभिता । यथा—वीणावती ।

भाणी—अब 'भाणी' का लक्षण बतलाते हैं। इसमें एक अङ्क होता है, विट, विदूषक और पीठमर्द पात्र होते हैं, शृङ्गाररस होता है, शब्दों द्वारा की थोड़ी मात्रा में संयोजना रहती है और लास्य के दसों अङ्क रंगे जाते हैं। जैसे वीणावती^१ भाणी ।

दुर्मल्लिका—

अथ दुर्मल्लिका । चतुरङ्गा गर्भसन्धिशून्या । यथा—सिन्दुमती ।

अस्यामेकाद्वौ विटविलासमयः । द्वितीयो विदूषकविलासमयः । तृतीयः
पीठमर्दविलासमयः । चतुर्थः नागरविलासमयः । प्रथमस्तु त्रिनाडिकः,
द्वितीयः पञ्चनाडिकः, त्रयोपौ दशनाडिकौ ।

दुर्मल्लिका—अब ‘दुर्मल्लिका’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें चार
अङ्क होते हैं तथा गर्भसन्धि नहीं होती । जैसे विन्दुमती । इसके प्रथम
अङ्क में विट का कार्य प्रदर्शित किया जाता है, दूसरे में विदूषक का
तथा तीसरे में पीठमर्द का । चौथे अङ्क में नायक का नागरक रूप में
किया जाने वाला विहार-विलास (आदि) प्रदर्शित किया जाता है ।
प्रथम अङ्क का समय तीन नाडिका, दूसरे अङ्क का समय दो नाडिका
और शेष तीसरे और चौथे अङ्कों का समय दस नाडिका रखा जाता है ।

प्रेक्षणकम्—

अथ प्रेक्षणकम् । मशेषभापोपशोभितं, शौरसेनीप्रधानं, गर्भ-
विमर्शशून्यं तलक्षणयुक्तञ्च सर्ववृत्तिनिष्पन्नम् । प्रतिमुखसन्धिप्रवेशक-
विष्कम्भका अत्र न कर्तव्याः । परिवर्तकयुक्तं प्रयत्नतः कार्यम्
नियुद्धसंफेद्युतं, विपदनुचिन्ताबहुलञ्च । अत्र तु सूत्रधारो न विधेयः ।
नान्दी उपक्षेपश्च विधेयः । यथा—वालिवधः ।

प्रेक्षणकम्—अब ‘प्रेक्षणक’ का लक्षण बतलाते हैं । इसमें सभी
भाषाओं का प्रयोग किया जाता है तथा शौरसेनी की प्रमुखता होती
है । गर्भ और विमर्श सन्धियों नहीं होतीं पर उनके कार्यों के अंश रहते
हैं । सभी वृत्तियाँ रहती हैं । इसमें प्रतिमुख सन्धि, प्रवेशक तथा
विष्कम्भक नहीं होते पर पूर्वरङ्ग के एक अङ्क ‘परिवर्तक’ को सावधानी-
पूर्वक रखा जाता है । इसमें बाह्ययुद्ध, क्रोधपूर्णसम्भाषण तथा भावी
विपत्ति की आशङ्काओं का प्रदर्शन रखा जाता है । इसमें सूत्रधार को
नहीं रखा जाता परन्तु नान्दी और उपक्षेप की योजना की जाती है । जैसे
वालिवध^१ ।

१. तुटना—मा० द० (१।३०४), भावप्र० (पृ० २६७) तथा
अलङ्कारसं० (१।१५) । भावप्रकाशन में तीसरे चौथे अङ्क की सात नाडिकाएँ
तथा साहित्यदर्पण और अलङ्कारसंग्रह में तीसरे और चौथे अङ्क की छ,
नाडिकाएँ मानी गई हैं ।

२. वालिवध प्रेक्षणक का उल्लेख मा० प्र० (पृ० २६३) तथा अलं० सं०
(१।१२५) में भी मिलता है ।

सट्टकम्—

अथ सट्टकम् । तच्च नाटिकाप्रतिरूपक, कैशिकीभारतीप्रधानं, रौद्रवीरभयानकवीभत्समवमर्शसन्धिशून्यम् । यथा—कर्पूरमञ्जरी । अन्तर्यवनिकान्तम् । यथाह्ये यवनिकयाऽवच्छेदा भवन्ति तथात्रापि । शौरसेनीप्राच्यामहाराष्ट्रीयुक्तम् । स्त्रीवद् राज्ञोऽपि प्राकृतपाठः कार्यात् संस्कृतपाठः । तत्र रूपकमेवेदं कार्यमिति राज्ञापि प्राकृतपाठः कर्तव्यः ।

सट्टक—अब हम 'सट्टक' का लक्षण बतलाते हैं । इसका स्वरूप नाटिका के अनुकरण पर निर्मित किया जाता है । इसमें कैशिकी तथा भारती वृत्ति की प्रधानता रहती है । इसमें रौद्र, वीर तथा भयानक रस होते हैं तथा अवमर्श सन्धि नहीं होती । जैसे—कर्पूरमञ्जरी । यवनिका के द्वारा मध्यन्तर होते हैं । ये मध्यन्तर अङ्क के समान होते हैं अर्थात् अङ्क के द्वारा किये जानेवाले कार्यों को यवनिका के द्वारा सम्पन्न किया जाता है । इसकी भाषा शौरसेनी, प्राच्या या महाराष्ट्री प्राकृत होती है । इसका नायक राजा होता है और स्त्री पात्र के समान प्राकृत भाषा का (ही) व्यवहार करता है तथा (यद्यपि बादरायण आचार्य के अनुसार) कार्यवश मन्कृत भाषा का भी व्यवहार किया जा सकता है फिर भी रूपक के स्वरूप की प्रमुख भाषागत इसी विशेषता के कारण राजा को प्राकृतभाषी ही रखना अधिक अच्छा है ।

रासकम्—

अथ रासकम् । मुख्यनायिकम्, सकलभाषाविभाषारोमितम्, उदात्तनायकं, पञ्चपात्रप्रयोज्यमनेककलोपदेष्टवार्तामण्डितं, मनुष्योदात्तभावम्पितमुत्तरोत्तरप्रधानमेकाङ्क सूत्रधारपरिहीणं धीव्यग्रयुक्तम् । यथा—मदनिकाकामुकम् ।

रासक—अब हम 'रासक' का लक्षण बतलाते हैं । इसमें नायिका प्रमुख एवं प्रसिद्ध होती है, सभी भाषाओं का व्यवहार रखा जाता है, धीरोदात्त

१. सट्टक की नाटिका से अतिरिक्त विशेषता यही है कि यह प्राकृत भाषा में होता है । 'सट्टक प्राकृतोपमायम्' । इसी विभेदक स्वरूप के कारण हमें मारे पात्रों की भाषा प्राकृत ही रखनी होती है, अतः नायक के राजा होने पर भी उसकी भाषा मन्कृत नहीं रहती तथा इसके मारे सम्भाषण प्राकृत भाषा में ही होते हैं ।

‘नायक’ होता है, पाँच पात्र होते हैं, अनेक कलाओं की शिक्षा तथा सूचनाओं के देने वाले सम्भाषण रखे जाते हैं, कोमल और उदात्त भावों की योजना रहती है, संवादों में उत्तरोत्तर चढ़ाव या जोड़-तोड़ का संयोजन रहता है, एक अङ्क होता है तथा सूत्रधार नहीं होता। इसमें वीथी के सभी अङ्गों की योजना भी की जाती है। जैसे—मदनिका कामुक।

नाट्यरासकम्—

अथ नाट्यरासकम्। बहुताललयात्मकं, हासशृङ्गारमण्डितम्, एकाङ्कं, दशलास्याङ्गभूषितम्, उदात्तनायकपीठमर्दोपनायक वासकसज्जानायिकम्। यथा—विलासवती।

नाट्यरासक—अब हम ‘नाट्यरासक’ का लक्षण बतलाते हैं। इसमें लय सात से निबद्ध सङ्गीत की प्रचुरता होती है, हास्य और शृङ्गाररस होते हैं, एक अङ्क होता है तथा लास्य के दसों अङ्गों की योजना की जाती है। इसका नायक (धीर) उदात्त, उपनायक पीठमर्द तथा वासकसज्जानायिका होती है। जैसे—‘विलासवती’।

उल्लाप्यकम्—

अथोल्लाप्यकम्। गीतमयं व्यङ्ग्यम्। अस्य लक्षणम्—उदारनायक-मूर्ज्वल्लरेषात्मकं, बहुपुस्तमधानं, दिव्यचरितं, शिल्पकाङ्गभूषित हास्य-कारुण्यशृङ्गारपूरितम्।

यथा—देवीमहादेवम्। इति।

उल्लाप्यक (या उल्लाप्यक)—अब हम ‘उल्लाप्यक’ का लक्षण बतलाते हैं। इसकी रचना गीति परामयी होती है, सङ्गीत की प्रचुरता रखी जाती

१. रासक का नायक मुख्य या उदात्त रहना चाहिये। भा० प्र० तथा अलङ्कारसंग्रह ने भी यही माना है। सम्भवतः लिपि प्रमाद के कारण ‘मुरप-नायकम्’ शब्द ‘मूर्ज्वल्लरेषात्मकम्’ होकर साहित्यदर्पण की प्रतियों में पहुँच गया प्रतीत होता है। वास्तव में रासक का नायक उदात्त ही होता है। अतः इस उपरूपक का दर्शगानुमोदित मूर्त नायक कथमपि उपयुक्त नहीं।

२. तुलना—मा० २० (६।२०९, २८०) तथा अलङ्कार सं० (५।१६१)।

२० ना० ल०

हैं तथा तीन अङ्ग^१ होते हैं। इसका नायक उदार (उदार ?) प्रकृति का होता है और उसकी वेशभूषा भद्र (भद्र ?) कीली रखी जाती है। इसमें अनेक पुस्तकर्म (मुखोटे तथा और पलस्तर से तैयार वस्तुओं) का उपयोग किया जाता है, दिव्य पात्रों का कार्य प्रदर्शित किया जाता है तथा शिल्पक के अङ्गों की संयोजना की जाती है। इसमें हास्य, शृङ्गार तथा करुण रस होते हैं। जैसे—देवीमहादेव^२।

इह हि भरतमुख्याचार्यशास्त्राम्युराशेः

अमृतमिव रसाढ्यं लक्षणं नाटकस्य ।

प्रतिष्ठतमपहाय व्यासमुक्त्वा च लक्ष्या-

ण्यधिगमयितुमल्पज्ञानमल्पश्रमेण ॥ ३७० ॥

यह भरत आदि प्रमुख नाट्यचार्यों के सिद्धान्तरूपी समुद्र से निकला हुआ नाटक आदि के लक्षण बतलाने वाला अमृततुल्य रस-शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें लक्ष्य का ज्ञान करवाने के लिए बिना विस्तार के उदाहरणपूर्वक विषय का विवरण दिया गया है, जिससे अल्पज्ञान रखनेवाले भी थोड़े से परिश्रम से इसका ज्ञान कर लें।

श्रीसागरेण

मुकुटेश्वरनन्दिवंश-

व्योमाङ्गनैकशशिनाल्पघियां हिताय ।

सृष्टो

मुनिप्रवचनैरिह

नाटकस्य

बीजादिनैकविध-लक्षणरत्नकोशः

॥ ३७१ ॥

श्रीमुकुटेश्वर नन्दी के घश में आकाश में विद्यमान चन्द्र के समान स्थित श्रीसागर ने इस रत्नकोश का निर्माण किया जिसमें नाटकीय लक्षण, बीज आदि का आचार्यों के प्रवचन के अनुसार विवरण दिया गया है जो अल्प बुद्धिवालों के लिए ही निर्मित किया गया है।

श्रीहर्ष-विक्रमनराधिप-मातृगुप्त-

मर्गाश्मकुट-नरकुट्टक-वादराणाम् ।

१. तीन अङ्ग—अर्थात् नृत्य, गीत और वाद्य। इसका नाम ही सङ्गीतमयी रचना को सूचित करता है। उल्लोप्यक को मार्ग के मान भेदों में (ही) भरत मुनि ने माना है। यह एकान्त होता है। साहित्य दर्पण ने इसे अन्य मत से तीन अङ्गों का भी माना है जिसकी पुष्टि किन्हीं आचार्यों से नहीं होती।

२. तुलना—सा० ६० (६।२८३), भाष्यप्रका० (५० २९६)।

एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य

घुटं मया समनुगच्छत रत्नकोशम् ॥ ३७२ ॥

समाप्तश्चायं नाटकलक्षणरत्नकोशः कवेः श्रीसागरनन्दिनः ।



इस ग्रन्थ में मैंने भरतमुनि के मत को ठीक से रखने के साथ साथ श्रीहर्ष,^१ विक्रमराज,^२ मातङ्ग,^३ गार्ग, अरमकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादर (बादरायण) नामक आचार्यों के मतों को भी बतलाया है । अतएव सभी सज्जनजन इस रत्नकोश का (नाटकीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए) अनुसरण करते रहें ।

श्रीसागरनन्दी के द्वारा निर्मित नाटकलक्षणरत्नकोश
नामक यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ ।



१. श्रीहर्ष नाट्यशास्त्र के वार्तिककार थे । अभिनवगुप्तपाद ने ‘हर्ष-वार्तिकम्’ को अपनी अभिनवभारती व्याख्या में उद्धृत किया है । इससे स्पष्ट है कि उस ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखता था । सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है ।

२. विक्रमराज या विक्रम—हमीर के सङ्गीतसङ्ग्रहहार तथा सङ्गीत-मकरन्द में विक्रम को नाट्यशास्त्र का लेखक माना है । (६० Journal of the Music Academy Madras IV पृ० २०) । रङ्गनाथ की विक्रमोर्वशीय टीका से विदित होता है कि विक्रमराज या साहसाङ्ग ने नाट्यशास्त्र पर एक टीका भी लिखी थी (६० रङ्गनाथटीका नि० सा० संस्क० पृ० ३१) । विक्रम के किसी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ या टीका की कोई प्रति या उनसे उद्धरण भी सम्प्रति प्राप्य नहीं है ।

३. गार्ग का उल्लेख रत्नकोश में ही प्राप्य है । बदर को बादरायण समझना चाहिये । बादरायण के अनेक उद्धरण नाट्यसङ्गीत ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं । रत्नकोशकार ने भी इनके मत को तीन बार उद्धृत किया है । अरमकुट्ट और नखकुट्ट भी नाट्यशास्त्र के ज्ञात आचार्य हैं तथा इनके भी उद्धरण ही प्राप्त होते हैं और इनकी कोई आजतक कृति प्राप्त नहीं हुई ।

परिशिष्ट

(१)

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत ग्रन्थकारों की सूची

- अन्ये—४, १६, १९, २१, २३, ३१, ३३, ७८, ९२, १०८, १३०, १३३, १३६,
१६६, १६७, १९३, २७८
- अरनकुट्ट—१०, ४५, २६३, ३०७
- कात्यायन—१४७
- काव्यमीमांसा (राजशेखर)—१३९,
- काव्यादर्श (दण्डी)—१३२, १४७, १४८, १४९
- कोदण्ड—१०७
- गर्ग—३०७
- चारायण—३७
- नलकुट्ट—२६२
- नागरत्नर्वत्स (पद्मिनी)—२४७, २४८, २४९, २५०, २५२, २५३, २५४, २५५,
२५६, २५९
- पितामह—३,
- घादर—३०७
- बादरायण—१०९, २६२, ३०७
- भरत—५, १३, १४, १५, २०, २१, २२, ३२, ३४, ५३, ६१, ७८, ९१, १११,
११६, १२८, १३८, १३९, १४६, १४९, २६०, २६३, २६५
- मातृगुप्त—७, १२, ३२, ४५, ४७, १०२
- राहुल—२४७,
- विष्णु (साहस्रक)—३०७
- शातकणि—११०
- श्रीहर्ष (नाट्यदार्तिककार)—३०७

(२)

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यरचनाओं की अनुक्रमणिका

- अभिज्ञानशाकुन्तल—३६, ९७, १२१, १६८, १७३, १७४, २८८, ३०१
- उत्कण्ठितमाघव—(काव्य) २९९
- उत्तर (राम) धरित—१९०
- उदात्तराघव—(मायुराज)—९, २१, ३०, ३३, ९३, ९५, १२७, १७७, १७८, २९५

उर्वशीमर्दन (ईदामृग) — २७०

उषाहरण — (नाटक) २७३

वनकावतीमाधव — (शिल्पक) २८०

कर्पूरमञ्जरी — (सट्टक) ३०३

कलावती — २७५, २८६

कामदत्ता — (भाणिका) ३००

कामदत्तापूर्ति — ८७

कीचकभीम — ९९, १७५, १७६

कुन्दमाला — १७, ४०, १६९, २१३

कुम्भदेखरविजय — (ईदामृग) — २७७

कृष्यादावण — (नाटक) २९४

केलिरत्नक — (हस्तीसक) २९९

क्रीडारसावली — (धीनदित) २९९

प्रामेयी — (नाटिका) — २६१

कुलितराम — (नाटक) ७०, ९७, १७९

जानकीराधव — (नाटक) ११, १२, १३, ४०, ४५, ५७, ६४, ६९, ९९, ७०,

७१, ७२, ७३, ८०, ८३, ८५, ८६, ८९, १०४, १५९,

तापसदासराज — (नाटक-भागुराज) ७३, ७९, १३०, १३५

दूताग्रद — ९९

देवदत्तकृति — (?) २७७

देवीचन्द्रगुप्त — (विज्ञासदेव) (नाटक) — १७५,

देवी महादेव — (उष्णाप्यक) ३०५, ३०६

नरकदध — १०९, १३९

नरकोद्धरण — (दिग्ग) — २६६

नलविजय — ३०,

नागानन्द — (नाटक-हर्ष) १९, २८, ४०, ४२, ७१, ८२, ९४, ९९, १००,

१०३, १२४, १५३, १७०,

पद्मलेखा — (भाण) — २७०

पद्मावती — परिणय — (प्रकरण) २६३, २६४, २७३

पुष्पदूषितक — (प्रकरण) १००, २६३, २६५, २८९

बालचरित — ५५, ६२, ७६,

बिन्दुमती — (दुर्मलिका) ३०२, ३०३

भगवद्भक्त — (ग्रहसन) ११८, २७९

मीमविजय — ५३

मदनमञ्जला — १३४, २७४

मदनिका कामुक — (रासक) ३०४

मायाकापालिक — (सप्ताष्ट) — २८७

माया-मदालसा — (नाटक) २८, ३३, ४९, ७०, ५१, ५२, ५३,

भारीचञ्चितक—८६

मालती—माधव—(प्रकरण) २१, ३९, ४०, ४२, ९६, १६५, १७३, १७९, २९०

मुद्राराक्षस—(नाटक) ४४, ९६,

मृच्छकटिक—(प्रकरण) ३०, ४०, ९७, २६३, २६५, २६७

मेनकानहुप—(तोटक)—२६२

रत्नकोशवृत्ति—१२१

रत्नावली—(नाटिका) ६७, ६८, ७४, ८१, ८४, ८७, ८९, ९४, १२१, १५८,
१६०, १६१, १७३, २६१, २८५, २९७, २९८

रत्नामलकवृत्ति—९५

राघवाभ्युदय—(नाटक) १२, १९, ७९, १०४, १२६, १६९, १३०, १४२, १६४,
१७४, २८५, २९६, २९७, २९८

राधा—(वीथी)—२८६

रामविजय—(नाटक) ६८

रामानन्द—(नाटक) ३९, ४०

रामाभ्युदय—२९६, २९७

रामायण—१३५

रैवतीपरिणय—३३

ललितनागर—(भाण) २७०

बकुलवीथी—(वीथी) २७७

बालिवध—(प्रेषणक) ३०३

बिम्बमोक्षशील—(ओटक) १५१, १७४, २६२

बिद्धशालभञ्जिका—(नाटिका)—२९१

विलासवती—(नाट्यरासक)—३०५

वीणावती—(भाणिका)—३०२

युगोद्धरण—(हिम)—२६६

वेणीसहार—(नाटक) १०, १६, १८ १९, २०, १४, ३९, ४०, ४४, ५६, ५८,
५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६७, ७३, ७४, ७५, ७९, ८१, ८२, ८३,
८४, ८५, ८७, ८९, ९०, ९३, ९७, ९८, ९९, १०२, १०४, १२९, १२८,
१२९, १३५, १५२, १६१, १६३, १७३, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०
२८५, २९२

शम्भानन्द—(समवकार)—२९७

शमिष्ठापरिणय—१२३

शशि-कामदत्ता—३३

शशि-विलास—(प्रहसन)—२७६

शृङ्गारतिलक—(प्रख्यान) २९८

सत्यभामा—(गोष्ठी)—२८७

समुद्रमयन—१३८

स्वप्नवासवदत्त—(नाटक) (भास)—१२२ :

(३)

नाटकलक्षणरत्नकोश में उद्धृत नाट्यरचनाओं के अङ्कों की अकाराद्यनुक्रमणिका

- अटव्यङ्ग—(कृत्याराधन) २९४
 अनुतापाङ्क—(अभिज्ञानशाकुन्तल ६ अङ्क) ३०१
 अनुतापाङ्क (छलितराम) ९७, १७९
 अयोध्याभरत—१६९, २८२
 अश्वत्थामाङ्क (वेणीसंहार ३ अङ्क) ३९, ४३, ७३, ७५, ९८, १९३ १७७, १८०
 उन्मत्तचन्द्रगुप्त—(देवीचन्द्रगुप्त ५ अङ्क) १७५
 उन्मत्तमाधव—(मालतीमाधव-अङ्क ९)
 क्वलीगृह—(रत्नावली अङ्क २) ७१, १६३ २७२, २८३
 कीचकभीम—९९, १७५, १७६
 कीचनाङ्क—१७९
 कुन्माङ्क—(उदात्तराघव-अङ्क ५) ३०, ३३, ९३, १२७, १७७, २९४
 कुलप-पङ्क—(उदात्तराघव-अङ्क २) ९, २१, ९४, १७८, २९२
 कैकयी भरत—१६७, १७४
 कौशलाङ्क—८, २९३, २९७
 क्षपणककापालिक—(रामानन्द-त्रिष्कम्भक) २९५
 गृहवाटिका—गृहवृक्षवाटिका (या वृक्षवाटिका) (पुष्पदूषिक अङ्क-१) १७०, २८८, २८९, ३००
 गौरीगृह—(नागानन्द-अङ्क १) ४२, १५२, १७०, २७१
 चन्द्रमलतागृह—(नागानन्द-अङ्क २) ९९, ३०२
 चित्रशालिका—९४, २६७
 पूढामणि—(नागानन्द-अङ्क ५) ८२, ८४, ८७
 चैत्रावरणपङ्क—(रत्नावली-अङ्क १) २९३
 धीर्यविवाहाङ्क—(मालतीमाधव-अङ्क ६) २७२, २७३
 जानकीसहाराङ्क—१९,
 तमालवीभ्यङ्क—(नागानन्द-अङ्क ३) १००,
 दशरथाङ्क—१०१, १७५
 दुर्दिनाङ्क—(मृच्छकटिक-अङ्क ५) २७२
 धृतराष्ट्राङ्क—(वेणीसंहार-अङ्क ५) २९२
 नन्दयतीसंहार—(पुष्पदूषिक-प्रकरण-अङ्क १), २९१
 नागवर्माङ्क—३८,
 पल्लिपङ्क—(रत्नावली अङ्क ४) २६७,
 पुस्यनाङ्क—(छलितराम) ७०, १६७,
 प्रतिशर्माङ्क—(वेणीसंहार-अङ्क १) २८, ९३, ९७, १२३, १७९, २८१
 प्रथानाङ्क—१६८,

- प्रावृद्ध—(३०), २८९, २९६
 वृहदकुलवीथिका—(मालतीमाधव-अङ्क १) २८६
 भानुमत्यङ्क—(वेणीसंहार-अङ्क २) २८, ६४, ६७, १६१, १७८
 मदन्यन्ती(नन्दयन्ती?)सहार—२७५, २९१
 मायालघुमण्ड—८७, १६९,
 मायाशकुन्ताङ्क—२९४
 मालतीपरिणय—२६४
 मोटकाङ्क—(मृच्छकटिक-अङ्क ८) २९६, २९७
 लामकायनाङ्क—९७, २६७,
 छावणकदाहाङ्क—१३०, १३५,
 मध्यशिला (नागानन्द-अङ्क ४)—९४, २६७
 विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्क—१७७,
 द्वाकस्यङ्क—३५, ४०, ९७, १७२,
 रमशानाङ्क—(मालतीमाधव-अङ्क ५)
 सङ्केताङ्क—(रत्नावली-अङ्क ३) १६०
 सगपायङ्क—७५, ७६, ७७, १६५,
 सहाराङ्क—(जानकीरायव) १९
 (नागानन्द) ८२
 (पुष्पवृषितक) २९१
 (वेणीसंहार अङ्क ६) ८७, ८९, ९०
 सीतानिर्वास—(सुन्दमाला अङ्क १) १६२, २९३
 सुग्रीवाङ्क—९, ४०, ९६, १५९,
 सुन्दराङ्क—२८, १७६
 ज्येष्ठवाङ्क (राघवाभ्युदय)—१७६



नाटकलक्षणरत्नकोशस्थकारिकाणामनुक्रमणिका ।

कारिका	पृष्ठे	कारिका	पृष्ठे
अ		अर्थोपदेष्टव्यं यत्	१०३
अङ्गाव रोऽङ्गमुख	४१	अलङ्कारैर्गुणैश्चैव	१४९
अङ्गानि सालङ्कृति	१०१	अवकाशगतं वाक्यं	२१९
अगणितगुणौघसिन्धु	१	अवस्था या तु शोकस्य	२८
अघोरभैरवाचार्यं	२१४	अविकृतभाषाचारं	२१४
अतिशेहस्यनिश्चयन्दाश्च	२२०	अविज्ञातस्य तरवार्यं	१५२
अदीर्घं काममापद्य	२२५	अश्रुनि आसवेवर्ण्यं	१८४
अदृष्टाधुतसम्प्राप्तौ	२१४	असूचितस्य पात्रस्य	३४
अद्भुतो विस्मयस्थायी	१९०	अस्थानहसितं यच्च	१८५
अतुरागपयोरानि	२०८	अस्य भार्या शशिकला	२१३
अनुष्ठान प्रयोगस्य	२०९	अस्यैव कीर्यते भार्या	२११
अन्त पटीनिविष्टैर्यत्	४५	अस्यैव खलु वास्येषु	२१६
अन्त पटीमप्यगतैः	४३	अहरहरनुरागात्	२४१
अन्तर्नैपत्यमाप्नोति	१२०	आ	
अन्तर्यमनिकामाहु	२११	आदिष्य सन्ध्याजमति	१९१
अन्यैश्चाप्यवलोकेऽपि	२२०	आद्येप शुचितात्याग	१८७
अन्यदन्यच्च वदतो	२८५	आख्यामिति वृत्तं स्यात्	२१०
अन्यश्चिन्तयतभ्रान्त्यत्	१६०	आभिमुख्ये प्रविष्टाभि	२१०
अपजारितकं तच्च	२१८	आर्यक पालकरथेति	२१३
अपहमारश्च मोहश्च	१८९	आर्यपुत्र च जीवेश	२१७
अपरोपगमारम्भ	२२७	आयुक्कश्च पिता तात	२१२
अपि शत्रवेत् विद्वद्भि	४	आद्ये सर्वदा पशु	२२७
अभिज्ञयो व्यञ्जकं सार	२१९	आसां भेदचतुष्टये	१३९
अभिनेद स च	१८७	आज्ञापयति राजेश	२२५
अभिप्रेतार्थसम्पत्ति	४८	इ	
अमृतपूर्वो यो ह्यर्थ	१५३	इतिवृत्तं द्विधा	२४
अभ्यर्धितोपगमितै	२२५	इतिवृत्तं द्वि नाट्यस्य	२३
अपि-अङ्ग-ननुप्रायो	२१५	इति मरणमनङ्गवर्ति	२३८
अर्थप्रवृत्तय पञ्च	१९	इष्टनाशधनापाय	१८९
अर्थान्तरस्य कथने	१९४	इष्टस्यैव सहर्षात्	२०५
अर्थानां सम्प्रधारण	५९	इष्टार्थसाधनं योज	१९
अर्थवृत्तिः प्रसिद्धिश्च	१४४	इह हि भरतमुख्या	२०४

कारिका	शृङ्ख	कारिका	पृष्ठे
ई		कालोत्थानगतिरस	३५
ईपद्विकक्षितैरगणैः	१८५	काव्यं गोपुच्छाग्रं	९१
ईर्ष्यान्धैशोपशमनं	८७	काव्यशोभाकरान् धर्मान्	१४७
ईःस्तुतः प्रीतिविषये	२१६	काव्यार्थस्य स्मरुपतिः	५६
उ		कालकृत्यं यदाश्रित्य	१२३
उक्तमन्यार्थमन्येन	२८४	किञ्चिन्मात्रं समुद्दिष्टं	१५
उग्रतामपररोमाञ्च	१८७	कुतूहलान्तरादायी	६२
उग्रताज्ञा गृहीतव्या	२१४	कुतोऽपि स्वेच्छया प्राप्ताः	९८
उच्चैर्भस्वसम्बाध	१८८	कुमुदोदरकुटीं शून्यां	२२४
उत्तमप्रकृतिप्राध	१८३	क्रोधप्रसादशोका	२८
उत्तमप्रकृतिर्बहिः	१८७	ग	
उत्तमा संस्कृतं नित्यं	२०८	गर्भनिर्मिन्नदीपार्थो	७८
उत्तरोत्तरसम्भूतं	२८२	गुणनिर्वर्णनं यत्तु	५२
उत्पादितकथायोगे	२१३	गुणप्रमिधानैर्विविधैः	१५५
उत्पुच्छनासिकं	१८५	गूढार्थं प्ररममिच्छन्ति	२७२
उन्नेद स्तरस्य धीमस्य	७१	गृहीतं यन्मनां यत्	११४
उन्मत्तैव प्रमत्तैव	२२६	च	
उद्बुधेषु परिकरः	५६	चतुर्थस्यैकलोपे	४६
उपवर्तमानं प्रीडा	१४	चित्तं एव वसन्त्यस्याः	२४६
उभयोः प्रीतिजननौ	१६१	चित्रवार्त्तस्य स्वकाव्योत्थे	११६
उभयोः पाठ्यमभूत्	३	चेद्वामनरक्षामि	२०८
ए		चौरा द्यूतकरा भिन्निप	२१४
एकदिवसप्रवृत्त	३१	छ-ज	
एकमधिकृतं विन्यात्	२३	छलं स्याद् वाच्यमन्यार्थं	२८२
एकौनप्रकाशदमी हि	२०७	छगुप्ता स्याद्विभावो यो	१८९
एत एव वणिक्थेष्टि	२०८	क्षेया द्यनुक्तसिद्धिश्च	१४६
एतास्त्वेव च निर्यातं	१३८	ज्येष्ठो भ्राता भवेदार्थः	२१२
एवं भान्दी विघातव्या	११२	त	
एषा तु यस्य येनार्यो	२४	तं सर्वाङ्गाभिमेदाद्यै	१८८
औ		तद्गतावेगशङ्काया	१८८
ओजस्तमासभूयस्त्वं	१४८	तद्भारसेऽत्र वर्षे	१३
क		तद्विवापत्यविहिते	२१३
कर्त्तव्या दत्तनामानः	२१३	तद्विप्यति परिन्यास	५८
कवीनां गुणवत्कथ्यं	२	तन्मन्यः सद्भावसीन्दर्य	२२०
कण्ठग्रहं न यात्येव	२२६	तस्मिन् रक्षाद् बहिर्भूते	२०९
कारणात् फलयोगस्य	२४	तस्य दन्तोष्टमन्दस्य	१८७
		सादनैः पीडनैश्चेद्दे	१८७

कारिका	पृष्ठे	कारिका	पृष्ठे
ताण्डव नाम पुरयै	२३९	नान्दीपदान्तरेष्वेव	११२
तेषां भार्या महादेवी	२१२	नानाविधानयुक्तो	२५
तोटक तद्धि विज्ञेय	२६२	नानाविभूतिसयुत	५
त्रयोऽप्यङ्गा कर्तव्या	२७०	नाममात्रसमुद्दिष्टा	१०७
त्रासायासकृतोद्देश	१८८	नासाप्रच्छादनाव्यक्त	१८९
त्रासाऽमर्ष प्रयोधश्च	१९३	नाद्वेतुक प्रवेशोऽद्वे	३१
द		नाश कारणवैजुष्यं	४८
दत्तदासभवे सर्वे	२१४	निरवद्यस्य वाक्यस्य	१५४
दन्तलोचनविस्तार	१९०	निबद्धग्लानिशृङ्गाश्च	१९३
दानमभ्युपपत्तिश्च	१४२	नृपतानां यच्चरित	५
दिष्टं तथोपदिष्टञ्च	१४६	नृपोऽपि कार्यत कोऽपि	२०८
दिव्यम्रातृपदयोग	२६२	भोक्तृमपुरुषै राचरित	३४
दिव्यामानुपमयोगो	२६४		
दिव्ये दिव्याश्रयो भूत्वा	११५	प	
दुर्गा-पद्मयताग्निष्टे	१८९	पद्म पद्म चतु षष्ठि	१८१
दूतोपधी तथा स्वप्न	९२	पशु शय्यावराकृति	२९७
दृष्टैर्नैकेन रूपेण	१९७	पद्मि स्वगतार्थानि	२७७
देवताना मनुष्याणां	५	परदोषे विचित्रार्थे	१६८
देवार्चनोत्सव स्वप्नो	२०८	परापचादे पर्यै	१३१
दे य वैवर्ण्यमालस्य	१८६	परिमृग्यादय शब्दा	२१७
दृष्ट्वावयव मिश्रित्	१५३	परिसह गृह्य शास्त्रार्थ	१५९
द्विधा रूपकमेतत्	२९५	पारितोषिकमिरयाहु	२१९
द्वयार्थता यत्र चावमाना	२८५	पुस्तकुरयवमोदि	२१९
द्वयार्था वचनविन्यास	१०४	पूर्णसन्धि शु तत्कार्य	४५
ध-न		पूर्वहो भवेत् तेषां	९०९
धर्मादिसाधन नाट्य	३	पूर्वप्रयोगमुद्घाट्य	१२३
नदी विदूषको धारि	११९	पूर्वसदृचितान्तर्यान्	१४४
न तच्छास्त्र न तच्छिष्टश्च	४	प्रकरणनाटकभेदा	२६०
न युत्तरपदा वाच्या	२१४	प्रकाशरूपक सत्य	२४६
न महाजनपरिवार	३९	प्रकीर्णस्यार्थजातस्य	७८
नवसप्तमसम्भोगो	१३४	प्रख्यानवस्तुविषय	२६६
न क्षेप्तसाध्यप्रणया	२२५	प्रत्यक्षानुवादो	२८३
नमोऽस्तु सर्वदेवभ्यो	११३	प्रमातृमपि बालस्य	२०७
नाटक कैर्गुणै स्थाप्यम्	१२३	प्रयुज्य रहान् निष्पामेत्	११५
नाटक दिविनिष्पत्तिफल	२१०	प्रयोजनानां विष्टेदे	१८
नाटकादिषु रूपेषु	१०९	प्रयोगे तु प्रयोग	१२२
नाटकादिषु धीर्यन्ते	२०९	प्ररोचना च	८५

कारिका	पृष्ठे	कारिका	पृष्ठे
प्रशस्तिर्वर्मा महाराज	१११	मुन्यधीनार्थसदृश	११५
प्रसाद्य रत्न	११५	मुत्पार्थस्योपगमन	६०
प्रसन्नादेनैव शेषोऽर्थ	१६९	मौढ्यविश्वासघातस्य	२२०
प्रस्तुतस्यैव काव्यस्य	१०८	य	
प्राकृते हा धिगियये	२१६	यत्प्रयोजनसामर्थ्यात्	१५१
प्राप्तिरप्यभिप्रायश्च	१४६	यत् प्रसन्नेन मनसा	१३०
प्राप्तिरूपो यथा वीर	७२	यत्तु वाच्यं प्रपञ्चन	२७९
प्राप्तेषु शृङ्गाररसाग्रयेषु	२५६	यत्र कविरात्मबुद्ध्या	२६३
प्रारम्भो रावणश्च	१२	यत्र भावरसोपेन	१६६
प्रार्थनाविषयीत्सुक्य	४७	यत्र संकीर्तयेद्दोष	१६३
प्रासङ्गिके परार्थत्वात्	७७	यत्र तुल्यार्थपुङ्गेन	१५१
प्रिय नवे सागसि	२२९	यत्र रजितसमुत्पत्ति	५४
प्रेक्षाकर्तुर्महाश्चापि	१११	यत्रान्यस्मिन् श्रित्यमाने	१००
फ-य		यत्रान्यस्मिन् समावेश्य	२७८
फलजानिगुणाचारै	२१४	यत्रार्थानां प्रमिद्धानां	१५२
फल प्रकल्प्यते वरदा	२१	यत्रान्येन प्रयुक्तं तु	१४५
बहुधा वार्यमाणापि	१६६	यत्रान्वेषणमर्थानां	१६५
बहुन् गुणान् चिन्तयिष्या	१५६	यत्रार्थं त्वचरे. श्रेये	१४९
बहुना तु प्रधानानां	१५५	यत्रार्थस्य समाप्ति	२५, ३९
बहुना तु प्रयुक्तानां	१५८	यत्रामिलयितं काङ्क्षन्	२८४
बहुभाष्यमप्यर्थ	३९	यत्करलभ्यमानेष्ट	२३८
विमेत्यङ्गापणे	२२५	यथा कुरङ्गकुम्भीर	२१३
वीजस्योद्घाटनं यत्र	६४	यथादेशं यथाकाल	१५९
वीजार्थस्य प्ररोहो य	६३	यथा परीमप्यगतं	४३
ब्रह्मणाभिहितं शक्र	११३	यथारम्भं प्रयत्नश्च	८
ब्रह्मोत्तरं तथेवाप्तु	१११	यथा राजा सह दंष्ट्या	१३४
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या	७१	यथा सन्धि तु कर्तव्या	९१
भ-म		यदसङ्गतञ्चन	२८६
भगवद्वाह राजा तं	२१७	यदर्थं काय धारयन्	३२
भूषणाक्षरसङ्घातो	१४६	यदाधिकारिकं कार्यं	२२
भेदं स्वाम च दानञ्च	१२९	यद् दृष्ट्या चेष्टया वाचा	१६२
भेदसंलितसलापा	२४८	यद्यप्यङ्गानि भूयासि	१०९
भग्नार्थकार्यमङ्गलो	१३०	यद्दृष्टं हि परार्थं स्यात्	२०
महादेवी परिवार	२१४	यद्वाच्यं वाच्यमुत्तमं	१६८
महारमं महाभोग्य	४	यन्निमित्तं गुण दोषा	२८१
मागम्यवन्तिश्च	१३	यस्मिन्नाप्यालवीजस्य	७५
मायाबुद्धकसम्पूर्ण	२६६	या वाक् प्रधाना पुरा	१०६

कारिका	पृष्ठे	कारिका	पृष्ठे
या सात्वतेनेह गुणेन	१२५	वारणोपिजनस्यास्या	२१४
युक्तिवाक्यैरनेकैश्च	१२७	विकृतचेति विज्ञेया	२४६
युद्ध राज्यभक्षो	३७	विचारस्यान्यथाभावः	१६०
ये तेषामपि वासा	१४	वित्तावसविपाद्यै	३३
ये विशन्ति च कार्याथं	२१०	विषयगन्धबद्धेष्वपि	२२५
ये नायका निगदिता	२१	विषदन्तरनिर्माणं	९३
योगक्षेमावहं कर्म	१२९	विभावस्यानुभावस्य	१८२
र		विरोधरचैव विज्ञेयः	६५
रङ्गस्तु नृत्यसंस्थानं	३११	विलास्य परिसर्पञ्च	६५
रङ्गपु पुष्पमकर	२११	विस्पर्धायांभरे रे च	२१५
रङ्गे सम्बोधनाकारे	२१४	वीणावेणुमृदङ्गश्च	३१०
रत्नसूतफलोत्पादक	३२५	वीराद्भुतप्रहसनैरिह	१०६
रत्नसेनोदित वाक्य	२७९	वीराद्भुतरौद्ररसा	१२८
रसान् सर्वानिय वृत्ति	१७३	वेपमानोऽप्युगला	२४४
रामरावणभूमिषु	२१९	वेरयां प्रति सखा राज्ञो	२१२
रामिकाकामिलाङ्गानां	२१४	वैभ्राजनन्दनादीनां	२१३
रावणस्य वधे कार्ये	२३	वैवर्ण्यं वैभ्यमालरयं	१८८
रूपकैश्चैव सर्वेषु	२०७	श	
रूपकैरुपमाभिश्च	१५७	सख्यसमागच्छेष्टाभि	
ल		शान्त स्मृतसमागच्छ	२१५
लक्ष्मणैर्विज्ञेय	१४६	शुभवाद्यपपञ्चार्थ	८८
लतापुष्पक्रियादेश	२१३	शृङ्गारानुगुणो हास्यः	१८२
लग्न साधनसम्पत्ति	४७	शृङ्गारमित्रोद्भासि	१३१
लासको नर्तक प्रोक्तो	२११	शृङ्गारोद्दीपनो यस्तु	२६९
लीला विलासो विविद्धि	२४६	शृङ्गारोद्दीपनो यस्मात्	१३३
लोकै गुणातिरिक्तानां	१६९	शोभा कामितश्च दीप्तिश्च	२२०
लोकेषु दुर्लभ्यमानो	२५९	शोभा विलासो माधुर्यं	१३९
व		शेष प्रसाद समता	१४८
वक्त्रां दधती मार्ग	२१४	स	
वक्ष सातिशय श्लिष्ट	१०२	सङ्कीर्णा एवैते प्रायेण	२५९
वक्षयिषैकमन्योन्य	२१८	सङ्क्षिप्तवस्तुविषयः	१३६
वपत्यक चादुषट्	२१२	सङ्कर्षदाधयाङ्गपि	१२९
वाक्यैरन्यापदिष्टैर्यत्	१४४	संज्ञास्ये कलयोगे तु	८
वाक्यै सातिशयैर्युक्ता	१६५	सङ्क्षेपसाधुसज्जता	२१७
वागद्वयसम्बन्धिनै	१९१	सखीजनस्तन्यवाह्या	२१३
वागद्वयमिनपैरेभि	१९२	सङ्के छीप्रधानावात्	२०९
वाच्यमर्थ परित्यज्य	१६१	साधभेदा भवन्त्येते	१९२

कारिका	पृष्ठे	कारिका	पृष्ठे
स नटो भाव भाष्यात्	२०९	सुकुमारकान्यवन्धा	१३१
समयां वर्णयन्त्येके	२४६	सुकुमारोचिताह्वाना	२१३
समाविमानमायेन्द्र	१९०	सुखदुःखप्रदायिन्य	२२६
समेद्रा कैशिकी यत्र	२१०	सुखदुःखान्वितो योऽर्थः	६२
समाप्तिः सम्यगर्थानां	८५	सुता सङ्कीर्त्यते तेषां	२१२
समाप्यमान एकस्मिन्	४१	सूत्रणं सकलाङ्गानां	४२
समुत्पन्नार्थबाहुव्यं	५७	सूत्रयारः पठेत्तत्र	१११
समुद्गतप्रायगुणा	१३५	सेना लेखा पताका च	७१४
सम्पन्नरूपं यत् कार्यं	७८	सोमसूर्यान्वयभुवो	२१२
सम्प्रधारणमर्थानां	६०	स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः	२०३
सम्प्रधार्य स्वयं पूर्वं	९१८	स्तम्भाशु-स्वेद-रोमाञ्च	१९०
सम्भोगायोग्यकालेषु	२२७	स्त्रीपुंसयोस्तु नमैतत्	१३३
सम्भोगो योग्यता तत्र	४७	स्त्रीप्राया चतुरङ्गा	२९०
सम्भिध्वाणि कदाचित्	९१	स्तोकस्तोक पदारब्धं	२१८
सर्वस्य यन्मनोहारि	१५२	स्यापकस्य प्रवेशो तु	११५
सर्वाधिचेपमारसर्षे	१८७	स्यायिनामेव भावानां	२०७
सर्वान् रसानिय नृतिः	१०७	स्यायीभाको नृतिश्चास्य	१८३
सर्वेण सन्नियोक्तव्यं	२१७	स्मृतिर्गार्वाङ्गि रोमाञ्च	११८
सर्वेषां काव्यानां	९२	स्वगतमारगतञ्चैव	२१७
सहसैवार्थं निष्पत्तिः	१०१	स्वप्नालस्यारहित्या	१८४
सा चाह त महाभाग	२१७	स्वरभेदाशुनिर्वैद्य	१८६
साधकः साधनं साध्य	४८	स्वरूपं कार्यमभिप्रेतं	२१९
साधयामीति गर्पधे	२१६		
साम भेदः प्रदानञ्च	९२	ह	
सालङ्कार तु मादकं	१०१	हण्डे नीचस्तु नीचेषु	२१५
सालीना स्वेषु गात्रेषु	२४४	हरतालादिसामग्री	२०९
सावहित्यैः सविकृतैः	१८४	हा पदं खेदवाचि स्यात्	२१५
साहचर्येण धीजरय	५५	हासेच्छाभयभेदेन	१३३
साहसञ्च भयञ्चैव	९२	हासो रतिश्च शोकश्च	१९२
मिद्धान् यद्वन् प्रधानार्थान्	१५५	ही चित्रे स्मृतमौ ज्ञाने	२१५
सिद्धैरर्थैः समं यत्र	१५०	हृदयस्थस्य भावस्य	१७६



नाटकलक्षणरत्नकोशस्थोदाहरणपद्यानामनुक्रमणिका

अ	पृष्ठे	पृष्ठे
अकर्णद्रोगग्राह्येय	१९६	आचक्षुमीतभसा १३२
अकृताखोऽपि बह्वान्	६०	आलम्बितालकलतापिहितेष्टना २४३
अज्ञाननिद्रायायितो	८२	आलाप स्मितकौमुदी २५८
अज्ञेयावधिमध्यमान	११७	आशङ्कसे यदग्नि १७३
अनसूयाकृतोऽप्यासी	२०६	आरलेने निविडे २५३
अनास्यावस्वनामभिमततराणा	२५४	आसग्य स्वयमेव २५६
अनुयाग्या जनातीत	१५१	आस्तां नाथ भवाक्या २४९
अन्योम्यास्फाटमिच्छ	६३	इ
अपयाम्यामिते मीयथा	१६३	इतो गतोऽमीति न मे २२४
अपराधिन्यपि जने	१४०	इय दर्भश्रेणी २९४
अपाह्नपथिक ऋषु	२२३	इय धीर्वाकृते सिन्धु १४३
अपि भुजलतोत्पेपात्	६६	इय सा सेयमित्येवं २०२
अभ्यर्षता मार्गमत्सी	१९७	इय नाम गता कान्ता १३४
अभोधिवारितरणे	१०८	इहवास्ते सीता ८३
अल भार्गव बालेऽस्मिन्	६९	उ
अलसकलितमुग्ध	६८९	उत्थास्याम्ययमह स्व १९८
अवज्ञानं स्त्रीति	८०	उत्सर्पति स्थिरतडि १६७
अवनिरविराम्यन्त	१२६	उत्साहतिशय वत्स ६२
अवधायामा हत इति	७३	उदद्यति नवामभोदे १९४
अहो विधिर्मे पद	९५	उदेतु गगनम्यापि २८१
अहो दुष्कृतमेतस्य	२२१	उद्धरेन पुन कृत १२८
आ		उद्यममशरीकोटि १४५
आ. किं दोषाम्यह स्त्रीव	१२९	उप प्राकारार्थं प्रहिणु २९१
आकष्योपहृता सीता	१४१	उत्पुष्ककमलकेसर २७१
आश्विन्माघ चपलै	१५३	उष्णश्वासरि रजिताधरदल २४०
आक्षिपन्परविन्दानि	१४९	ऊ-ए
आक्षिप्य मग्नाजमति	१९१	ऊरु करेण परिघट्टन ४४, ८५
आचार्यंय त्रिभुवनगुरो	४३	ऊर्ध्वाध मेरितैकै रपाद् १६५
आज्ञाशु ते त्रिदश	१४२	एतदियेनि वचन १७९
आनङ्गा घटित	२३६	एने चमा वयमपि ४९
आताम्रनामपथग्यविलस	१६१	एव बाहून् निषजे २४८
		एष कृष्णाकषाकर्षी १२६

पृष्ठ	पृष्ठ
पुप मो निहतज्ञाति	१९९
पुप चदाञ्जलिपुरो	८१
पुष्टेहि क शता रात्रि	८
क	८४
कण्टकै पद्मनालैश्च	१५०
कण्टे क एष तव वल्लभ	५२
कण्टे यरोरु विनिवेशय	७९
कयमिव विदधामि	१९५
कटोरगर्भपीडातां	२३७
करकिस्सल्यपृष्ठो	१३२
कलङ्गितगर्भेण	२८१
कस्त्व कृष्णोऽस्मि वर्णं ते	१०३, २२९
कान्ते नाथ कुतोऽस्मि	१५०
काम जनयिता कृष्णो	१५२
काष्ठं तन्मु फलधीणा	२५३
किं कान्त निर्दयमय	२४२
किं चित् रे व्यवसित	२८६
किञ्चिदेहि ददामि	२८५
किं ते रमादिति चिन्तया	२८०
किं त्वं यधिर कुञ्जो वा	१७९
किं दृष्ट्वा युषराज	३८
किं देव्या न विबुम्भित	१५८
कुलपतिरेव न केवल	६३
कुसुमसुकुमारमूर्ति	५१
कृत रावणनाशस्य	२२२
कुत्सनाभरातिनिधना	२५८
कृष्णगामानोऽश्वका	१७४
के दुमस्ते क वा ग्रामे	२७७
कैकेयी जननी न यरय	१५१
कैर्गुणैर्जाटक क्षाभ्यम्	९०
कन्दन्यवाप्पमभये	२४३
क्रोधान्धै सकलं हत	१५४
चण कराहतेनैव	१५४
चत्रिय सम्मतो राजन्	१५४
चात्रधर्मोऽवितैषमै	२९६
चयामलशिखाजाल	७७
रु-ग	
खरादिविहितं घोष	
गच्छन्त्यां निशि नायाति	१९९
गुरुणा बन्धूना दितिपति	८१
गुरोराज्ञा यत्र प्रभवति	८
गोर्कर्णमर्णवतटा	८४
गौरी कान्ता तवाप्यस्ति	१५०
च	
चक्षुर्भुजममिल	५८
चापस्य बन्दयसि	१८१
चिन्ता ततः श्रयति	२३३
चुम्बिते चुम्बितै छिष्टे	२२३
चूताना चिरनिर्गता	३०१
ज	
जहाकाण्डोरुदण्डं	१५८
ज-मे-दोविमले कुले	८३
जयति गजराजबदनो	११८
जयति विहितभूमुद्	२०४
जयति सितविलोल	११८
जात मे परप्रेण भरम	९
जातस्ते दारक कस	२८४
जातस्य द्रुहिणाम्बयात्	१५१
जातोऽन्यत्र च योऽन्यत्र	२८४
जातोऽनेविश्रवस	१६५
जास्या तावद्वचस्योऽसि	१२८
जानकीं हरता मन्ये	७२
जाने त्वमिव सा बाला	१७८
जयता यस्य बृहरपति	९३
त	
तस्ययेयमनङ्गमङ्गल	१७३, १७९
तव सस्युरयं वाणो	५०
तवास्मि गीतरागेण	१२१
तवैष न्यस्यते वाम	१२८
तस्याहिमद्रितय नमन्ति	२५२
तस्यानुमापयति	७५
तस्यास्तद्वृषसौन्दर्य	२८१
ताताज्ञाया स्थितमविकृतं	१९
तापात् तत्पुण्यवृष्टचन्दन	४२
तामुदिरय मृगीरक्षं	१५७

	पृष्ठे		पृष्ठे
तिमिराम्बरधारिण्यो	२८२	निर्वाणवैरदहना	५६, १०२
तीर्णे भीष्ममहोदधौ	७९	नीतां दुर्गमगाध	१६
सुखान्वयेत्यमुगुणेति	१६२	प	
तृष्णापहारी विमलो	१५५	पञ्च वैतक्यम्भव	२३३
ते राक्षसा प्रतिहता	८६	पद्मोदरवृष्टीं शून्यां	२४४
स्वप्नत्पिद्मप्रभाभि	९	पद्मश्रीयविभागोऽथ	१४२
वक्ष्या सह सपाधीर्त	१३०	परिवन्तप्राच्यप्रकृति	२३७
८		पर्यामि शोकविषयो	१७७
दत्ताभय सोऽतिरयो	९८	पाण्डुराशिपुत्रप्रान्ता	२०६
दधर्यानन्दकं देहं	१७१	पादाभ्यामस्वल्दभूमि	१४४
दर्शनमुग्धमनुभवत	३०१	पितृवधे पतिस्वाप्ने	१९८
दद्याधरेव धुन्वाना	१४४	पित्रोर्विधानु शुश्रूषां	१२४
दान्तोऽहं गुरुणा हरेण	२०३	पूगारामोऽसिपुटयो	२२४
दिङ्गु दिङ्गु ममीरयामा	१५९	पूजा नाम्यकृतां विधानु	१८९
दुःशासनकराष्ट्र	१९६	पूर्यन्तां संल्लेखेन	१०
दुःखहजणाशुराभो	६७	प्रश्यह श्रद्धिमायान्ती	२२२
दूमीमागमवरद मा व्रज	२४५	प्रसीद मेनेऽहं	५५
दूरप्रोक्षतकमकर्णविटपी	१०, ८५	प्रागवभ्यं रजनौ प्रात	१२३
दुरयेते तद्धि यावेतो	१००	प्रातः प्रायुद्धमे	२२३
दृष्ट्वा सीनेति जल्पन्त	१९४	प्राप्ते न प्रहरार्थ	२५९
दृष्टिं द्वारि मुहुर्मुहु	२४०	प्राप्ते सागासि वक्ष्ये	२२९
दृष्टे यवीयमि हृदि	२३२	प्रिया सच्चिहितैवेव	९९
देवारानेर्दुहितुरमवव	४९	प्रिये तावच्च नेत्राभ्यां	१२७
दोर्दण्डा क कृताङ्गदा	२९५	प्रीत धृष्टीमवतु	९०, २९८
दृष्टुं तामुत्सुक वज्र	१४४	स-भ	
द्वीपावन्धस्मादधि	१२१	वालाभिलाषमधिगम्य	२६२
ध		प्राज्ञाणां प्रिया वैरया	७१
धम्मिल्ल वद्धमुक्	२५७	भग्नयेन धनु	१३९
धिकचित्तं किं यत्तु तदा	२३५	भग्न देवस्य भीमेन	६४
धिकसानुज कुरपतिम्	१६३	मर्त्ता नवाहमिति	२९२
धिग धिग सुदूरमपमर्ष	२२९	मर्त्तं प्रोषितमर्त्तका	२४३
धनराष्ट्रे समायाति	२०१	मर्त्तं सर्वान्द्रमर्त्त	११५
न		(भव हृदय साधिलाय)	
न कोपे निद्रा वाचो	२२२	भीमो निर्द्रां गतो हग्नि	२००
नाधीत न धुत सार्ध	१३०	भूपति शोभते वेष	१४०
निम्नेन जीवितेनाधि	१७०	भूय परिभवहान्ति	६२
निरय प्राणानिपातात्	८२	भूयणाद्ययोगेन	४४

	पृष्ठे		पृष्ठे
अष्ट पदात् कृतजटा	१८०	राज्यं मुक्तमशयु	७१
अभूङ्गे सहस्रोद्वे	१६३	रामस्य घातितवतो युधि	१८०
म		रामस्य रावणकुलक्षय	५७
मत्प्रभावादय रामो	६४	'रामोऽपि गच्छतु वन'	१०१
मन्तामि कौरवशत	६०	रामोऽयं बलशून्यश्च	६३
मध्ये तव्य तरलित	१५९	रामोऽसौ जगतीह	१६४
मन प्रकृत्यैव चलं	७४	रे चमित्रिया शृणुत मे	४५
मन्यायस्तार्णवाभ	५९	ल	
मन्दारपुष्पैरधिवासिताया	१७४	लक्ष्मणानि समर्थानि	२२०
मम कण्ठगता प्राणाः	१६१	लङ्काधीशप्रमृतिरिपवो	११
मयि किल पुरा दृष्टे	६६	लङ्कासमृद्धिमापन्न	६५, १०४
मात किमप्यसदृशं	१७३, २९२	लङ्केश्वरस्य भवने	१७
मा भैषीर्निधिलाधिराज	७०	लाङ्कागृहानलविषाह	१८
मामनाबोध्य यातोऽमि	२२४	लीलावधूतपद्मा	२८५
मेघा वपन्तु गर्जन्तु	२७२	लौको लोचननन्दनस्य	१७५
मेघोद्गच्छ पुनर्गच्छ	१३३	य	
य		वत्स दग्धा न सीताग्नौ	१९८
यत् स्थेयं धर्मराजस्य	१५५	वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य	१७६
यथा राजा सह देव्या	१३४	वप्यो मे हन्तु मा पार्थ	१२६
यथा रामोऽनहाद् राज्य	१२५	वरमशोकतल्लुङ्खलो वरो	१३२
यत्नैरलम्बमानेष्ट	२३८	वर्धते न पर तन्व्या	२२१
यदादि मे चन्दन	२५७	वार्षीं सृज सुधाररिभं	१५३
यदि हम् गता न ते	१५१	वासवेरमनि सुकविपतितरुपा	२३९
यदच्छासबाद् किमु	१९०	वासोयुगमिद्	१०२
यस्ताडका निहतवान्	७४	विकासि कमल हृष्टा	२०४
यदिमन् वाक्यविरूपक	२५१	विकिर धवलदीर्घा	६७
याति लाघवमर्थीति	१५४	विक्रमन्ते रतौ कान्ते	२२३
सुप्तमहामनलघनाहसि	५८	विचित्ररूपसम्पन्ना	२८६
योगेष्टमावह कर्म	१२९	वितपसुकुमारबाहु	१५७
यो य शस्त्र विमर्शि	१८०	विपचक्षुम्बलानौष्ट	२२४
यो देवै राष्ट्रसपते	१२	विभावनाचक्रवर्च	२२१
र		विमुखेनोपदेशेषु	२७८
रक्तप्रमाधितभुव	२८५	विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि	१२७
रसोदधिरपानस्य	५५	विशलयोस्तमितप्राणं	२०६
रथकारकुले जात कथ	२८०	विश्वामित्रमुनिर्यथा	१२४
रागेकाभिजनोऽधर	१५६	वेणीमन्धकपर्दिनी	२४७
राज्यं जनकराजेन्द्र	७६	वैदेहि देहि कुपिते	२९४

श	पृष्ठे	सम्पत्स्वापन्नसु तुह्यात्मा	पृष्ठे
शक्त्या हत दशास्येन	१९७	सम्प्राप्ते रघुनन्दने	१४१
शङ्क भानुमती कुन्दौ	१९५	सम्भूयेव सुखावि	२९०
शत्रुभिर्वत्सराजस्य	७९	मर्वत्रियाप्युपरति	२३८
शयनमशन यान	२३४	सर्वत्राम्बुमुचो ध्वनन्ति	२८९
शुद्धान्तदुर्लभमिदं	२८८	सह मृत्युगण सवान्धव	१६१
शुधूपस्व गुरुन्	१५९	सा कृष्टा कृशिमानमेति	१६९
शुष्कद्रुमगतो रीति	९७	साक्षात्प्रियामुपगतामप	३०१
शोकाहवी त्वयि निपतिता	५३	सामान्येन वर दत्त	१७५
श्रीसागरेण मुहुटे	३०६	सगिनाया विरहे रामो	३००
श्रीहर्षविक्रम मराधिप	३०६	सुचित्रियासि भवती	२९२
म		सुधावेरम द्वेष्टि	२३५
सरसता पक्षगमत्	९४	सुधा सोदरवाचस्ने	१४०
सबृत्तस्त्वलितो विह्वलित	२३०	सुभूर्यास्यति गोचर	२९२
सखि प्रेयान् स्वामी	२४९	सुलभा सतत राजन्	२८०
सख्य किमन्यदधिक	२३४	सृज येतत् किमाधिक्य	२९०
सङ्घर्षयामि गदया	६०, ६४	सृष्ट तत् काढरूपं	१०९
स निष्ठति सदा धीमान्	१४२	स्वन्धाधितैरु-मणि	२५४
सपत्न्या मधुरगिर	१६	स्फलितनहुल पादन्व्यास	२४८
सत्यममार्तहृद्भाभि	१५९	स्वपिति पुष्टिने शय्याशुभ्र	१६८
सायश्चित्रकर कामो	२२१	स्वर्गोष्ठी यदि तरुताथ	१५२
सग्ताह्य कुसुमैरङ्गना	१३३	ह	
सपरनीनामप्रे शिरमि	१४९	हृदन्तु हृदय नाम	१५७
स पुण्यनग्मा रवयमभ्युपेत्य	२४१	हस्ते कर्णस्य का शक्तिः	१२५, २७९
समाश्वसिहि मे चेत्	१८६	हा कष्ट इतया क्या	२४१



सहायक एवं आधारग्रन्थ सूची

- अनर्घराघव—(नाटक) सुरारि । रुचिपल्लुपाध्यायकृत टीका सहित बम्बई ।
 अभिज्ञानशाकुन्तल—(नाटक) कालिदास । राघवभट्टकृतटीका सहित ।
 अभिनवभारती—अभिनवगुप्तप्रणीत नाट्यशास्त्र व्याख्या (खण्ड १—४) ।
 अमरकोश—टीका सधर्षव त्रिवेन्द्रम् ।
 अलङ्कारसमूह—अमृतानन्द योगी प्रणीत ।
 उत्तररामचरित (नाटक) भवभूति । वीर राघव टीका सहित ।
 काव्यमीमांसा—राजशेखर, चौखम्बा प्रकाशन ।
 काव्यालङ्कार—रुद्रट ।
 काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति—धामन ।
 कुन्दमाला—दिङ्नाग ।
 कुट्टनीमतम्—दामोदर गुप्त ।
 कुन्दोमञ्जरी—गङ्गादास चौखम्बा प्रकाशन ।
 दशरूपक—साबलोक—चौखम्बा प्रकाशन ।
 दशरूपक टीका—बहुरूप मिश्र Ms Nos R
 ध्वन्यालोक—लोचन सहित—चौखम्बा प्रकाशन ।
 नागरसर्वस्व—पद्मधी । जगज्ज्योतिर्मण्डकृत टीका सहित ।
 नागानन्द—चौखम्बा प्रकाशन ।
 नाट्यदर्पण—रामचन्द्रगुणचन्द्र बघौदा ।
 नाट्यशास्त्र—भारतमुनिचौखम्बा संस्करण ।
 वृहद्देशी—मतङ्ग ।
 भगवद्गुरु—(प्रहसन) ।
 भाषप्रकाशन—शारदातनय
 मालतीभाष्य—(प्रकरण) भवभूति । चौखम्बा प्रकाशन ।
 सुदार।चस—विशालदत्त । M R. काले संस्करण ।
 मृच्छकटिकम्—शूद्रक । पृथ्वीधर कृत टीका सहित ।
 पाल्लवखयस्मृति—मिताक्षरासहित । चौखम्बा प्रकाशन ।
 रत्नावली (नाटिका) हर्ष । चौखम्बा प्रकाशन ।
 विक्रमोर्वशीयम् (नाटकम्) कालिदास । रङ्गनाथकृत व्याख्या सहित ।
 विद्वत्शालमञ्जिका—(नाटिका) राजशेखर । नारायणकृत टीका सहित ।
 वेणीसंहार (नाटक) भट्टनारायण । जगद्भट्टकृत टीका सहित ।
 शृङ्गारप्रकाश—भोजदेव ।
 शृङ्गारतिलक—रुद्रभट्ट ।
 सङ्गीतमकरन्द—नारद ।
 संगीतरत्नाकर—शार्ङ्गदेव (१—४ खण्ड)
 साहित्यदर्पण—विश्वनाथ कविराज । चौखम्बा प्रकाशन ।

पत्र पत्रिकाएँ

(१) दशरूपक की बहुरूपमिश्र की व्याख्या पर—

Journal of Oriental Research Madras के VI तथा VII खण्ड ।

(२) Journal of the U P Historical Society XVII F-i-iii

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	३	आगे जोड़िये—	इसके अनतिरिक्त अन्य प्रमेय भी नाटक के संस्कार को ध्यान में रखकर घतलाए जाएंगे।
४	२	के बाद मूल में जोड़िये—	भरताचार्योऽप्येव विध नाट्यविशेषं नाटकप्रस्तौति। भरतमुनि ने भी इसी प्रकार के नाट्यविशेषभूत नाटक की प्रशंसा करते हुए कहा है :-
४	८	उदारवचनान्वितम्।	उदात्तवचनान्वितम्।
७	८	छन्दस्य	छन्दस्यम्।
१०	पङ्क्ति १	के पूर्व जोड़िये—	अत्र सीतोपलब्धिमात्रेण राक्षसानां वधाध्यवसायः।
१०	२	चोन्मीलित	चोन्मूलित
१६	५	मुसमुपपातमुद्धतम्	मुसमुपपन्नमुद्धतम्।
१६	६	सन्दिग्धान्	सन्दिग्ध
१६	२८	भुजगेन्द्रभोगभुवन	भुजगेन्द्रभोगमयनात्
१८	२१	के आगे जोड़िये—	इत्यनेकधा दुर्घोषन निकारपरम्परां दर्शयन् प्रयोजनस्य कुटकुलचयस्यानुबन्धं दर्शयति।
२१	२	सिद्धयति।	मिद्वयति।
२२	२०	आधिकारिक—	आधिकारिक—
२३	१२	विन्यान्	विधात्
२५	२	स रङ्गजातस्य	स च सम्पङ्कजातस्य
२५	८	और अङ्क को रङ्गमय की	और अङ्क को सम्पङ्क की
२५	२६	योऽङ्कशब्दं नोप्यते	योऽङ्कशब्दो नोप्यते
२७	११	सङ्कीर्णका पादचारेषु	सङ्कीर्णका उपचारेषु
२७	१२	राजपत्न्य कुलजा	राजपत्न्य कुलजा
२८	१	किं काव्यम् ?	किं नाट्यम् ?
२८	५	प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते	प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते ॥
२८	२२	कोऽभिनय ?	कोऽभिनय ?
२९	२२	दापो सगं	दापोऽप्यगं
३०	२२	(कन्तु तस्य)	(किन्तु तस्य)
३२	२४	सुग्रीवमर्यादु	सुग्रीवमर्यादु
३४	५	तुमन् सरेषार्थ	तु चमन्त मर्यादार्थ
३६	२७	वृत्तक कहा गया	वृत्तक कहा गया

पृष्ठ	पङ्क्ति	शुद्ध	शुद्ध
४१	२२	समासतो हि नाट्योक्तै	समासतो हि नाट्यज्ञै
४२	४	शृष्टचन्दनरसौ बाहु	शृष्टचन्दनरसौ प्राणदू
४३	१०	अन्तःपटीमध्यगतै	यथाऽपटीमध्यगतै
४४	२३	दुःशासनस्य करकर्पण	दुःशासनस्य कर्चकर्पण
४७	२६	बीज साधनसम्बन्ध	बिन्दु साधनसम्बन्ध
४९	१७	निष्पन्नपट्टाशश्च	निष्पत्तिः पट्टाशश्च
५०	५	तालकेतुना कृतिमिति	तालकेतुना कृतिमिति
५१	२३	ग्रहण कर की है ।	ग्रहण कर ली है ।
५२	१३	या आनन्द का	या आनन्द के
५३	२४	समापनं निर्वाह	समापनं निर्वाह स्पष्ट
५५	९	बाणानां भव राघव	बाणानां तव राघव
५७	१४	धृतिरत्नपारी	धृतिरत्नपात्री
५८	१५	के आगे जोड़िये—	तस्य निष्पत्तिः न्यास
			परिम्यास । यदाह—
५९	७	गुणनिर्वर्णन	गुणनिर्वर्णन
५९	१२	जैसा कि आचार्य ने	जैसा कि आचार्य ने
६०	१५	मुक्तार्थस्योप	मुक्तार्थस्योप
६४	२४	भङ्गमुद्धाटितवान्	भङ्गमुद्धाटितवान्
६७	२२	सरण ण घर	सरण शु घर
६८	६	झोडाविलोभार्थ	झोडाविलोभनार्थ
७१	१९	रामप्रवासने	रामप्रवासने
७६	१८	तत्रैव रावण	यथा तत्रैव रावण
७६	२६	तथा सम्पात्यङ्के	यथा सम्पात्यङ्के
७७	२	कपटामिन्धामे	कपटातिसन्धामे
७९	७	सीतारूपेण रामस्य	सीतारूपेण दर्शयता रामस्य
		जनितः सन्देहः	जनितो सन्देहो
८६	२४	प्रतिहता स्वरदूषणात्मा	प्रतिहता स्वरदूषणाद्या
८७	२५	कद्रुभक्ष्यसारेभिः । [...	कद्रुअ क्षयसारेभिः । [...
		“कृत्वा प्रसारयामि ।]	कृत्वाऽप्रसारयामि]
८८	९	बहिर्गित्तर्जं भोदु	बहिर्गित्तर्जं भोदु
८९	२०	[रत्ना० अ० ६]	[रत्ना० अ० ४]
९१	१९	सहारणीयम् ।	सहारणीयम् ।
९२	२६	मद इति स्मृतम् ॥१०५॥	मद इति स्मृता ॥१०५॥
९६	२५	दानवेन सुरैरिद्धलयितुं	दानवेन सुरैरिद्धलयितुं
९७	२८	कथान्तरेऽनिरूप्यमाणे	कथान्तरे निरूप्यमाणे
९९	२४	चित्रम् आलेख्याभिमतजन	चित्रमालेख्यमभिमतजन
१०३	११	द्वयार्थविभाषं	द्वयार्थविभास

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	१	प्रधाना । सात्विक सात्वत्यां	प्रधाना । घाञ्चिकं भारत्यां सात्विकं सात्वत्यामाद्यायं
१०९	२	सृष्ट तत्क्रीडरूप	सृष्टं तत् क्रीडरूप
१०९	३	व्याहृतेऽपि	व्याहृतेऽपि
१०९	४	माया कृष्ण	पायात् कृष्ण
१०९	२०	नाटकादिरूपेषु	नाटकादिषु रूपेषु
११८	१३	जयसि गजराज	जयति गजराज
१३३	२२	शिलोष्टोऽहं यद् भ्रम	शिलोष्टोऽहं यद्भ्रमं
१३४	४	नायिका आकार	नायिका भा कर
१३६	११	कातितानि ।	क्रीतितानि
१७६	२४	वत्सस्य मे दुर्ललितस्य	वत्सस्य मे प्रकृतदुर्ललितस्य
१८३	३०	(सा० का० ')	(सा० का० ९)
१९१	२५	वागद्वयसत्वाभिनेये	वागद्वयसत्वाभिनेयै
१९३	६	भावास्त्रयाग्रिशत्	भावास्त्रयाग्रिशत्
२०३	२७	सत्त्वश्च मन समाधान	सत्त्वश्च मन समाधान
२०५	१८	कण्टकैः पद्मनालैश्च	कण्टकैः पद्मनालैश्च
२०८	२६	पुतमेव	पुता एव
२०९	४	जातियों की	जातियों के
२०९	१८	उपकरण	उपकरण
२०९	२०	अङ्गों के आरम्भ में	नाटकीय अङ्गों के आरम्भ में
२१३	२२	विधातव्ययव प्रयोक्तुमि ॥	विधातव्या प्रयोक्तुमि ॥
२१५	२३	अपये धिक् या प्रयाहि	अपेहि धिक् या प्रयाहि
२१६	१८	ओ. पदम् ।	ओ पदम् ।
२२२	९	अपनी समान गौरवर्ण	समान अपनी गौरवर्ण
२४५	५	लुभाकर अपने	लुभाकर उन्हें अपने
२६४	१०	पद्मावतीपरिणय का	पद्मावती परिणय या
२६७	१७	कामशृङ्गारोऽर्थशृङ्गारश्चेति	कामशृङ्गारोऽर्थशृङ्गारश्चेति
२६७	१८	आरम्भहितहेतुधर्मप्रापको तत्र ।	अरम्भहितहेतुधर्मप्रापको धर्मशृङ्गार । तत्र
२६७	१९	सोन्माद' धर्मशृङ्गारः ।	सोन्माद, कामशृङ्गार.
२७५	१६	करती हुए	करते हुए
२७७	१८	[७] मृद	[७] मृदव
२८५	२२	सद्वदेव—प्रेम से	भीम—प्रेम से
३०६	१०	मत्पञ्चाननमञ्जुप्रमेण	मत्पञ्चाननमञ्जुप्रमेण